सत्साहित्य-प्रकाशन

गांधीवादी संयोजन के सिद्धान्त

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद की भूमिकासहित

●

लेखक
श्रीमन्नारायण

अनुवादक
वैजनाथ महोदय

●

१९६१
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशकीय

इस पुस्तक को पाठको के सामने रखते हुए हमे बडी प्रसन्नता है। गाधी-साहित्य की यह एक अनमोल कृति है। इसमे गाधीजी की कल्पना के भारत का बहुत ही विशद चित्र दिया गया है। गाधीजी इस देश मे रामराज्य की स्थापना करना चाहते थे। उस व्यवस्था के सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक पहलुओ पर उन्होने स्वय बहुत-कुछ लिखा है। उस सबका सार और उसका विवेचन पाठको को इस पुस्तक मे मिलेगा।

पुस्तक की सामग्री छ खण्डो मे विभाजित की गई है। पहले खण्ड मे 'भारत के आर्थिक विकास की गाधीवादी सयोजना' है, जिसे लेखक ने सन् १९४४ मे प्रस्तुत किया था। उस पुस्तिका का देश मे बहुत ही व्यापक प्रचार हुआ था और लगभग सभी भारतीय भाषाओ मे उसके अनुवाद हुए थे। उसकी भूमिका मे स्वय महात्मा गाधी ने लिखा था

"आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल उन युवको मे से है, जिन्होने अपने समृद्ध, शायद बुद्धिशाली भी, जीवन को मातृभूमि की सेवा के लिए निछा-वर कर दिया है। जीवन के जिस मार्ग का मै पोषक हूं, उसके साथ सम्भ-वत उनकी पूर्ण सहानुभूति है। यह पुस्तिका वर्तमान राजनीति-शास्त्र के रूप मे उसीकी व्याख्या का एक प्रयास है। आचार्य अग्रवाल ने, जान पडता है, उस विषय के अर्वाचीन साहित्य का अच्छी तरह से अध्ययन किया है। मुझे यह कहते हुए दु ख होता है कि मै इस प्रवन्ध को जितने ध्यान से पढना चाहिए था, नही पढ पाया हू, फिर भी मै यह कह सकने के लिए काफी पढ चुका हू कि किसी भी जगह उन्होने मेरी गलत व्याख्या नही की है। इसमे इस वात का दावा नही है कि यह चरखे के अर्थशास्त्र के फलि-तार्थो का सर्वागीण प्रतिपादन है। इसमे अहिसा पर आधारित चरखे के अर्थशास्त्र और औद्योगिक अर्थशास्त्र का—जिसके लाभदायक होने के लिए उसका आधार हिसा पर होना अनिवार्य है, अर्थात् उन देशो का शोपण, जिनका औद्योगीकरण नही हुआ है—तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

मुझे ग्रथकार के तर्को को स्वय प्रस्तुत नही करना चाहिए। मै इस प्रबन्ध को देश की वर्तमान भयावह स्थिति के प्रत्येक विद्यार्थी द्वारा ध्यानपूर्वक पढे जाने की सिफारिश करता हू।"

'गाधीवादी योजना' पर जो आलोचनाए हुई, उनके उत्तर देते हुए लेखक ने एक दूसरी पुस्तिका 'गाधीवादी सयोजना की परिपुष्टि' सन् १९४८ मे प्रकाशित की। उसकी भूमिका मे डा० राजेन्द्रप्रसाद ने लिखा

"लेखक ने विषय के सब पहलुओ पर विचार किया है। कुछ निष्कर्ष निकाले है तथा प्रस्तुत समस्याओ पर अपने हल भी झुकाये है। महात्मा गाधी एक आदर्शवादी व्यक्ति थे, परन्तु वह उतने ही यथार्थवादी भी थे। इसलिए यदि वह आदर्श के आकाश मे ऊची उडाने भरते थे तो उन्होने यथार्थ को भी नही छोडा। इस प्रकार इन दोनो के बीच की कडी को उन्होने टूटने नही दिया। वह सदैव आदर्श और यथार्थ मे सामजस्य बनाये रखते थे। भारतीय अर्थशास्त्र पर फिर से विचार करने की जरूरत है, पर यह होना चाहिए भारतीय परिस्थितियो को ध्यान मे रखकर, क्योकि यहा की परिस्थितिया एक खास तरह की है—यद्यपि गहराई से देखे तो शेष ससार से ये कुछ ज्यादा भिन्न भी नही है। इसलिए दूसरे देशो के अनुभव के आधार पर कोई सामान्य सिद्धान्त कायम करके उसे यहा लागू करेगे तो काम नही चलेगा। इसी प्रकार जो सिद्धान्त दूसरी जगहो पर काम दे गये, वे यहा ज्यो-के-त्यो काम नही देगे। इस जमाने के अर्थात् पश्चिमी अर्थशास्त्र के दो प्रमुख और मौलिक सिद्धान्त है—यत्रीकरण और केन्द्रीकरण। वैसे महात्मा गाधी यत्र मात्र के विरोधी नही है, परन्तु वह इतना जरूर चाहते है कि यत्र मनुष्य को अपना गुलाम न बना डाले। स्पष्ट ही आज यत्रो के कारण केन्द्रीकरण की जो वृत्ति बढ रही है, उसके वह विरुद्ध है। यत्रो के परिणाम-स्वरूप उत्पादन का जो केन्द्रीकरण हो जाता है, वह उन्हे पसन्द नही। वह तो उत्पादन का विकेन्द्रीकरण चाहते है। जैसा कि आचार्य अग्रवाल ने बताया है—भारत को, जैसा कि वह अबतक करता आया है, मध्यम मार्ग ग्रहण करना चाहिए और यदि ससार भी चाहता है कि उसीका पैदा किया हुआ यह राक्षस उसका काम तमामन कर डाले तो उसे भी यही मार्ग ग्रहण करना होगा। यह मध्यम मार्ग है सत्य और अहिसा का।

हमे इसीको ग्रहण करना चाहिए। इससे ससार का मार्ग-दर्शन होगा और वह भी इसे ग्रहण कर सकेगा। राजनैतिक क्षेत्र मे हमने इसका प्रयोग किया है और उसकी मदद से हमे कोई मामूली सफलता नही मिली है। इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र मे भी हमे इसका प्रयोग करना चाहिए। आज मनुष्य-मनुष्य और मनुष्य तथा समाज के हितो मे विरोध पैदा हो गया है। इसे मिटाने की जरूरत है। मनुष्य को समाज के हित के सामने अपने हित को गौण समझना चाहिए। परन्तु दूसरी ओर मनुष्य के व्यक्तित्व की भी रक्षा और विकास होना चाहिए। यह तभी सभव होगा जब मनुष्यो के सारे व्यवहार पूरी तरह सत्य और अहिसा पर आधारित होगे। गाधीवादी योजना अथवा गाधीजी के सिद्धान्तो पर आधारित जीवन-दर्शन यही करता है। अपने अर्थशास्त्र और राजनीति मे भी वह इन्ही सिद्धान्तो पर चलता है।

"पुस्तक का विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है और हमारे जीवन के साथ उसका घनिष्ठ सबध है। यो इस विषय पर पुराने ढग पर बहुत-सा साहित्य लिखा पडा है। परन्तु गाधीजी के सिद्धान्तो पर आधारित जीवन-दर्शन का थोडे मे परिचय देनेवाली पुस्तके बहुत कम देखने मे आती है। इसलिए यह पुस्तक और भी अधिक स्वागत के योग्य है।"

यह पुस्तिका इस पुस्तक के दूसरे खण्ड मे प्रकाशित की गई है।

तीसरे खण्ड मे लेखक की 'स्वाधीन भारत का गांधीवादी सविधान' पुस्तिका दी गई है, जो सन् १९४६ मे भारतीय सविधान सभा के विचार-विमर्श की पूर्व वेला मे प्रकाशित हुई थी। उस प्रवन्ध की भूमिका महात्मा गाधी ने लिखी थी। उसमे उन्होने लिखा था, "पुस्तिका मे इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि लेखक ने उसे यथासभव प्रामाणिक बनाने की सावधानी रक्खी है।" "उसमे ऐसा कुछ भी नही है, जो मेरे आदर्शो से मुझे असगत लगा हो।" "मै प्रिसीपल अग्रवाल की इस पुस्तक को भारत के सविधान के प्रतिपादन के अनेक प्रयासो मे एक सारगर्भित देन मानता हू। इस प्रयास की खूबी इस बात मे है कि उन्होने वह काम कर दिखाया, जिसे समयाभाव के कारण मै नही कर पाया था।"

चौथे खण्ड मे लेखक की उस लेख-माला को दिया गया है, जो उन्होने भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के जनरल सैक्रेटरी की हैसियत से काग्रेस-कमेटी

की पत्रिका 'आर्थिक समीक्षा' मे लिखी थी। इस पत्रिका के श्रीमन्नारायणजी छ वर्ष (सन् १९५२-५८) तक प्रधान सम्पादक रहे थे। इस लेख-माला मे उन्होने गाधीवादी अर्थशास्त्र तथा समाजवादी सिद्धान्तो पर प्रकाश डाला है।

पाचवे खण्ड के लेखो को लेखक ने सन् १९५८ मे प्लानिग कमीशन के सदस्य हो जाने के बाद लिखा था।

अन्तिम खण्ड मे उन्होने बुनियादी सिद्धान्तो का विवेचन करते हुए बताया है कि समाजवादी समाज की स्थापना किस प्रकार हो सकती है।

पाठक देखेगे कि इस पुस्तक मे लेखक ने उन सारे बुनियादी तथ्यो का समावेश कर दिया है, जिनकी पृष्ठभूमि मे गाधीजी भारत का पुनर्निर्माण करना चाहते थे।

आज देश के सामने सबसे बडा प्रश्न यह है कि उसकी छोटी-बडी समस्याओ को किस प्रकार सुलझाया जाय और राष्ट्र-पिता के विचारो के अनुसार देश को किस साचे मे ढाला जाय ? यह पुस्तक इस प्रश्न का बडी गम्भीरता से उत्तर देती है।

इसमे कोई सन्देह नही कि आज भारत सक्रांति काल से गुजर रहा है और आजादी के इन तेरह वर्षो मे भी समाज और राष्ट्र का सही रूप निश्चित नही हो पाया है।

ऐसी अवस्था मे हमारा विश्वास है कि यह पुस्तक बडे काम की सिद्ध होगी। इसमे गाधीजी के भारत का स्वर मुखरित है और यह सभी पाठको को बहुत ही विचार-प्रेरक सामग्री प्रदान करती है।

यह पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑव गाधियन प्लानिग' के नाम से अग्रेजी मे प्रकाशित हो चुकी है, पर हिन्दी मे इसका अनुवाद करने मे भाव और विषय की सुसबद्धता के लिए कुछ सामान्य हेर-फेर कर दिया गया है।

—मत्री

भूमिका

श्री श्रीमन्नारायण गाधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम के बहुपठित एव चितनशील लेखक है। गांधीजी की रचनाओ के अध्ययन से उन्होने जो ज्ञान प्राप्त किया है, उसके अलावा उन्हे एक बडा लाभ यह भी रहा है कि वह गाधीजी के सम्पर्क मे आये है और विचार-विमर्श के लिए प्रस्तुत होने-वाली विविध समस्याओ पर चर्चाओ मे भी इन्होने प्राय भाग लिया है। इतना ही नही, उन्होने इस विशिष्ट विषय पर दूसरो के साहित्य तथा कृतियो के अध्ययन का भी अतिरिक्त लाभ उठाया है।

श्री श्रीमन्नारायण का सबध उन सस्थाओ और सघो से भी रहा है, जो गाधीवादी विधायक कार्यक्रम के विभिन्न पहलुओ तथा अगो को क्रियान्वित करने मे सलग्न है। उदाहरण के लिए बुनियादी तालीम, खादी-ग्रामोद्योग तथा इस प्रकार के अन्य कामो से सम्बद्ध सस्थाओ से उनका सबध रहा है। काग्रेस मे काम करने से उन्हे उस विशाल सस्था के बारे मे विस्तार से जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिला है। ससद मे रहने से उन्हे विभिन्न प्रश्नो के बारे मे गाधीवादी दृष्टिकोण का अध्ययन करने और ससद-सदस्यो के सामने उसे रखने के भी मौके मिले है।

व्यापक अध्ययन और महात्मा गाधी के विचारो एव कृतियो के निजी चितन और सपर्क के आधार पर लिखी यह पुस्तक उन सभीके लिए पठ-नीय है, जो उन विषयो मे अभिरुचि रखते हैं, जिनपर देश का ध्यान केन्द्रित है और जिनमे से अधिकाश दुर्भाग्य से विवादास्पद विषय बने हुए है।

यह आवश्यक नही कि उनके प्रत्येक निष्कर्ष को स्वीकार ही किया जाय अथवा खास मुद्दो के समर्थन मे उन्होने जो तर्क दिये है, जिससे यह कृति लोकग्राह्य हो सके, उन सबसे सहमत ही हुआ जाय। पाठको को इसमे बहुत-कुछ ऐसी सामग्री मिलेगी, जो कि सूचनात्मक है, शिक्षाप्रद है और विचार-प्रेरक है।

मुझे विश्वास है, आम जनता के मन मे जो बहुत-से सवाल उठ रहे है, उन्हे समझने-बूझने मे यह पुस्तक लाभदायक सिद्ध होगी।

राष्ट्रपति-भवन, नई दिल्ली
१६ जनवरी १९६०

राजेन्द्र प्रसाद

विषय-सूची

गांधीवादी संयोजन के सिद्धान्त

गांधीवादी संयोजन के सिद्धान्त

खण्ड १

गांधीवादी योजना

: १ .

खुले व्यापार की नीति के अत के साथ ही प्रत्येक देश मे आर्थिक सयोजन का महत्व एकदम बढ गया है। प्रथम महायुद्ध के पहले मजदूरो की सेवा, मकानो की कमी और बेकारी को मिटाने जैसे राष्ट्रीय जीवन के बहुत थोडे अगो के बारे मे सयोजन की पद्धति पर सोचा जाता था, परन्तु उसके बाद तो सयोजन का विचार बहुत फैल गया। राष्ट्रीय जीवन के लग-भग हर पहलू का सयोजन शुरू हो गया। सोवियत रूस की पचवर्षीय योजना इस प्रकार का सबसे पहला प्रयास था। फिर तो यह विचार बढा और देखते-देखते सारे ससार मे फैल गया। ससार मे छाई हुई बेहद मदी से अपने देश को बचाने के लिए राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अमरीका मे 'न्यू डील' (नया सौदा) का प्रारम्भ किया। जर्मनी मे हिटलर ने अपने देश को मुख्यत दूसरे महायुद्ध के लिए तैयार करने के लिए चार वर्ष की योजना जारी की। इग्लैड की चाल जरा धीमी रही। उसने भी सयोजन शुरू किया, परन्तु खण्डो मे—एक-एक क्षेत्र मे—और इसीमे सन्तोष मान लिया। फिर भी सामाजिक सुरक्षा की 'बीवरेज योजना' इस दिशा मे उनका एक व्यवस्थित प्रयास था।

भारत मे पश्चिम की पद्धति पर सयोजन का प्रयत्न करनेवाले सबसे पहले व्यक्ति थे सर एम विश्वेश्वरय्या। परन्तु भारत के आर्थिक विकास की व्यवस्थित और व्यापक योजना का तफसीलवार मसविदा बनाने का यत्न भारत की राष्ट्रीय महासभा (काग्रेस) द्वारा नियुक्त राष्ट्रीय सयो-जन समिति ने किया। दुर्भाग्यवश वह अपना काम पूरा नही कर सकी।

इसका कारण हम सब अच्छी तरह से जानते है। इसी प्रकार इन दिनो, जबकि भारत की आवाज दबाया को जा रहा है तब देश के आठ प्रमुख उद्योगो ने आर्थिक विकास की पन्द्रह-वर्षीय योजना बनाकर निश्चित रूप से देश की बडी सेवा की है। यह योजना आमतौर पर बम्बई-योजना के नाम से प्रसिद्ध है। इन सुयोग्य और विख्यात उद्योग-पतियो की सचाई और देशभक्ति मे हमे शका नही हो सकती, फिर भी हम यह बात भुला नही सकते कि यह पश्चिम की पद्धति पर बनाई गई मुख्यत एक पूजीवादी योजना है। श्री मानवेन्द्रनाथ राय ने भी एक 'पीपल्स प्लैन' (जनता की सयोजना) बनाई थी। उसमे दस वर्षो मे १५ हजार करोड रुपये खर्च करने की कल्पना की गई थी।

परन्तु मुझे लगता है कि भारत के आर्थिक विकास की हम जो भी योजना बनाये वह हमारे सास्कृतिक और सामाजिक आधारो पर ही बनाई जानी चाहिए। उपर्युक्त योजनाए ऐसी नही है। पश्चिम की पूजीवादी या साम्यवादी योजनाओ की केवल नकल करने से हमारा काम नही चलेगा। हमे अपनी एक स्वदेशी योजना बनानी होगी, जिसकी जडे हमारी अपनी जमीन मे ही गहरी हो। सुसगठित और शक्तिशाली ग्रामीण समाज जाने कितने समय से भारतीय जीवन का अभिन्न अग रहा है। प्राचीन काल मे हमारे देश मे इसने जिस सामाजिक और आर्थिक सस्कृति का विकास किया है, वह शायद समस्त ससार के इतिहास मे एक अनोखी वस्तु है। यह समाज-रचना ग्रामोद्योगो पर आधारित थी, जिसमे मानवता, समानता, न्याय, शान्ति और सहयोग सभी ओत-प्रोत थे। इसलिए यह जरूरी है कि भारत स्वय अपनी निजी आर्थिक योजना बनाये, पश्चिम की नकलमात्र न करे। ऐसा करके वह ससार का मार्ग-दर्शन कर सकेगा और अत मे एक नई व्यवस्था का विकास करने मे उसके लिए मददगार भी हो सकेगा। महात्मा गाधी भारतीय अर्थ-व्यवस्था के इन्ही प्राचीन आदर्शो पर बराबर जोर देते रहे और अब तो पश्चिम के अनेक महान विचारक भी उनके इन विचारो का समर्थन करने लग गये है। सौभाग्य से गाधीजी के लेखो को पढने और अध्ययन करने का मुझे काफी अवसर मिला है। यही नही, भारत के अनेक आर्थिक प्रश्नो पर मैने उनसे रूबरू चर्चाए भी

की है। इसीलिए मैं इनके बारे मे गाधीजी के विचार व्यवस्थित रीति से जनता के सामने पेश करने का साहस कर रहा हू। इनके समर्थन मे मैं पश्चिम के विख्यात अर्थ-शास्त्रियो और समाज-शास्त्रियो के प्रमाण भी उद्धृत करूगा। भारत की आर्थिक समस्याओ पर गाधीजी ने बहुत लिखा है, क्योकि वह बहुत बडे अर्थशास्त्री रहे है, परन्तु उस मानी मे नही, जिसमे आम तौर पर इस शब्द का प्रयोग होता है। इसलिए उन्होने घिसे-पिटे टकसाली शब्दो का प्रयोग नही किया। उनके विचार सहज-बुद्धि के रूप मे प्रकट हुए और उनमे गहरी भावना का आवेग था। अत स्वभावत ये अर्थशास्त्र की जड तर्क-पद्धति मे ठीक नही बैठते, फिर भी उनके लेखो मे हमे एक व्यवस्थित आर्थिक रचना की झाकी आसानी से मिल जाती है, जो प्राचीन भारतीय परम्परा पर आधारित है और यदि हम विस्तार से उसकी तफसीले बनाने बैठे तो वह इस युद्ध-जर्जर ससार को युद्ध, शोषण और सहार के स्थान पर अवश्य ही शान्ति, सुरक्षा और प्रगति की सुनिश्चित योजना दे सकती है।

२ :

आज हमारे देश मे सयोजनाओ, तजवीजो और पुनर्निर्माण की योजनाओ की बाढ-सी आई हुई है, परन्तु इनके बीच हमे एक बुनियादी बात याद रखनी चाहिए। वह यह कि योजना अपने-आपमे कोई साध्य नही है। असल मे साध्य तो दूसरी ही चीज है और योजना उसका एक साधन-मात्र है। विज्ञापनो मे छपी दवाओ की भाति हर योजना के बनानेवाले अपनी चीज को सर्वश्रेष्ठ बताते है। अन्य लोग भी उसमे अपनी कल्पना जोडकर मान लेते है कि उसके अन्दर कोई जादू है, जो उनकी हर प्रकार की आर्थिक मुसीबत को दूर कर देगा।

योजनाए बनाना, अलबत्ता, अपने-आपमे कोई बुरी चीज नही है। वह तो दूरदेशी और समझदारी-भरी चीज है। परन्तु जब शोषण के सूक्ष्म और भद्दे तरीको को छिपाने के लिए उन्हे उलझन-भरी बडी-बडी योजनाओ का चोगा पहनाया जाता है तब उन्हे हमे सन्देह और सावधानी की नजर से ही देखना पडता है।

हमारे सामने आज वहुत ही कठिन समस्याए है। केवल योजनाएं वनाने से वे नही सुलझेंगी और न उनसे ससार की हालत ही सुधरेगी। रूस की भाति सयोजन के जरिये जनता के रहन-सहन को ऊचा उठाने मे काफी सफलता मिल सकती है, परन्तु इसमे व्यक्ति की स्वतत्रता का वलिदान करना पडता है। जर्मनी की भाँति युद्ध-यन्त्रो को तेजी से खडा करने और चलाने के लिए फौजी कडाई के साथ लोगो को काम मे लगाकर वेकारी की समस्या को भी कुछ हद तक हल किया जा सकता है। इसी प्रकार राष्ट्र मे कोई आर्थिक सकट पैदा हो तो अमरीका के 'न्यू डील' (नया सौदा) की भाति उसे दूर करने के लिए एक तात्कालिक उपाय के रूप मे भी सयोजन का उपयोग किया जा सकता है। इग्लैड मे भी 'वीवरेज योजना' ने साम्राज्य के मातहत प्रदेशो और उपनिवेशो के सारे साधनो को जुटाकर अगरेज कौम के अन्दर कुछ सामाजिक सुरक्षा निर्माण कर दी।

इस प्रकार सयोजन एक वहुत वडा यत्र है, किन्तु याद रहे कि वह जड यत्र है। उसका भला और बुरा दोनो प्रकार से उपयोग किया जा सकता है। इसलिए मुद्दे की वात यह है कि उसका उद्देश्य अथवा लक्ष्य क्या है? उसकी जड मे भावना—नीयत—क्या है?

इस प्रकार मुख्य प्रश्न यह है कि आर्थिक सयोजन का मुख्य उद्देश्य क्या हो? केवल इतना कह देना काफी नही है कि 'हम जनता का जीवन-स्तर ऊंचा उठाना चाहते है' या 'समाज को समृद्ध वनाना चाहते है।' वम्बई-योजना का उद्देश्य यही वताया गया है कि अगले पद्रह वर्षो मे भारत मे आदमी की औसत आय दूनी हो जायगी। खैर, हम एक क्षण को मान लेते है कि इस योजना के अमल से जन-साधारण की औसत आय यहा पद्रह वर्षो मे दूनी हो सकती है, परन्तु केवल आय का इस प्रकार दूना हो जाना अपने-आपमे कोई वहुत अच्छा साध्य नही कहा जा सकता। आर्थिक मूल्यो को हम जीवन के मानवोचित और सास्कृतिक मूल्यो से कभी अलग नही कर सकते। इसीलिए तो राष्ट्रीय महासभा की सयोजन-समिति ने कहा था कि सयोजन मे जीवन के "सास्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यो का भी समावेश किया जाना चाहिए। उसके मानवीय पहलू को भुलाया नही

जाना चाहिए।"

उदाहरण के लिए पश्चिम को लीजिये। वहा जीवन का स्तर इतना ऊचा हो चुका है कि अब उसे अधिक उठाने की गुजाइश ही नही है। वहा सयोजन का लक्ष्य बताया जाता है—"सबके लिए पूरा काम।" परन्तु यह भी कोई लक्ष्य है ? पूरा काम देना सयोजन का लक्ष्य नही हो सकता। वह तो किसी साध्य का एक साधन मात्र है। कुछ लोग कहते है, सयोजन का लक्ष्य अधिक उत्पादन होना चाहिए और वे कहते है कि इसके लिए देश की जन-शक्ति का तथा साधनो का पूरा-पूरा उपयोग किया जाना चाहिए। परन्तु हम जानते है कि अत्यधिक औद्योगीकरण और उत्पादन का परिणाम क्या हुआ है ? जहा एक तरफ अत्यधिक विपुलता और समृद्धि है, दूसरी तरफ वही-के-वही दरिद्रता का घोर अभिशाप भी प्रत्यक्ष हमारी आखो के सामने है।

तो फिर हमारे सयोजन का उद्देश्य क्या हो ? प्राध्यापक कोल कहते है कि "हमारा आर्थिक सयोजन इन सिद्धान्तो के आधार पर हो कि समाज के पास उत्पादन की जो भी साधन-सामग्री हो, उसका पूरा-पूरा उपयोग हो जाय और सबकी आमदनी का विनियोग-वितरण भी इस प्रकार सुनियोजित प्रकार से हो कि सर्व-साधारण की भलाई और कल्याण की दृष्टि से खर्च करने के लिए वह उपलब्ध हो सके।"[१] प्राध्यापक ऑल्डस हक्सले अच्छे सयोजन की मुख्य कसौटी यह बताते है कि जिस समाज पर वह लागू किया जा रहा है। उसके पुरुष और स्त्री सदस्यो मे अनासक्ति और जिम्मेदारी की भावना जागे और वे उत्तरोत्तर अधिक न्यायशील, शान्त, नीतिमान, बुद्धिमान और प्रगतिशील बने। यदि ऐसा होता है तो वह सयोजन सही और सफल है, अन्यथा वह गलत और असफल है।[२] 'जनता की सयोजना' (पीपल्स प्लैन) मे श्री मानवेन्द्रनाथ रॉय ने बताया है कि "सयोजन का उद्देश्य जनता की तात्कालिक तथा बुनियादी जरूरतो की पूर्ति होना चाहिए।" परन्तु इस विषय मे मुझे डॉ० सन यात सेन के जनता के तीन सिद्धान्त—"राष्ट्रीयता, प्रजातन्त्र और जीविका" सबसे

---

[१] प्रिसिंपिल्स ऑव इकानॉमिक प्लैनिग, पृष्ठ ४०६

[२] एण्डस एण्ड मीन्स, पृ० ३२

अच्छे लगे। वास्तव मे हमारा सयोजन राष्ट्र की अपनी सस्कृति और सभ्यता पर ही आधारित होना चाहिए। उसका अमल और प्रगति भी किसी प्राणी के शरीर अथवा पौधे के विकास के समान (स्वाभाविक और अन्दर से ही) होनी चाहिए। और यह सबकुछ थोडे-से चुने हुए लोगो के स्वार्थ के लिए नही, बल्कि समस्त राष्ट्र के कल्याण और सुख के लिए हो। मुझे लगता है कि हमारा जो भी आर्थिक सयोजन हो, उसका सबसे पहला सिद्धान्त यही होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि हमारे सयोजन मे जनता के साथ फौजी ढग की घेरघार—रेजिमेटेशन—न हो। अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन मे जनता के लिए जितनी आजादी का होना उचित और जरूरी है उसका अपहरण न हो। सत्ता के सम्पूर्ण केन्द्रीकरण की दृष्टि से नही, बल्कि लोकतन्त्र की दृष्टि से और लोकतन्त्र को अपना लक्ष्य मानकर हम सयोजन करे। एक सख्त और लम्बी-चौडी योजना जनता पर लादकर हम उसका जीवन-स्तर ऊचा उठाने मे शायद कामयाब हो जाय, परन्तु ऐसा करने मे यदि लोग अपनी आत्मा अर्थात् स्वाधीनता और स्वशासन की वृत्ति को ही खो बैठते है तो ऐसी भौतिक समृद्धि भी किस काम की? इसलिए आर्थिक सयोजन मे राज्य के नियन्त्रण और जबरदस्ती की जरूरत कम-से-कम हो। कहा भी है कि सबसे अच्छा शासन वही है, जिसे अपनी सत्ता का उपयोग कम-से-कम करना पडे। परन्तु मै इससे भी एक कदम आगे जाना चाहता हू। सयोजन का काम लोक-सत्ता की केवल रक्षा करना ही नही है, बल्कि उसे अधिक वास्तविक और स्थायी बनाकर उसे पुष्ट एव प्रगतिशील बनाना भी है। इतना भी काफी नही होगा। हमे केवल अपने ही देश मे लोक-सत्ता की रक्षा और सवर्धन करके सन्तोष नही मान लेना चाहिए, बल्कि यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा करने मे हम कही दूसरे अविकसित देशो की आजादी और लोक-सत्ता का अपहरण तो नही कर रहे है? प्राध्यापक रॉबिन्स ने अपने 'आर्थिक सयोजन और अन्तर्राष्ट्रीय सुव्यवस्था' (इकॉनॉमिक प्लैनिंग एण्ड इटरनेशनल ऑर्डर) नामक पुस्तक मे ठीक ही लिखा है कि अपने राष्ट्र के अति प्रेम मे हम कही अपनी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि को न खो दे, यह ध्यान

रहे, क्योकि यदि बाहर लोक-सत्ता की हानि होती है तो उसके परिणाम-स्वरूप "हमारे देश की लोकसत्ता भी अवश्य ही छिन जायगी।"

हमे भूलना नही चाहिए कि आर्थिक समानता के बगैर राजनैतिक लोकसत्ता अथवा प्रजातन्त्र असम्भव है। प्राध्यापक लास्की का कथन है कि "वह राजनैतिक समानता वास्तविक समानता हो ही नही सकती जबतक उसके साथ सच्ची आर्थिक समानता भी न हो। यदि आर्थिक समानना नही है तो राजनैतिक सत्ता आर्थिक सत्ता की दासी होगी।"[1] इसीलिए तो पूजीवाद और प्रजातन्त्र कभी एक साथ नही रह सकते, क्योकि पूजीवादी समाज मे धनवानो और निराधारो के बीच सदा एक बहुत बडी खाई होती है। इसलिए एक अच्छे राष्ट्र को चाहिए कि वह अपने नागरिको की आमदनी मे कभी भारी विषमता न पैदा होने दे, नही तो वहा शासन-सत्ता आगे-पीछे अवश्य ही धनवानो के हाथ चली जायगी। सम्भव है, एक आदमी ही राजा बन बैठे।

सयोजन का तीसरा सिद्धान्त यह हो कि राष्ट्र के हर नागरिक को सम्मानपूर्वक और न्यायपूर्वक अपनी रोजी कमाने का अधिकार है। उसे काम करने और ईमानदारी के साथ किए गये काम का उचित पारिश्रमिक पाने का जन्मसिद्ध अधिकार है, जिसे कोई छीन नही सकता। रोजी का अर्थ दान या बेकारी का भत्ता (अनएम्प्लायमेट डोल) नही है, ये दोनो एकदम अलग चीजे है। एक का अर्थ है काम और जीवन, दूसरे का अर्थ है सडना और मरना। बेकारी की अर्थात् रोजी की समस्या को हम तभी सन्तोषजनक रीति से हल कर सकेगे जब हम समझ लेगे कि हमारा लक्ष्य केवल इतना ही नही है—न होना भी चाहिए—कि कम-से-कम श्रम मे और तेजी के साथ काम करनेवाले यन्त्रो की सहायता से हम जैसे तैसे अपना उत्पादन बढा ले। अपने आर्थिक जीवन के मानवीय पहलू की उपेक्षा करके हम कभी अपना भला नही कर सकते। यन्त्रो और भौतिक सम्पत्ति की अपेक्षा मनुष्य का मूल्य कही अधिक है। अधिक उत्पादन करके राष्ट्र की सम्पत्ति आखिर मनुष्यो को दुख नही, सुख पहुचाने के लिए ही तो हम बढाना चाहते है। मै तो समझता हू कि डॉ० सन यात सेन के 'जनता के

[1] ग्रामर ऑव पॉलिटिक्स, पृ० १६२

तीन सिद्धान्तो' का सही अर्थ यही है। सयोग की वात है कि एशिया के एक दूसरे महान लोकनायक महात्मा गाधी ने भी यही वात कही है। हा, उनके शब्द दूसरे है। अव मैं उन तमाम पूजीवादी और समाजवादी योजनाओ का परीक्षण करना और देखना चाहता हू कि सयोजन के ऊपर वताये तीन जरूरी सिद्धान्तो का उनमे कहातक पालन होता है।

३

पिछले कुछ दशको मे ससार ने अपनी उत्पादन-शक्ति वहुत अधिक वढा ली है—केवल उद्योगो मे ही नही, खेती मे भी। जनसख्या भी वेशक वढ रही है, परन्तु यह उत्पादन-शक्ति हर जगह जनसख्या की वृद्धि के अनुपात से कही आगे वढ गई है। जाहिर है कि इतना उत्पादन वढ जाने के फलस्वरूप ससार को अधिक समृद्ध, स्वस्थ और सुखी होना चाहिए था और गरीवी की समस्या अपने-आप हल हो जानी चाहिए थी। परन्तु इसके विपरीत आज हम ससार मे क्या देखते है ? ससार मे आज भयकर आर्थिक मन्दी फैली है, जैसी कि पहले कभी नही देखी गई थी। इसके कारण ससार वेहद परेशान है। खाद्यान्नो और कच्चे माल के पर्वताकार सग्रह पडे हुए है, जिनके खरीदार नही मिल रहे है। करोडो लोग वेकार पडे है, क्योकि उनके लिए कारखानो मे काम नही, अर्थात् कारखानेदार जो माल पैदा करते है, मुनाफा देकर उसके खरीदनेवाले उन्हे नही मिलते। इस प्रकार जितनी भी यह उत्पादन-शक्ति वढती जाती है, ससार उतना ही उसका उपयोग करने मे कम समर्थ वनता जा रहा है। कोल ने ठीक ही कहा है

"यदि मनुष्य की उत्पादन—निर्माण—शक्ति वढाने से लोग उलटे वेकार और दुखी होते है तो ऐसी शक्ति वढाने से क्या फायदा ? विज्ञानशास्त्री क्यो यह वेकार का श्रम करते है ? इस प्रकार परिश्रम को हलका करने से क्या लाभ है, यदि ऐसा करने से अधिकाधिक लोग वेकार होकर रोजी से वचित होते है ? कैसा जमाना आ गया है, जो आज किसान वोते समय भगवान से उल्टी प्रार्थना करता है कि उसकी फसल विगड जाय, नही तो वह मन्दी के सकट मे फस जायगा। वडा बुरा समय है, परन्तु इसमे

आश्चर्य की बात भी क्या है ?"[1]

चीजे पैदा करने की भौतिक शक्ति हमने इतनी बढ़ा ली है कि हम इनका पूरा उपयोग भी नही कर पाते। ससार मे फैली हुई व्यापक बेकारी, दु ख, और लोगो का शारीरिक तथा मानसिक पतन इसीका परिणाम है। "हमारे सामने एक अजीब समस्या है। कारखानो मे माल इतनी तेजी से पैदा होता जाता है और उसके ढेर लगते जाते है कि उसकी माग ही मरती जा रही है।"[2] इतनी अधिक समृद्धि और विपुलता के बीच भी आदमी दरिद्र हो और भूखो मरे, यह सचमुच ऐसी बात है कि इसपर किसीको विश्वास नही होगा, हँसी आवेगी। क्रेब ने लिखा है—समृद्धि मुस्कराती है, परन्तु हाय ! केवल मुट्ठीभर आदमियो के लिए ही। शेष तो केवल देखते रहे, उनके लिए वह नही है। वे तो खानो मे मरनेवाले उन अभागो के समान है, जिनके आसपास, ऊपर-नीचे, सपत्ति-ही-सपत्ति है, किन्तु जो उनकी दरिद्रता को दूना दुखदायी बना देती है।[3]

अलबत्ता, यह तो स्पष्ट है कि हमारी मुसीबतो का कारण यह उत्पादन की विपुलता नही है, बल्कि हमारी आर्थिक रचना का दोष और उसके गलत आदर्श है। पूजीवाद अपने साथ केवल शोषण और बेकारी ही नही लाया, बल्कि उसने तो मनुष्य को निरा एक जड यन्त्र और बलिदान का पशु बना दिया है। धीरे-धीरे, परन्तु निश्चित गति से, उसने प्रजातन्त्र को अन्दर से खोखला कर दिया है, जो अब केवल ढाचा-मात्र रह गया है। मानवता को उसने अपने मार्ग से हटा दिया है। अब तो ससार मे सोने और राक्षसो का राज्य है। पूजीवाद को झूठमूठ की स्वतन्त्रता का लबादा पहनाने का लज्जाजनक प्रयास व्यर्थ ही किया जा रहा है। न्याय और प्रजातत्र की डीगे हाकी जा रही है, जबकि हर आदमी अब जानता है कि मख-

---

[1] 'दी इन्टेलिजेन्ट मैन्स गाइड थ्रू वर्ल्ड क्यौस', पृ० ६५

[2] 'वर्क, वेल्थ एण्ड हेपीनैस ऑफ मैनकाइण्ड'—एच. जी वेल्स, पृ० ५२३

[3] When plenty smiles — alas she smiles for few.
And those who taste not, yet behold her store,
Are as the slaves dig the ore,
The wealth around them makes them doubly poor.

मल के दस्ताने के अन्दर लोहे का पंजा छिपा हुआ है, क्योंकि पूजीवाद की प्रभुसत्ता को मानने से यदि कही इन्कार हुआ या उसे जरा भी खतरा महसूस हुआ तो वह नाजीवाद या फासिज्म के रूप मे अपना नग्न रूप धारण कर लेता है और पैशाचिक वीभत्सता के साथ दानवी शक्ति प्रकट करने लग जाता है। प्रो० लास्की ने अपनी 'हम यहा से कहा जा रहे हैं?' व्हेअर डू वी गो फ्रौम हीयर नामक पुस्तक मे पश्चिम के आधुनिक राजनैतिक इतिहास का सिंहावलोकन करते हुए साफ-साफ बताया है कि पूजीवादी देशो मे लोकतन्त्र चल ही नही सकता। जहा प्रतिपक्ष जोरदार नही होता वहा पूजीवाद लोकतन्त्र का दिखावा टिकाये रख सकता है और ससदीय ढग का शासकीय ढाचा निभाये जाता है। परन्तु जब कभी वह खतरा महसूस करता है और देखता है कि वह सुरक्षित नही है तो सर्वसत्ता धारणा करके राक्षसी हिंसा का अवलम्बन करने मे वह क्षण-भर की भी देरी नही करता।

लॉर्ड केनीज ने अपनी पुस्तक 'खुले व्यापार का अन्त' (एण्ड ऑव लेसा फर) मे पूजीवाद के सिद्धान्त की परिभाषा करते हुए लिखा है—"मनुष्य की धन-लालसा और उसकी प्राप्ति की सहज वृत्ति को कितना अधिक सतुष्ट किया जा सकता है इसपर यह अर्थ-रचना निर्भर करती है।" धन की इस अपार तृष्णा ने शोषण, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की पेचीदा परम्परा पैदा कर दी है, जिसका निश्चित परिणाम होता है खूखार युद्ध और मनुष्यो का कत्लेआम। बर्नार्ड शॉ कहता है कि "पूजीवाद को न विवेक होगा और न उसका अपना कोई देश।" मुनाफा उसकी एकमात्र आकाक्षा और पैसा उसका भगवान होता है। इसीको हम मानव-भक्ति के बजाय पैसे की भक्ति कहते हैं। अमरीका के उपराष्ट्रपति श्री वैलेस ने हमे सावधान करते हुए कहा है कि "व्यापारी जगत के लिए तो वॉलस्ट्रीट सर्वोपरि है, राष्ट्र उसके बाद।" प्रो० गॉडी ने पैसे को आसमान की सैर करानेवाला अल्लादीन का जादुई कालीन कहा है। "किसी समय लोग मानते थे कि पृथ्वी स्थिर है और सूरज उसके आस-पास घूमता है। तब यदि कोई कहता कि यह गलत है, वास्तव मे सूर्य नही, पृथ्वी सूर्य के आस-पास घूमती है तो लोग उसे नास्तिक कहते। इसी प्रकार आज के अर्थ-विशारद से कोई

कहे कि पैसे के लिए मनुष्य नही बनाया गया, बल्कि मनुष्य के लिए पैसा बनाया गया है तो वह इसे नास्तिक ही कहेगा।"[1]

इस प्रकार आज हम पैसे के ससार मे रह रहे है, जहा पूजीपति सर्व-सत्ताधीश है, जैसा कि चाकोटिन ने कहा है, "मुनाफे और पैसे की इस पागल और अनवरत दौड का फल है मानवता के साथ घोर अत्याचार।" परन्तु पूजीवाद के विनाश के बीज उसके अन्दर ही छिपे हुए है, क्योकि अति सबकी बुरी होती है। इस प्रकार पूजीवाद का अपार लोभ आगे-पीछे उसीको ले बैठेगा और उसका सर्वनाश करके रहेगा। अगर हम दूसरे के लिए खड्डा खोदते है तो हम ही उसके अन्दर गिरेगे। साम्यवाद के प्रसिद्ध घोषणापत्र मे लिखा है—"वर्तमान बुर्जुआ समाज ने अपार उत्पादन, विनिमय और वैभव के साथ नाता जोडकर अपने लिए आफत पैदा कर ली है। वह उस जादूगर की तरह है, जिसने मसान तो जगा लिया, पर उसे अपने वश मे रखना नही जानता।" तो अब इसका उपाय क्या है? विपुलता के बीच दरिद्रता और अपार उत्पादन तथा अविचारपूर्ण विनाश की यह समस्या कैसे सुलझेगी? समय अपने-आप सब ठीक कर लेगा, इस आशा मे हाथ-पर-हाथ रखकर निष्क्रिय तो नही बैठे रह सकते। "यह तो भागनेवाले बिगडे घोडे की गाडी मे निष्क्रिय बैठे रहने जैसा होगा। आप भले ही कह दे कि हम और कर ही क्या सकते है? परन्तु आपकी यह लाचारी आपको आनेवाली दुर्घटना से बचा नही सकेगी।"[2]

ससार के विभिन्न देशो मे तीन विभिन्न प्रकार की योजनाओ के प्रयोग किये गए है। पहली है फासिज्म की या नाजीवादी योजना, परन्तु इसमे तो उलटे बीमारी से उसका इलाज अधिक बुरा साबित हुआ है। स्वय हिटलर ने सन् १९३६ के सितम्बर मे स्वावलम्बन की अपनी चारसाला योजना की घोषणा की। स्वावलम्बन के द्वारा उसने राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र और यन्त्र-सामग्री से लैस करने के उपाय किये। इनसे बेकारी निस्सन्देह बहुत-कुछ घटी भी, परन्तु इतना काम देने पर भी जनता का

---

[1] 'मनी वर्क्स मैन', पृ० १०८

[2] 'दी इन्टेलिजेन्ट वुमन्स गाइड टु सोशलिज्म एण्ड कैपिटलिज्म—बर्नार्ड शॉ', पृ० ४०

जीवनस्तर ऊचा नही उठ पाया। इसके विपरीत उसने तो राष्ट्र को सैनिक दृष्टि से पूरा लैस बनाने पर ही सारी शक्ति लगा दी। अपने देश-भाइयो से उसने कहा, "मक्खन के बजाय बन्दूक" अधिक काम की चीज है। इस प्रकार नाजी अर्थ-रचना वास्तव मे युद्ध की अर्थ-रचना साबित हुई। वह अत्यन्त विस्फोटक थी और अन्त मे उसका विस्फोट होकर ही रहा, जिसके धमाके ने समस्त ससार की नीव को हिला दिया। यद्यपि उसमे 'समग्र राज्य' (कॉरपोरेट स्टेट) के नाम पर मजदूरो को खुश और शान्त करने के यत्न हुए, फिर भी बात तो बडे-बडे उद्योगपतियो की ही चलती रही। सत्ता उन्हीके हाथो मे खेलती रही। वास्तव मे फासिज्म का जन्म ही मरणोन्मुख पूजीवाद की कोख से हुआ था और बुझते हुए दीये की ज्योति जिस प्रकार अधिक बडी हो जाती है, उसी प्रकार अपने विनाश के समय पूजीवाद भी इस फासिज्म या नाजीवाद के रूप मे अधिक आक्रामक बन गया था। उसका उद्देश्य था लाभ और शोषण के ढहते हुए दुर्ग को बचाना। इस फासिस्ट योजना मे राज्य ने अपने हाथो मे सम्पूर्ण सत्ता केन्द्रित कर ली थी और व्यक्ति की स्वाधीनता निर्ममता के साथ कुचल दी गई थी। "राज्य को भगवान के सिहासन पर अभिषिक्त कर दिया गया है। यही कारण है, जो आज हम सबसे अधिक भयकर बुतपरस्ती के जमाने मे जी रहे है।"[1]

प्रजातन्त्र की बुनियाद है मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा और आदर, परन्तु सारी ताकत से उसे कुचलकर उसके स्थान पर सर्व-सत्ताधारी अधिनायकत्व (डिक्टेटरशिप) को स्थापित किया जा रहा है। यूनान का प्रसिद्ध विचारक प्रोटोगोरस कहता था कि "हर चीज को नापने का गज आदमी, इन्सान हो।" परन्तु आज तो सारे सिद्धान्तो की भलाई, बुराई, उपयोगिता अथवा निकम्मेपन को नापने का गज राज्य बन गया है। एथीनियन आदर्श मे मनुष्य सर्वोपरि था परन्तु फासिस्ट अर्थ-रचना राज्य को सर्वोपरि माननेवाले स्पार्टा के आदर्श की पुजारिन है।

आर्थिक सयोजन के दूसरे नमूने का प्रयोग अमरीका के सयुक्त राज्य ने किया। मेरा सकेत राष्ट्रपति रूजवेल्ट के 'न्यू डील' की तरफ है। सच पूछिये

---

[1] 'दि टोटालिटैरियन स्टेट अगेन्स्ट मैन'—काउन्ट कादेन्होव कलेरजी, पृ० ७०

तो उसने एक व्यवस्थित योजना का रूप कभी ग्रहण नही किया। वह तो मुसीबत मे फसे पूजीवाद को बचाने के लिए काम मे लिये गए तात्कालिक उपायो का एक सिलसिला भर था। समाज मे फैली दुरवस्था के बहुत प्रकट कारणो को दूर करके पूजीवाद को फिर से जिलाने का वह एक जोरदार प्रयत्न था। राष्ट्रपति रूजवेल्ट अमरीका मे कोई नई अर्थ-रचना निर्माण नही करना चाहते थे। उन्होने तो पुरानी रचना मे छोटे बडे सुधार करके केवल उसे काम चलाने-लायक बनाने का यत्न किया। मजदूरों को काम देने की दृष्टि मे उन्होने अनेक लोक-निर्माण-कार्य चालू कर दिये, ताकि बेकारी कुछ घटे और कारखानेदारो का बोझ कुछ हल्का हो। काम के घण्टे कम कर दिये, मजदूरी बढा दी, कर-प्रणाली मे यहा-वहा जरूरी फर्क कर दिया, बाजार की मदी को कम करने और किसानो की मदद करने के लिए सरकार ने खेती की उपज की चीजे खरीदना शुरू कर दिया, खेती मे जो चीजे अधिक पैदा होती थी, उनका रकबा कम कर दिया, ताकि बाजार मे उनके भाव गिरने न पावे। आर्थिक स्थिरता को बनाये रखने के लिए बैंकों को सरकार ने ऋण दे दिये। चीजो की कीमतो का नियमन करने के लिए खुले बाजार मे सौदो का लेन-देन शुरू कर दिया। इन सब कदमो ने आर्थिक मन्दी के सकट को पार करने मे अमरीका की बडी मदद की। परन्तु भीतर की बीमारी का यह कोई स्थायी इलाज नही था। यह तो दर्द को कम करने के लिए लाक्षणिक चिकित्सा के रूप मे किये गए तात्कालिक

उसमे दूसरो के समान ब्रिटेन को भी आर्थिक सयोजन की दिशा मे कुछ कदम उठाने पडे। परन्तु उसका सारा सयोजन टुकडो मे हुआ है। उनमे समन्वय और सूत्रवद्धता नही थी और जहातक ऊपरी दिखावे से सम्बन्ध है, उसके पीछे कोई निश्चित उद्देश्य भी नही था। उसने जो भी कुछ किया, परिस्थिति से लाचार हो जाने पर सामने खडी मुसीवत का मुकावला करने भर के लिए किया। इस दिशा मे उसका सवसे ताजा कदम था 'वीवरेज योजना'। इस योजना का मुख्य उद्देश्य था 'पूरा काम' और राष्ट्र के द्वारा नागरिको को यह आश्वासन देना कि वह उन्हे किसी भी मुसीवत मे असहाय नही छोड देगी। इसलिए उसने उन्हे रोजी दिलाने की हामी भरी, पगुता के भत्ते निर्माण किये, वूढो को घरवैठे सहायता का प्रवन्ध किया, नये वच्चो के कारण वढे हुए खर्च का प्रवन्ध किया और वीमारो के उपचार की व्यवस्था की। उसका उद्देश्य था धनवानो पर कर लगाकर उन्हे कुछ नीचे लाना और इस धन की सहायता से गरीवो के लिए कुछ सहूलियते करके उनके जीवन-स्तर को कुछ ऊपर उठा देना। डिजरैली कहा करता था कि इग्लेड अमीरो और गरीवो के अलग-अलग दो राष्ट्रो मे वट गया है—परन्तु वीवरेज-योजना जैसे उपचारो से डीनइगे के शव्दो मे कहे तो देश दूसरे प्रकार के "दो राष्ट्रो मे वट जाता है। एक तो कर देनेवालो का राष्ट्र और दूसरा करो से लाभ उठानेवालो का राष्ट्र।"[१] यह सच है कि वेकारी से रक्षा का आश्वासन देना उतनी खराव चीज नही है, जितनी दान और भिक्षा। परन्तु हमे मानना पडेगा कि यह कोई वहुत वडा फर्क नही है। यह तो द्राविडी प्राणायाम के ढग का सयोजन हुआ, अर्थात् पहले तो धनवानो को खुला छोड दे कि वे गरीवो को पेट भर लूट ले और फिर उन्ही धनवानो पर कर लगाकर उसकी सहायता से गरीवो के सामने मदद और सहूलियतो के रूप मे कुछ टुकडे फेक दे। यह सारी प्रक्रिया अस्वाभाविक, अपमानजनक और अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो के विपरीत है।

तीसरे प्रकार की योजना वह है, जिसे सोवियत रूस ने अपनाया है। रूस की पचवर्षीय योजनाओ ने सारे ससार का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित कर लिया है। सवने उन्हे सराहा भी, क्योकि वे ऐसे सिद्धान्तो पर

[१] 'दि फॉल ऑव दि आइडल्स,' पृ० १०५

बनाई गई थी, जो पूजीवादी नही थे। सारे ससार के लोगो ने शोषित मानवता के उद्धारक के रूप मे उनका स्वागत किया। यह भी सत्य है कि यह योजना सर्वागपूर्ण थी और उसकी मदद से सोवियत रूस अपनी जनता के जीवन-स्तर को ऊपर उठाने मे सफल भी हुआ। उसने पूरी सख्ती से काम लिया और पूजीपति-वर्ग को जड-मूल से उखाडकर फेक दिया। कत्ले-आम हुए, राष्ट्र-द्रोहियो को अदालतो मे खडा करके उन्हे कठोर सजाएं सुनाई गई और मैदान साफ कर दिया गया। इस प्रकार सर्वहारा वर्ग की तरफ से साम्यवादी दल सर्वसत्ताधीश बन गया और व्यक्ति की स्वाधीनता को कठोरता के साथ कम कर दिया गया। फिर भी आर्थिक नव-निर्माण की दिशा मे रूस का यह प्रयोग एक बहुत बडी चीज माना जाता है, इसलिए कि उसने पूजीवाद को उसके ऊचे सिहासन से घसीटकर नीचे गिरा दिया और जनसाधारण के हितो को सामने रखकर सयोजन किया। उद्योग, कारखाने और भीतरी तथा बाहरी व्यापार को राज्य ने अपने हाथो मे ले लिया और इन सबका नियन्त्रण एव सचालन जनता के हित मे किया। इस कारण रूस की क्रान्ति ने ससार के गरीब, शोषित और पद-दलित राष्ट्रो को स्वभावत. नई आशा से भर दिया।

परन्तु अब इसकी भी प्रतिक्रिया शुरू हो गई है। अबतक जो लोग रूस की क्रान्ति और रूस की अर्थ-व्यवस्था की तारीफ करते थे, उनका भ्रम दूर हो गया है। उनकी आखे खुलने लगी है। लुई फिशर, मैक्स ईस्टमन, आन्द्रे जीद और फ्रेडा अटली जैसे लेखक और विचारक वर्षो रूस मे जाकर रहे। इन्होने रूस का प्रयोग दुनिया के सामने रक्खा और बडे उत्साह के साथ दुनिया को वह समझाया भी। परन्तु रूस की यह क्रान्ति जिस दिशा मे जा रही है, उसे देखकर इन्हीको अब बड़ी निराशा हो रही है। आरभ में यह वताया गया था कि साम्यवादी समाज प्रजातन्त्री होगा, उसमे वर्ग नही होगे और वह अन्तर्राष्ट्रीय होगा, अर्थात् राष्ट्र-राष्ट्र के बीच उसमे कोई भेद-भाव नही होगा। कहा गया है कि सर्वहारा अधिनायक-तन्त्र [illegible] तात्कालिक संक्रमण काल की व्यवस्था-मात्र है। उसके बाद [illegible]

बताया जाता था और क्रान्ति का अन्तिम [illegible]

वताया जा रहा था। परन्तु आज वास्तविकता क्या है ? समाज से वर्ग हटने के वजाय व्यवस्थापको का एक नया वर्ग वहा निर्माण हो गया है और वह सारे समाज पर हावी हो गया है। इसके अलावा आमदनियो की विषमता भी वढ रही है, यहातक कि ८० १ का अन्तर हो गया है। व्यक्तिगत स्वाधीनता पर लगी वन्दिशो के जरा भी कम होने के चिह्न कही दिखाई नहीं दे रहे है और अधिनायक-तन्त्र इस हद तक पहुच गया है कि सारा समाज सैनिक अनुशासन मे जकड दिया गया है। इसके अतिरिक्त जव देश राष्ट्रीयता की ओर फिर लौट आता है तो उसके अनिवार्य परिणाम अर्थात् साम्राज्यवाद से वचना असम्भव हो जाता है—फिर उसकी छाप भले ही 'समाजवादी' हो।

इस रूप-परिवर्तन का असली कारण वहुत दूर नही है। जहा नियन्त्रण केन्द्रित और सयोजन विराट होगा, निश्चय ही वहा व्यक्ति की स्वाधीनता कुचली जायगी, नष्ट होगी और इस परिस्थिति मे निर्माण होनेवाली राजसत्ता शासको को नीति-भ्रष्ट किये विना नही रहेगी—फिर वे कितने ही महान् और वडे दिलवाले क्यो न हो। प्राध्यापक जोड ने अपनी पुस्तक गाइड टु दी फिलासफी ऑव मॉरल्स एण्ड पॉलिटिक्स—'नीति और राजकारण के तत्त्वज्ञान की मार्ग-दर्शिका'—मे लिखा है—

"इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अधिनायक तन्त्र की प्रकृति ही ऐसी है कि ज्यो-ज्यो उसकी उम्र वढती जाती है, वह कम नही अधिक सख्त और आलोचना के प्रति अधिक असहिष्णु वनता जाता है। ससार की वर्तमान घटनाए इस कथन की पुष्टि करती है। परन्तु साम्यवाद के सिद्धान्त इतिहास के इस अनुभव के ठीक विपरीत दावा करते है। कहते है कि एक निश्चित समय पर साम्यवादी शासन के इजिन अपना मुह फेर लेगे और सत्ता का त्याग कर देगे तथा अवतक लोगो को स्वतन्त्रता देने से जो इन्कार किया जाता रहा है, वह दे दी जायगी। परन्तु न तो इतिहास और न मानस-शास्त्र इस नतीजे पर पहुचाने मे हमारी मदद करता है।"

---

[१] वर्नहम कृत 'मेनेजरियल्स रेवोल्यूशन'

यह सच है कि सोवियत रूस मे उत्पादन के साधनो और औजारो पर राज्य का स्वामित्व है। परन्तु सबसे बडी वात तो यह है कि स्वय राज्य-यन्त्र पर किसका प्रभुत्व या स्वामित्व है ? राजनैतिक और आर्थिक मामलों पर केन्द्रीय शासन की सम्पूर्ण सत्ता है और इस कारण सारी सत्ता सर्वोच्च अधिनायक और उसके प्रबन्धको की बनाई गई नौकरशाही के हाथो मे अपने-आप इकट्ठी हो गई है। डॉ० ज्ञानचन्द ने अपनी 'इडस्ट्रियल प्रॉवलम्स ऑव इडिया' की भूमिका मे लिखा है

"हमे मानना ही पड़ेगा कि जहा उत्पादन की सम्पूर्ण प्रणाली पर केन्द्र की अधिसत्ता होती है, वहा मनमानी होगी ही और यह मनमानी स्वभावत बड़ी खतरनाक है। यो तो अपनी आजीविका के लिए किसी एक मालिक का मुहताज होना भी बुरा है, परन्तु इस प्रकार राज्य का मुहताज होना तो हजार-लाख गुना बुरा है, क्योकि वहा काम देने-दिलाने के सारे साधन उसीके हाथो मे होते है।"

प्राध्यापक गिन्सवर्ग ने अपनी पुस्तक 'साइकोलॉजी ऑव सोसाइटी' मे कहा है

सत्ता का केन्द्रीकरण करनेवाले हर प्रकार के शासन मे अततोगत्वा सत्ता के सारे सूत्र एक हाथ मे पहुच जाते है। हमे कहा जाता है कि राज्य गलकर गिर जायगा, परन्तु उस सूरत मे निश्चय ही कोई नई अल्प-सख्या सत्ता को हथिया लेगी। इसलिए यदि पुनर्निर्माण करना है और यदि आप चाहते है कि वह सच्चा पुनर्निर्माण हो तो आपको विकेन्द्रीकरण की ही राह पकडनी पडेगी।"

इस प्रकार जनता के तीन सिद्धान्तो—राष्ट्रीयता, प्रजातंत्र और जीविकोपार्जन—के प्रकाश मे देखने पर नाजी, अमरीकी और रूसी तीनों प्रकार की योजनाए हमे अपने आदर्श की ओर नही ले जा सकती। रूसी योजना जीविकोपार्जन के लक्ष्य को बहुत बडी हद तक पूरा करती है, परन्तु केवल जीविकोपार्जन ही काफी नही है। उसके साथ-साथ आजादी की और मनुष्य के अपने व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास की भी गुजाइश और अवसर का होना जरूरी है।

तब हमारे सामने क्या उपाय है ? यह कि जीवन को सादा बनावे,

सत्ता और सम्पत्ति का विकेन्द्रीकरण हो और गृहोद्योगो के ढग पर औद्योगीकरण हो। आज जबकि दूसरे तमाम आर्थिक सिद्धान्तो ने अधेरी गली मे छोड दिया है, गाधीजी के आर्थिक विचार असाधारण महत्व पाते जा रहे है। उसका कारण उनकी अनोखी दृष्टि है। एक समय था, जब गाधीजी के विचार लोगो को स्वप्न, सनक और अव्यावहारिक मालूम होते थे, परन्तु उसके बाद इस देश मे तथा ससार मे अन्यत्र मनुष्य-जाति को जो अनुभव हुए है, उन्होने उसे गृहोद्योगो के आधार पर विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के लाभो और परिणामो के बारे मे अधिक गहराई से विचार करने पर मजबूर कर दिया है। प्राध्यापक कोल जैसे ब्रिटेन के प्रमुख अर्थशास्त्री को यह स्वीकार करना पडा है कि "खादी और गृहोद्योगो के विकास के लिए गाधीजी ने जो अभियान प्रारभ किया है, वह भूतकाल को फिर से लौटा लाने के लिए किया गया अव्यावहारिक प्रयास नही है, बल्कि भारत के ग्रामीणो की भयकर गरीबी को दूर करके उनके जीवन-स्तर को ऊचा उठानेवाला एक व्यावहारिक और लाभदायक कदम है।"[1] इसलिए गाधीवादी योजना सामयिक, व्यावहारिक और एक जरूरी चीज है, क्योकि युद्ध-जर्जर ससार के सामने वह एक ऐसी अर्थ-रचना प्रस्तुत करती है, जो शान्ति, प्रजातन्त्र और मानवी मूल्यो पर आधारित है।

: ४ :

समाज की आर्थिक रचना कैसी हो, इसके बारे मे गाधीजी के विचार जिन सिद्धान्तो पर आधारित है, उनका अब हम विश्लेषण करे। जबतक हम इन मूलभूत कल्पनाओ को नही समझ लेगे तबतक हम शायद यह नही जान पायगे कि वे ग्रामोद्योगो पर और विकेन्द्रित उत्पादन पर इतना जोर क्यो देते थे।

सादगी

गाधीजी पुरातनपन्थी और प्रगति-विरोधी नही है। वह घडी के

[1] 'ए गाइड टू माडर्न पॉलिटिक्स' जी डी एच कोल, पृ० २६०

काटे पीछे नही हटा रहे है। वास्तव मे वह एक व्यावहारिक आदर्शवादी है। इसलिए वह पहचान गये है कि वर्तमान सभ्यता का रोग क्या है। उन्होने इस रोग से वचने का उपाय भी वता दिया है और इसमे भी वह जमाने के पीछे नही, आगे ही है। आज की पश्चिमी सभ्यता भौतिक समृद्धि को वहुत चाहती है। वह चाहती है कि एक प्रगतिशील व्यक्ति या राष्ट्र इन सुख-साधनो और विलास की सामग्री को जितना भी जुटा सके, जुटावे। गाधीजी ने अपने 'हिन्द स्वराज्य' मे लिखा भी है कि "आधुनिक सभ्यता की मुख्य पहचान यह है कि इसके भक्त शरीर के सुखो को अपने जीवन का आदर्श मानते है।"

परन्तु भारतीय आदर्श यह नही रहा है। गाधीजी कहते है, "मन वडा चचल है। उसे जितना अधिक मिलता जाता है, उसका लालच वढता ही जाता है और अततः उसे कभी सन्तोप नही होता। विषयो का हम जितना सेवन करते है, वे वढते ही जाते है। इसलिए हमारे पूर्वजो ने इनके भोग की सीमा निश्चित कर दी। उन्होने देखा कि सुख मन की चीज है। धनवान मनुष्य सुखी होगा ही, ऐसी वात नही है और न यही सच है कि जिसके पास धन नही है, वह जरूर ही दुखी रहेगा। धनवान अक्सर दुखी देखे गये है और गरीब सुखी। यह सब देखकर और अनुभव करके हमारे पुरखो ने हमे भोग-सामग्री से दूर रहने का उपदेश दिया है। हम यन्त्रो का आविष्कार नही कर सकते थे, सो वात नही है; परन्तु हमारे पूर्वज जानते थे कि यदि हम अपना दिमाग इन चीजो मे लगावेगे तो हम उनके गुलाम वन जायगे और अपनी नैतिक शक्ति को खो देगे। इसलिए बहुत गहरे विचार के बाद उन्होने यही निश्चय किया कि हम केवल वही करे, जो अपने हाथो और पावो से कर सकते है। उन्होने देखा कि सच्चा सुख और आरोग्य अपने हाथ-पाव और शरीर का उपयोग करने ही मे है।"[1]

गाधीजी कहते है, "मै नही मानता कि जरूरते बढाने से और इन्हे पूरी करने के लिए यन्त्रो की सहायता लेने से मानव-जाति अपने आदर्श की तरफ एक कदम भी वढ सकती है। समय और दूरी को नष्ट करने की इस

१ 'हिन्द स्वराज', पृ० ८७-८८

अभिलापा को—पाशविक विकारो को वढाना और उन्हे शान्त करने के लिए पृथ्वी के उस छोर तक दौड लगाना—मैं वहुत वुरा मानता हू।"[१]

एच० जी० वेल्स ने एक पुस्तक लिखी है—'थिंग्स टू कम'। उसमे थ्योटोकोपुलस कहता है

"आखिर इस प्रगति के माने क्या है? इससे क्या लाभ है? वस वढे चलो, वढे चलो! पर कहा? हम कहते है, रुक जाओ। जीवन का उद्देश्य है सुखमय शात जीवन।"

इस प्रकार आधुनिक सभ्यता की विपुलता के प्रवाह मे डूवे हुए लोग कहेगे, गाधीजी के विचार तो सन्यासियो के-से है। परन्तु सच यह है कि गाधीजी ने वर्तमान अव्यवस्था और राजनैतिक सघर्प की जड मे पहुच-कर देख लिया है और हमारी बुराइयो के असली कारण पर अपनी अगुली रख दी है। एक प्रसिद्ध अगरेज लेखक ने लिखा है, "वास्तव मे समाज-वाद और साम्यवाद भी लालची पूजीवाद के ही भाईवन्द है।" इसका कारण यह है कि धन को और उसकी सहायता से खरीदी जानेवाली चीजो के सग्रह को दोनो सर्वोपरि महत्व प्रदान करते है। इसीलिए तो वरट्रैण्ड रसेल ने कहा है, "यदि कभी समाजवाद आया तो वह समाज के लिए तभी लाभदायक हो सकेगा, जव वह पैसे को नही, वस्तुओ को महत्व देगा और इस आदर्श पर दृढता के साथ चलेगा।"[२]

यूनान मे एक अति सुन्दर युवक की कहानी है, जो अपने ही रूप पर मोहित होकर घुल-घुलकर मर गया। वर्तमान सभ्यता भी इसी प्रकार अपने वैभव और विपुलता पर मोहित है, इसलिए शायद इसके भाग्य मे भी उसी युवक की भाति अपने रूप पर मोहित होकर घुल-घुलकर मर जाना लिखा है। धन और भौतिक सम्पत्ति को पाने के लिए एक अन्धी दौड लग रही है। उसने ससार को शोपण, कठोर साम्राज्यवाद और नर-सहार के भवर मे ढकेल दिया है। इसलिए यदि हम अपने विचारो का परीक्षण करके अपने आदर्शो और जीवन के प्रति रुख को नही वदलेगे तो चतुर-से-चतुर सयोजन और विद्वान-से-विद्वान अर्थशास्त्रियो की तरकीवें और मार्ग-

[१] 'यग इण्डिया'—१७-३-१९२७

[२] 'रोड्स टु फ्रीडम'

दर्शन भी ससार को अतिम सर्वनाश से नही बचा सकेगी। सचमुच, हम बड़े जबरदस्त सासारिक मोह में फस गये है। हमारी सारी बुद्धि और शक्ति दौलत कमाने मे लगी हुई है। हमने उसीको सबकुछ मान लिया है। पैसा पहले-पहल विनिमय के एक साधन के रूप मे आया, किन्तु आज तो वही सम्पत्ति बन बैठा है और उसके अत्याचारी शासन मे ससार पिसा जा रहा है। सोने के पीछे पागल मिडास की कहानी हम जानते है, जो बडी अर्थ-पूर्ण है। समय रहते इस कहानी से हमे शिक्षा ग्रहण कर लेना चाहिए, क्योकि यदि इस पागलपन को हमने दूर नही किया तो पैसे पर हम तमाम मानवी मूल्यो को निछावर कर देगे और अत मे हम स्वय भी सोने की, किन्तु निष्प्राण, मूर्ति बन जायगे। हमारे सारे सम्वन्धो का आधार केवल पैसा ही न हो। मानव-जीवन मे सबसे अच्छी चीज वह नही है, जिसमे एक का लाभ और दूसरे की हानि है। राष्ट्र का सच्चा धन वडे-वडे आलीशान महल, भीमकाय कारखाने और विकास की सामग्री नही, बल्कि सच्चे, नेक, सस्कारशील और नि स्वार्थ नागरिक—स्त्रिया और पुरुष—है। बर्न्स ने कहा है, "गरीब होने पर भी ईमानदार आदमी राजाओ से भी अधिक इज्जत पाता है।"

रवि ठाकुर पूछते है, "केवल 'जोडो-जोडो-जोडो' मे क्या लाभ है? आवाज को अधिक-से-अधिक ऊचा करने से वह कर्ण-कटु—कर्कश—ही बनती है। सगीत तो स्वर के सयम और उसके तालबद्ध करने मे है।"[१]

ईसा से कोई चारसौ वर्ष पूर्व आचार्य कौटिल्य भारत के वहुत वड़े विचारक हो गये है। वह अत्यन्त व्यवहार-कुशल और चतुर माने जाते है। अपने अर्थशास्त्र मे उन्होने लिखा है :

"समस्त शास्त्रो ने इन्द्रियो के सयम को सवसे ऊचा वताया है। जिसने इन्हे अपने वश मे नही किया, जिसका जीवन इसके विपरीत है, उसका नाश अवश्यम्भावी है, चाहे वह सारी पृथ्वी का स्वामी हो।"

पूर्व के लोगो को इन वचनो मे पूरी-पूरी श्रद्धा होती है। उनके लिए ये सूर्य के समान प्रत्यक्ष है। उन्हे ये अपनी माता के दूध के साथ ही मिल

---

१ 'थॉट्स फ्रोम टैगोर'

जाते है। परन्तु पश्चिम के लोगो को ये विचार सतयुगी और हवाई लगते है। इन्हे वे निरी भावुकता समझते है। इसका कारण भी है। आधुनिक अर्थशास्त्र की रचना पूरी तरह से पश्चिमी आदर्शों के आधार पर हुई है। पूर्व अभी उसे अपने सिद्धान्तो और विचारो से प्रभावित नही कर सका है। परन्तु हमे यह नही भूलना चाहिए कि पूर्व का भी अपना अर्थशास्त्र रहा है—आज भी है और वह यदि अधिक नही तो कम-से-कम इतना ही शास्त्राधारित है, जितना कि पश्चिमी अर्थशास्त्र। इसलिए अपने अर्थशास्त्र-सम्बन्धी विचारो को दृढता के साथ प्रकट करने मे गाधीजी ने कभी सकोच और झिझक का अनुभव नही किया, क्योकि वे भारतीय अर्थशास्त्र पर आधारित है। गाधीवाद का सबसे पहला और मूलभूत सिद्धान्त है सादगी। गाधीजी नही मानते कि जीवन जितना जटिल होगा, उतना ही वह प्रगतिशील होगा। उसकी दृष्टि मे तो प्रगतिशील अर्थ-रचना वह है, जिसमे व्यक्ति और समाज का जीवन अधिक सादा और पूर्ण हो।

गाधीजी के विचार मे औद्योगिकता का अर्थ है भौतिक सम्पत्ति के लिए अनवरत दौड। इसमे नीति और मानवीय मूल्यो का ह्रास ही होता है। इसीलिए उन्होने इसके भारत मे प्रवेश का बडी दृढता के साथ विरोध किया है। इस बारे मे वह किसीसे समझौता करने के लिए तैयार नही है।

"राष्ट्रीय सयोजन के बारे मे आज आम तौर पर जो विचार लोगो मे पाये जाते है, उनसे मेरे विचार भिन्न है। मै नही चाहता कि हमारा सयोजन औद्योगीकरण के ढग पर हो। मै तो चाहता हू कि हमारे गाव इस रोग की छूत से दूर ही रहे।"[१]

सादगी के नैतिक और मनोवैज्ञानिक मूल्य तो है ही। परन्तु अफलातून के शब्दो मे कहे तो औद्योगीकरण के द्वारा धन के पीछे "आखे मूदकर" दौडना दूसरे कारणो से भी बुरा है और इसलिए गाधीजी उसके विरुद्ध है। यदि सदा जागरूक रहकर हम अपने ही परिश्रम के सहारे जीते है तो अधिक-से-अधिक स्वावलम्बी अर्थात् आजाद रहते है। औद्योगीकरण द्वारा तो आर्थिक गुलामी की जजीर मे बुरी तरह जकड लिये जाने का खतरा होता है। इसलिए जहा तक हमारी रोजमर्रा की जरूरतो और साधारण

१ 'हरिजन', २९-९-१९४०

सुविधाओ का सम्बन्ध है, वह इनके केन्द्रित उत्पादन को बहुत बुरा मानते है और कहते है कि इनके बारे मे जहातक सभव हो, हर मनुष्य को स्वतन्त्र और अपने परिश्रम पर ही निर्भर रहना चाहिए। उनका कथन है कि हमारी सारी प्रवृत्तियो और कामो का उद्देश्य मानव के व्यक्तित्व का विकास हो और वह आजादी के वातावरण मे हो। इसीलिए उद्योगों को अपने-अपने स्वाभाविक क्षेत्रो मे फैला देने पर वे जोर देते है। यह सच है कि बडे पैमाने पर उत्पादन करने से चीजे अधिक परिमाण मे बनने लगेगी और हमे बडी सहूलियत हो जायगी, परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि हमे कदम-कदम पर दूसरे का मुह ताकना होगा। स्वतन्त्र होने के लिए अपनी आजादी खोकर हम अपनी दुर्गति कर लेगे। तब सच्चे प्रजातन्त्र के कही दर्शन भी नही होगे, क्योकि प्रजातन्त्र वही जिन्दा रह सकता है अथवा यो कहे कि प्रजातन्त्र का जन्म वही हो सकता है, जहा अपना तत्र चलानेवाले प्रजाजनो मे से हर आदमी और औरत अपने जीवन का नियमन खुद करने की क्षमता—योग्यता—रखती है।

अहिंसा

गाधीजी के आर्थिक विचारो का दूसरा आधारभूत सिद्धान्त अहिसा है। गाधीजी का निश्चित मत है कि हिसा के बल पर, चाहे वह किसी प्रकार की हो, कभी स्थायी शान्ति अथवा सामाजिक या आर्थिक नवरचना की स्थापना नही की जा सकती। सच्चा प्रजातत्र और मनुष्य के व्यक्तित्व का सही-सही विकास अहिसक समाज मे ही सम्भव है। हिसा से हिसा बढती है और जिस चीज को हिसा के बल पर प्राप्त किया जाता है उसकी रक्षा के लिए और भी अधिक हिसा की जरूरत होती है। हिसा और सच्ची स्वतन्त्रता एकदम बेमेल चीजे है। हिसा के बल पर प्राप्त की हुई आजादी खूनी ही कही जायगी, क्योकि "जो हाथ मे तलवार पकडेगे उन सबकी मौत तलवार से ही होगी।" इसीलिए गाधीजी हिसा से कोई सम्बन्ध नही रखना चाहते थे। समाज का सयोजन अपने-आपमे कोई साध्य या आदर्श नही है। वह तो एक साध्य का साधन-मात्र है और यदि मान ले कि वह साध्य है तो भी वह नही मानते कि सच्चा साध्य कभी बुरे साधनो से प्राप्त किया जा सकता है। साध्य की अच्छाई की रक्षा तभी हो सकेगी जब

उसकी प्राप्ति के साधन भी उतने ही अच्छे होगे। इसीलिए गाधीजी कहते है कि समाजवादी समाज की रचना भी खूनी क्रान्ति के द्वारा नही, अहिसक उपायो के द्वारा ही की जानी चाहिए।

यह अहिसा कोई धार्मिक यम-नियम नही है और अकेले गाधीजी ही इसकी जरूरत और महत्व पर जोर नही दे रहे है। प्राध्यापक लास्की ने सामाजिक और राजनैतिक घटनाओ के विकास-क्रम का गहराई से अध्ययन किया है। इसके वाद उन्होने स्वीकार किया है कि "द्वेष और हिसा हमारे काम की चीजे नही है। क्रान्ति तो समझा-बुझाकर अर्थात् विचार-परिवर्तन से ही होनी चाहिए, क्योकि दूसरे तमाम दोषो मे द्वेप अपने मालिक के लिए एक नासूर (कैसर) के समान है। दूसरे की जिस प्रकृति या स्वभाव की हम निन्दा करते है, द्वेष उसी को हमारे अन्दर पैदा कर देता है। आज के जमाने मे यदि वलवान पुरुष चाहता है कि वह सदा वलवान वना रहे तो उसे सच्चा और न्यायशील भी वनना पडेगा। यूरोप के आध्यात्मिक जीवन का निर्माता सीजर अथवा नेपोलियन नही, ईसा है। इसी प्रकार पूर्व की सस्कृति चगेज खा और अकवर की अपेक्षा बुद्ध द्वारा अधिक प्रभावित हुई है। अगर हम जिन्दा रहना चाहते हे तो हमे इस सत्य को समझना ही होगा। हम द्वेष और शत्रुता पर प्रेम से ही विजय पा सकते है और असत् पर सत् के द्वारा। नीचता से तो नीचता ही पैदा होती है।"[1]

'स्ट्रैटेजी ऑव फ्रीडम' मे लास्की ने लिखा है

"हम मानते है कि जोर-जवरदस्ती से लादी गई चीज उतने दिन नही टिकती, जितनी समझा-बुझाकर गले उतरी हुई टिकती है।"

पहला महायुद्ध इसलिए छेडा गया कि ससार मे प्रजातत्र की रक्षा और स्थायी शान्ति की स्थापना हो, परन्तु युद्ध मे और उसके वाद भी जर्मनी को इतनी वुरी तरह कुचला गया कि उसकी प्रतिक्रिया के रूप मे उसने हिटलर को जन्म दिया और अव चूकि हिटलर को उसी प्रकार हिसा से कुचल दिया गया है तो इस हिसा-जनित शान्ति के अन्दर से निश्चय ही कोई और वडा हिटलर पैदा हुए वगैर नही रहेगा। यह कहने से काम नही

[1] 'ग्रामर ऑव पालिटिक्स', पृ० २८९

चलेगा कि "ससार मे तो हिसा सदा से चली आई है और वुद्ध या गाधी के कहने से वह जानेवाली नही है। मनुष्य मूलत आखिर एक पशु ही तो है।" इस वात को अव कोई नही मानता। अत यह वेकार का बुद्धिवाद है कि ससार मे खून-खरावी जारी ही रहनेवाली है। मारकाट और खून-खरावी से ससार मे कभी सच्ची शान्ति, सुख और समानता स्थापित नही हो सकती। इनका नतीजा तो मौत और सर्वनाश ही होगा। ससार की घटनाए इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। अतलातिक चार्टर के प्रणेता भी उसमे लिखते है कि "वास्तविक या आध्यात्मिक कारण इतने वलवान है कि ससार के समस्त राष्ट्रो को अव वल का प्रयोग छोडना पडेगा।" इसलिए मै तो गाधीजी की अहिसा को कोरी भावुकता नही मानता। उसमे ठोस वास्तविकताओ की स्वीकृति और वर्तमान निराशा की खाई मे से ससार के उद्धार का रामवाण उपाय है।

गाधीजी के अर्थशास्त्र को हम अहिसा का अर्थशास्त्र कह सकते है, क्योकि उसमे उनकी अहिसा ओत-प्रोत है। पूजीवाद का आधार है 'अतिरिक्त मूल्य' को हडप जाना, यह सरासर हिसा है। यत्र तो पूजीवाद का गुलाम-मात्र है। वह मजदूरो को हटाकर मुट्ठीभर आदमियो के हाथो मे सपत्ति और सत्ता को केन्द्रित कर देता है। इस प्रकार सपत्ति हिसा की मदद से एकत्र की जाती है और उसीकी मदद से उसकी रक्षा भी की जाती है। इसलिए गांधीजी वडे-वडे यन्त्रो और वडे पैमाने पर उत्पादन के विरोधी रहे हैं। इनको वे ससार के वर्तमान सकटो का मूल कारण मानते हैं। वह कहते है

"मेरा सुझाव है कि यदि भारत को अहिसा के जरिये अपना विकास करना है तो उसे वहुत-सी चीजो को विकेन्द्रित करना होगा। जवतक पास मे पर्याप्त सैन्य वल नही होता, केन्द्रीकरण जारी नही रह सकता और न उसकी रक्षा ही की जा सकती है। सीधे-सादे घरो मे दूसरो को ललचाने लायक कुछ नही होता। इसलिए उनकी रक्षा के लिए लम्वे-चौडे साधनो की भी जरूरत नही होती, जवकि चोर-डाकुओ से धनवानो के महलो की रक्षा करने के लिए पुलिस और फौज के वडे-वडे दस्तो की जरूरत होती है। यही हाल वडे-वडे कारखानो का है। ग्रामीण सभ्यता के ढग

पर संगठित भारत को बाहरी आक्रमणों का इतना खतरा नहीं होगा, जितना जल, थल और हवाई सेनाओं से रक्षित शहरी भारत को।'[१]

ज़ोर-जबरदस्ती से और शक्ति के प्रयोग से आधुनिक समाज में आर्थिक समानता की स्थापना करने के भी गांधीजी विरोधी हैं।

"जबतक समाज के करोड़ों भूखों और मुट्ठीभर अमीरों के बीच जबरदस्त खाई बनी रहेगी, तबतक अहिंसक सरकार की स्थापना स्पष्ट ही असम्भव है। स्वतंत्र भारत में गरीब-से-गरीब और अमीर-से-अमीर के हाथों में समान सत्ता होगी। तब नई दिल्ली के आलीशान महलों और गरीब मजदूरों की दरिद्र झोंपड़ियों के बीच यह अन्तर एक दिन भी नहीं टिकनेवाला है। यदि देश के धनवान अपनी संपत्ति का और उससे मिलनेवाली सत्ता का खुद अपनी इच्छा से त्याग नहीं कर देंगे और सबको अपना साझीदार नहीं बनावेंगे तो एक-न-एक दिन महाभयंकर खूनी क्रान्ति होकर रहेगी। ट्रस्टीशिप (संरक्षक) वाले मेरे सिद्धान्त की लोग चाहे कितनी ही खिल्ली उड़ावें, मैं उसपर दृढ़ हूं। यह सच है कि उसका अमल मुश्किल है, परन्तु इस तरह तो अहिंसा का अमल भी मुश्किल है। मेरा ख्याल है कि हिंसा के रास्ते को तो हमने बहुत आजमा लिया। वह कहीं भी सफल नहीं हुआ है। कुछ लोग कहते हैं कि रूस में वह बहुत बड़ी हद तक सफल हो गया है। परन्तु मुझे तो शक है। इतनी जल्दी हम उसके बारे में इतना बड़ा दावा नहीं कर सकते। . हमारी अहिंसा तो अभी प्रयोगावस्था में ही है। आज तो संसार को दिखाने लायक हमारे पास कुछ भी नहीं है। परन्तु जहांतक मैं देख सका हूं, यह पद्धति हमें धीरे-धीरे सही अर्थात् समानता की दिशा में जरूर ले जा रही है और अहिंसा तो हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया है न! इसलिए यदि हृदय-परिवर्तन होगा तो वह हमेशा के लिए ही होगा। जो समाज या राष्ट्र अहिंसा के आधार पर अपना निर्माण करता है, उसके अन्दर भीतरी तथा बाहरी आक्रमणों का भी मुकाबला करने की पूरी शक्ति होती है।"[२]

प्राध्यापक हक्सले का भी मत है—"कोई भी आर्थिक सुधार चाहे

---

[१] 'हरिजन', ३०-१२-१९३४

[२] 'कान्स्ट्रक्टिव प्रोग्राम', पृ० १८-१९

अपने-आपमे कितने ही अच्छे हो, व्यक्ति और समाज मे अभीष्ट परिवर्तन नही ला सकते, जबतक कि वे अभीष्ट सदर्भ मे और अनुरूप तरीको से नही किये जायगे। जहातक राज्य से सम्बन्ध है, अभीष्ट सदर्भ का अर्थ है सार्वत्रिक विकेन्द्रीकरण और स्वायत्त शासन। और सुधारो के जारी करने का अभीष्ट तरीका है अहिसा की पद्धतिया।" गाधीजी की भाति हिसा की सहायता से रूस मे स्थापित समाजवाद को प्राध्यापक हक्सले भी बुरा मानते है।

"निर्दयता और जोर-जबरदस्ती से रोष पैदा होता है और रोष को दबाने के लिए फिर जबरदस्ती तथा ज्यादती करनी पड़ती है। जैसाकि हम प्राय देखते है, हिसा का मुख्य परिणाम यही होता है कि हर बार अधिकाधिक हिसा का अवलम्बन करना पडता है। सोवियत सयोजन का यही हाल हुआ है। उसका उद्देश्य अच्छा है, परन्तु उसे पूरा करने के लिए वहा ऐसे तरीको से काम लिया है, जो गलत है। स्वभावत इसके वे ही परिणाम हुए है, जिन्हे क्रान्ति के आद्यजनको ने कभी सोचा भी नही था।"[1]

गाधीजी के मत के अहिसक समाज मे शोषण के लिए कही कोई गुजाइश नही होगी, क्योकि उत्पादन केवल स्थानीय और तात्कालिक जरूरत के लिए होगा, दूर के बाजारों मे मुनाफा कमाने के लिए नही। प्रत्येक गाव या ऐसे कुछ गावो का समूह स्वशासित और स्वाश्रयी होगा। इसलिए कठोर केन्द्रित सयोजन की जरूरत ही नही होगी। तभी लोग सच्ची आजादी और लोकतन्त्र का आनन्द पा सकेगे। नि सन्देह इन छोटी-छोटी स्वशासित प्रजासत्तात्मक इकाइयो की सीमाए छोटी होगी, परन्तु यदि आर्थिक स्वावलम्बन को छोड दे तो उनकी सर्वसामान्य दृष्टि सकुचित नही होगी, न होनी चाहिए। छोटे-छोटे क्षेत्रो का इस प्रकार आर्थिक बातो मे स्वावलम्बी होना बुरा नही है। विचार और सस्कृति के क्षेत्र मे व्यापक राष्ट्रीयता अथवा अतर्राष्ट्रीयता से वह असगत नही है।

श्रम-धर्म की पवित्रता

गाधीजी के अर्थशास्त्र का तीसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त शरीर-श्रम की

[1] 'एण्ड्स ऐण्ड मीन्स', पृ० ७०

प्रतिष्ठा और पवित्रता है। गाधीजी मानते हैं कि शरीर-श्रम एक प्राकृतिक नियम है और आज चारो ओर जो आर्थिक अनवस्था दिखाई दे रही है, उसका मूल कारण इस प्राकृतिक नियम का भग ही है।

"बहुत बडे दुर्भाग्य की बात है कि आज करोडो लोगो ने अपने हाथो का सही उपयोग करना छोड दिया है। मनुष्य बनाकर प्रकृति ने हमे इन हाथो के रूप मे जो बहुमूल्य देन दी है, उसको बेकार करके हम प्रकृति का बडा अपराध कर रहे है, जिसकी वह हमे पूरी-पूरी सजा दे रही है।"[1]

"हमारे शरीर मे अप्रतिम सजीव यन्त्र है। इनसे काम न लेकर उनके बदले निष्प्राण यन्त्रो से हम काम ले रहे है और इस प्रकार शरीररूपी इन अनमोल यन्त्रो को नष्ट कर रहे है।"[2]

सन्त पाल का वचन है—"जो काम नही करना चाहता, उसे खाने का कोई अधिकार नही है। और जो खुद अपने हाथो से काम करता है, उसकी सदा विजय है, क्योकि वह अपना भार दूसरो पर नही डालता। उससे कोई जवाब तलब नही कर सकता। श्रीमद्भगवद्गीता मे कहा है—"जो मनुष्य देवताओ का भोग लगाये बिना पृथ्वी के फलो का उपयोग करता है वह चोर है, पापी है।"[3]

गाधीजी भी मानते है, "कर्म—श्रम—एक प्रकार से भगवान की पूजा है और सुस्त आदमी के दिमाग मे शैतान का निवास होता है।"

गाधीजी का मत है कि मनुष्य के मानसिक विकास के लिए बुद्धियुक्त शरीर-श्रम बडा जरूरी है और मन को सस्कारवान बनाने के लिए हाथो का काम उपयोगी होता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने भी इस बात को स्वीकार किया है। गाधीजी द्वारा बताई गई बुनियादी शिक्षा, जिसका दूसरा नाम वर्धा-शिक्षा-योजना भी है, इसी—काम करते-करते सीखो—सिद्धान्त पर आधारित है। अमरीका के प्राध्यापक डेवे ने भी शिक्षा के इसी सिद्धान्त पर बडा जोर दिया है।

---

[1] 'यग इ डिया', १७-२-१९२७

[2] 'यग इ डिया', ८-१-१९२५

[3] इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता ।
तैर्दत्तान् प्रदायेभ्यो यो भुड्क्ते स्तेन एव स ॥ (३-१२)

"दस्तकारी के आधार पर दी जानेवाली शिक्षा मे दूसरी किसी भी पद्धति की अपेक्षा शिक्षा-शास्त्र के सिद्धान्त अधिक भरे पडे है। उसमे सहज बुद्धि और व्यवहार—दोनो के विकास के लिए स्वाभाविक अवसर मिल जाता है।" सुन लिया और मान लिया, इसमे बुद्धि का विकास नही होता।

टॉल्स्टाय ने अनुभव से यह सीखा कि शरीर-श्रम मानसिक—वौद्धिक—काम मे बाधक होने के बजाय न केवल उसके गुणो को बढाता है, बल्कि उसे अधिक अच्छा बनाने मे मददगार होता है। इसलिए वह उसे अभिशाप समझने के बजाय आनन्द की वस्तु मानने लगे, क्योकि वह मनुष्य को अधिक स्वस्थ, अधिक आनन्दमय, काम करने के लिए अधिक योग्य और अधिक दयाशील बना देता है। शरीर-श्रम को वह मनुष्य की शान, पवित्र कर्तव्य और समाज के प्रति एक ऋण समझते थे। सैम्युएल स्माइल्स् ने कहा है, "शरीर-श्रम एक बोझ और सजा के समान भले ही लगे, परन्तु वह एक सम्मान और उत्कर्ष देनेवाली वस्तु है।" प्रिन्स क्रोपाटकिन ने 'अनारकिस्ट कम्युनिज्म' मे लिखा है, "हमारे लिए तो काम एक मनोरजन की वस्तु है और निठल्लापन कृत्रिम विकास।"

फुरसत का प्रलोभन

इसलिए जब लोग अधिकाधिक फुरसत के लिए आवाज उठाते है तो गाधीजी इसे अस्वाभाविक और खतरनाक समझते है।

"फुरसत केवल एक हद तक ही जरूरी और अच्छी होती है। भगवान ने मनुष्य को इसलिए बनाया कि वह अपने खरे पसीने की रोटी खाये और जब कोई कहता है कि हम अपनी जरूरत की सारी चीजे—रोटी भी—जादू की लकडी घुमाकर बना सकते है तो मुझे इसमे बहुत बडा खतरा दिखाई देता है। मै डर से कापता हू।"[1]

और भी

"मान लीजिये कि अमरीका से कुछ करोड़पति यहा आते है और कहते है कि हम आपके भोजन की सारी चीजे अमरीका से भेज दिया करेगे और वे हमसे अनुरोध करे कि आप कुछ भी काम न करे, हमारी दानशीलता को

---

[1] 'हरिजन', १६-५-१९३६

काम करने का मौका देने की कृपा करे तो मै उनका यह उदार दान लेने से साफ इन्कार कर दूगा खास तौर पर इसलिए कि वह हमारे जीवन के बुनियादी कानून पर ही कुठाराघात करता है।"[1]

फुरसत की इस समस्या पर बर्नार्ड शा ने अपने 'इन्टेलिजेंट वुमिन्स गाइड टु सोशलिज्म एण्ड कैपिटलिज्म' मे कुछ दिलचस्प बाते कही है।

"जो लोग जीवन को एक लम्बी छुट्टी बना देना चाहते है, वे भी अनुभव करने लगते है कि इससे भी छुट्टी पाने की जरूरत है। काम न होना बडी अस्वाभाविक बात है। उससे भी आदमी ऊब जाता है। फुरसतमन्द धनवान लगातार ऐसे निकम्मे काम करते रहते है, जो उन्हे थका देते है।"

बर्नार्ड शा ने यह भी कहा है, "जिन्हे खूब फुरसत होती है, वे कुछ न करने के बजाय सदा ऐसे कामो मे लगे रहते हैं, जो उन्हे कुछ न करने के लायक बनाये रक्खे।" अपने अप्रतिम ढग से वह कहते है, "नरक की सबसे अच्छी परिभाषा है सदा की छुट्टी।"

असल मे लोग साधारण परिश्रम को नही, लेकिन आजकल के कारखानो मे जिस प्रकार का आत्मनाशक, एक-सा और कठोर परिश्रम करना पडता है, उसे बुरा मानते है। आजकल के इस काम मे कोई आनन्द नहीं होता है। इसीलिए चारो ओर फुरसत के लिए पुकार उठती रहती है। यह फुरसत का प्रलोभन गाधीजी को एक भयकर नैतिक जाल-सा लगता है, क्योकि फुरसत पाना बहुत मुश्किल नही है। मुश्किल है, उसका अच्छा उपयोग करना, क्योकि यदि पूरा काम नही होगा तो शारीरिक, मानसिक और नैतिक पतन का खतरा सदा मानव-समाज के सामने बना रहेगा। इसलिए वह सदा कहते रहते कि शहरो के दम घोटनेवाले बन्द कारखानो की अपेक्षा गावो की खुली हवा मे और सीधे-सादे झोपडो मे किया जाने वाला काम बहुत अच्छा होता है।

शरीर-श्रम को गाधीजी केवल नैतिक और मनोवैज्ञानिक कारणो से ही जरूरी और अच्छा नही मानते। वह कहते है कि हर मनुष्य को जितना भी सम्भव हो, स्वावलम्बी होना चाहिए। इससे शोषण की जड कट

---

[1] हरिजन, ७-१२-१९३५

जायगी। आज की अर्थ-व्यवस्था मे दूसरो के परिश्रम को अन्यायपूर्वक चुराया जा रहा है। इसका परिणाम आज हम यह देखते है कि एक ओर तो वे काहिल धनवान है, जो कुछ भी शरीर-श्रम नही कर रहे है और दूसरी ओर मजदूर है, जो अत्यधिक मेहनत के कारण पिसे जा रहे है और जिन्हे फुरसत—विश्राम—की अत्यधिक आवश्यकता है। इसके स्थान पर यदि हम ऐसे ग्रामीण समाज की रचना करे, जिसके अन्दर हर पुरुष और स्त्री सहकारिता की पद्धति पर अपनी आजीविका के लिए काम किया करे तो वहा शोषण के लिए कही कोई गुजाइश ही नही रह जायगी और बीच का मुनाफा खानेवाला वर्ग अपने-आप धीरे-धीरे समाप्त हो जायगा। यह बात गुरुदेव टैगोर को समझाते हुए गाधीजी ने कहा, "मुझे स्वय अपना पेट भरने के लिए काम करने की जरूरत नही है। तब मै क्यो चरखा चलाता हू ? इस प्रकार का प्रश्न कोई कर सकता है। तो मै कहता हू कि इसलिए कि जो मेरा कमाया हुआ नही है वह मै खा रहा हू। मै अपने देश-भाइयो के परिश्रम पर जी रहा हू। अपनी जेब मे पडे हुए एक-एक पैसे का ख्याल कीजिये और सोचिये कि यह कहा से आया है। तब आप मेरी बात की सचाई को जान जायगे।"[1]

इसके जवाब मे कोई कह सकता है कि समाजवादी समाज मे ऐसा शोषण नही हो सकता। इसके लिए आदिकालीन समाज-रचना की ओर लौट चलने की कोई जरूरत नही है। परन्तु जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है, इस प्रकार का समाजवादी सयोजन तभी सम्भव होगा जब केन्द्र का कठोर नियन्त्रण होगा। उसमे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त होकर मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है। इसके अलावा रूसमार्का समाज की रचना हिसा के बगैर सम्भव ही नही, जिसे गाधीजी जरा भी बरदाश्त नही कर सकते। इसलिए जनता के लिए अधिक परिमाण मे उत्पादन करने के बजाय गाधीजी चाहते है कि कारखानो मे जनता अपनी जरूरत के लिए खुद ही उत्पादन कर लिया करे। वह कहते है, "मेरी पद्धति मे तो धातु का सिक्का नही, श्रम नकद सिक्का होगा। जो भी आदमी उस सिक्के का उपयोग कर सकेगा, वह धनवान कहलायेगा। वह इससे कपड़ा बना सकता

[1] 'यग इ डिया', १-१०-१९२१

है और अनाज भी पैदा कर सकता है। मान लीजिये कि मनुष्य को पैराफिन तेल की जरूरत है। इसे वह बना नही सकता। तो वह अपने पास के अनाज के ढेर मे से कुछ अनाज देकर उसे खरीद लेगा। यह श्रम का शुद्ध विनिमय है—स्वतन्त्र, न्याययुक्त और समान शर्तो पर। इसलिए इसमे लूट-खसोट नही है। आप कहेगे,यह तो पुरानी,असभ्य स्थिति को लौट जाना हुआ। परन्तु क्या सारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसी पद्धति से नही चल रहा है ?"[1]

रोटी के लिए शरीर-श्रम गाधीजी के लिए एक जीवन-सिद्धान्त है। उनका आग्रह है कि आदर्श समाज मे प्रत्येक मनुष्य के लिए प्रतिदिन आठ घण्टे का श्रम करने की व्यवस्था होनी चाहिए। आठ घटे काम, आठ घटे विश्राम और आठ घटे अन्य सामाजिक सास्कृतिक कार्य। उनकी दृष्टि मे स मय का यह आदर्श विभाजन है।

मानवीय मूल्य

गाधीजी के अर्थशास्त्र मे चौथा मूलभूत सिद्धान्त यह है कि जीवन के वर्तमान मूल्य ही बदल देने की जरूरत है। प्रचलित अर्थशास्त्र मे धन और भौतिक सम्पत्ति को अत्यधिक महत्व दिया जा रहा है और नैतिक तथा मानवीय मूल्यो को उसमे कही स्थान ही नही है। परन्तु हम देख रहे हैं कि अब इस पैसा-पथी मनुष्य के सौ वर्ष पूरे होने को आ गये और अब आर्थिक मूल्यो मे सशोधन करने का समय आ पहुचा है। फ्रास के अर्थशास्त्री सिस-मॉण्दी की भाति गाधीजी भी मानते है कि अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र को अलग-अलग नही किया जा सकता। जीवन को उसकी सम्पूर्णता मे ही लेकर उसके बारे मे विचार किया जाना चाहिए।

"मुझे स्वीकार कर लेना होगा कि अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के बीच मैं बहुत क्या, जरा भी भेद नही करता हू। जो अर्थशास्त्र व्यक्ति या राष्ट्र के चरित्र के लिए हानिकर है, वह अनैतिक और पापपूर्ण है। इसलिए जो अर्थ-शास्त्र दूसरे देश को अपने देश का शिकार—गुलाम—बनाने की अनुमति देता है, वह अनीतियुक्त है। जिन वस्तुओ के निर्माण मे मजदूरो को उनके परिश्रम का पूरा मुआवजा नही दिया जाता, ऐसी वस्तुओ का उपभोग और उपयोग पाप है। मेरा पडोसी अनाज का व्यापारी ग्राहको के अभाव मे

[1] 'हरिजन', २-११-१९३४

भूखो मरे और मै अमरीका का अनाज खाऊ यह भी पाप है। इसी प्रकार यदि मैं जानता हू कि अपने पडोस मे रहनेवाले कातनेवालो और बुनकरो के बनाये कपडे मै पहनू तो मेरा और उनका शरीर भी ढक जायगा, और फिर भी मै रीजेन्ट स्ट्रीट की नई-से-नई फैशन के कपडे पहनता रहू तो यह भी पाप है।"[1]

"किसी उद्योग या कारखाने का मूल्य नापने का तरीका यह नही होना चाहिए कि वह अपने अकर्मण्य हिस्सेदारो को कितना मुनाफा बाटता है, बल्कि यह हो कि उसमे काम करनेवाले मनुष्यो के शरीर, मन और आत्मा पर उसका क्या असर होता है। वह कपड़ा महगा है, जो खरीदार की कुछ पैसे की बचत करता है, परन्तु जो बम्बई की चालो मे रहनेवाले पुरुषो, स्त्रियो और बच्चो के जीवन को सस्ता बना देता है।"[2]

मानवीय मूल्यो के महत्व पर जोर देना गाधीजी के स्वदेशी-सम्बन्धी आदर्शो की आत्मा है। आधुनिक अर्थशास्त्रियो का सिद्धान्त है कि मनुष्य को अच्छी-से-अच्छी चीज सस्ते-से-सस्ते मूल्य पर खरीदनी चाहिए, परन्तु गाधीजी को इन अर्थशास्त्रियो के अन्य सिद्धान्तो मे यह सबसे अधिक अमानवीय लगता है।

रस्किन ने भी इस कल्पना की बडी तीव्र आलोचना की है। वह लिखते है

"राष्ट्रों के अर्थशास्त्र मे यह सिद्धान्त बडा अच्छा माना जाता है कि किसी भी चीज को सस्ते-से-सस्ते मूल्य पर खरीदो और महगे-से-महगे दामो पर बेचो। परन्तु जहातक मुझे पता है, मनुष्य की बुद्धि के अध पात की इतनी बुरी मिसाल इतिहास मे कही ढूढे भी नही मिलेगी। सस्ते-से-सस्ते भावो मे आप खरीदना चाहते है? अच्छा, परन्तु यह तो बताइये कि उस चीज को सस्ता किसने बनाया? आपके मकान मे आग लग जाने पर जली हुई लकड़ी का कोयला सस्ता हो सकता है, अथवा किसी भूचाल मे मकानो के गिर जाने पर ईटे भी सस्ते भावो पर मिल सकती है, परन्तु इस कारण आग और भूचाल राष्ट्र के उपकारकर्ता नही माने जा सकते। इसी प्रकार

[1] 'यग इडिया', १३-१०-१९२१

[2] 'यग इडिया', ८-४-१९२०

महगे से-महगे भावो को लीजिये। आपकी चीजो को महगी किसने किया? आपने सस्ती कीमत पर रोटी वेचकर अच्छी कमाई की, परन्तु आपको पता है, आपने वह रोटी एक ऐसे मरते हुए आदमी को वेची है जो अव दूसरी बार रोटी नही खरीद सकेगा।"[1]

परन्तु पश्चिम मे केवल पैसे और मुनाफे का ही विचार किया जाता है। इसीलिए वहा निर्लज्ज शोषण, दुखदायी वेकारी और जानलेवा मजदूरी के दृश्य दिखाई देते है। श्री जे० सी० कुमारप्पा ने ठीक ही लिखा है

"कारखानो मे काम करनेवाले मजदूरो के हाथ-पाव कटकर तरकारी वन जाय, फिर भी शिकागो के मास वेचनेवाले कारखानेदार मजदूरो की जान वचाने के लिए अपने कारखानो की मशीनो को नही रोकेंगे।"[2]

गाधीजी की दृष्टि मे मनुष्य का महत्व सवसे अधिक है। उनकी नजरो मे पैसे की अपेक्षा जान अधिक कीमती है। वह लिखते है, "हमारे माता-पिता वहुत बूढे हो गये है, अव वे कुछ भी काम नही कर सकते, परिवार के लिए एक बोझ है, उन्हे मार डालने मे ही लाभ है, इसी प्रकार छोटे-छोटे वच्चे भी वेकार है, कुछ भी नही कमाते, वरसो उनकी परवरिश करनी पडती है, इससे तो उनको मार डालना सस्ता पडेगा। परन्तु क्या हम अपने माता-पिता को और वच्चो को मार डालते है? नही, उलटे उन्हे प्रेम से खिलाने और उनकी सेवा करने मे हम एक प्रकार के आनन्द और गौरव का अनुभव करते है, भले ही इसके लिए हमे कितनी ही तकलीफ हो और खर्च उठाना पडे।"[3]

अर्थशास्त्र के सम्वन्ध मे अपने विचारो को समझाते हुए गाधीजी लिखते है

"साधारण प्रचलित अर्थशास्त्र से खादी का अर्थशास्त्र एकदम भिन्न है। जहा वह मानवीय मूल्यो को महत्व देता है, वहा प्रचलित अर्थशास्त्र

---

[1] 'अन्टु दिस लास्ट'

[2] 'व्हाई दि विलेज मूवमेंट?', पृ० १०

[3] 'हरिजन', १०-१२-१९३८

उनका ख्याल तक नही करता।"[1]

"खादी-भावना का अर्थ है पृथ्वी के हर मनुष्य के साथ सहानुभूति। उसमे उन सारी चीजो का त्याग है, जिनसे हमारे भाइयो को—प्राणिमात्र को—जरा भी हानि पहुचने की सम्भावना है।"[2]

"खादी मानवीय मूल्यो की और मिल का कपडा धातु के टुकडो का प्रतीक है।"[3]

इस प्रकार सादगी, अहिसा, श्रम-धर्म की पवित्रता और मानवीय मूल्य, इन चार सिद्धान्तो पर गाधीजी ने अपने स्वावलम्बी ग्रामीण समाज-सगठन की और विकेन्द्रित आदर्श गृहउद्योग-प्रणाली की रचना की है।

आगे अब हम विकेन्द्रीकरण के भावार्थ और उसकी महान सम्भावनाओ का विस्तृत परीक्षण करेगे, खास तौर पर भारतीय परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए।

५.

भारत अनादिकाल से ग्राम-पचायतों का देश रहा है। कहा जाता है कि इस सस्था का प्रारम्भ सबसे पहले राजा पृथु ने किया, जब उसने गगा-यमुना के दोआवा को आबाद किया। महाभारत के शातिपर्व मे और मनु-स्मृति मे ग्राम-पचायतो के निश्चित उल्लेख पाये जाते है। कौटिल्य ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व हुए। उनके अर्थशास्त्र मे भी ग्राम-पचायतो का वर्णन है। वाल्मीकि रामायण मे जनपदो का उल्लेख है। ये शायद अनेक ग्राम-पचायतो के सघ रहे होगे। निश्चय ही सिकन्दर की चढाई के समय ग्राम-पचायते इस देश मे व्यापक रूप से फैली हुई थी। मैगस्थनीज ने इनको 'पेटाइ्स' कहा है। यह पचायत का अपभ्रश प्रतीत होता है और इनका वर्णन उसने विस्तार से किया है। इनके बाद चीनी यात्री हुएनसाग और फाहियान आये। उन्होने अपने सस्मरणो मे लिखा है कि भारत "बडा उपजाऊ है" और "यहा के लोग इतने वैभवशाली और सुखी है कि जिनकी तुलना नही हो

[1] 'हरिजन', १६-७-१९३१

[2] 'यग इडिया', २२-९-१९२७

[3] 'हरिजन' ६-२-१९३४

सकती।" मध्यकाल मे पचायतो की स्थिति क्या थी, इसका वर्णन हमे शुक्राचार्य के 'नीतिसार' मे मिल जाता है।

भारतीय ग्रामीण समाज

भारत की ग्रामपचायत स्वय-शासित प्रजातत्री सस्थाए थी। वे सारे देश मे फैली हुई थी और हिन्दुओ और मुसलमानो के शासन-काल मे वे खूब तरक्की पर थी। राजवशो और साम्राज्यो के उत्थान-पतनो का इन-पर कोई असर नही पडा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की कमिटी ऑव सीक्रेसी ने अपने प्रतिवेदन मे लिखा है

"इस सीधे-सादे स्वायत्त नागरिक शासन के नीचे अनादिकाल से लोग सुख से रहते आये है।

"राज्यो के उत्थान-पतनो की ये लोग चिन्ता नही करते। गाव अपने-आपमे स्वय-पूर्ण होते है। इसलिए लोग इस वात की जरा भी परवा नही करते कि वे किसके राज्य मे है या किस राज्य को सौप दिये गए है, क्योकि इससे उनकी भीतरी व्यवस्था मे कोई अतर नही पडता।"

सर चार्ल्स ट्रेवलीन ने लिखा है, "भारत पर एक के वाद दूसरा, इस तरह अनेक वाहरी आक्रमण हुए। परन्तु ये ग्रामपचायते कुश घास की तरह जमीन मे अपनी जडे जमाये रही।" सर चार्ल्स मेटकाफ कुछ समय भारत के कार्यवाहक गवर्नर जनरल रहे थे। उन्होने सन् १८३० मे अपने प्रतिवेदन मे इन ग्राम-पचायतो को छोटे-छोटे स्वतन्त्र प्रजातन्त्र बताया है, जिनके पास लगभग सब साधन थे और जिनका वाहर किसीसे कोई खास सरोकार नही था। उन्होने लिखा है

"जहा और कुछ नही बच सका, वहा ये ग्राम-पचायते टिकी हुई है। ग्रामीण समाज के ये छोटे-छोटे सघ है। प्रत्येक अपने-आपमे एक स्वतन्त्र छोटा-सा राज्य है। भारत मे इतने फेर-वदल और क्रान्तिया आई। इन सवके वीच से भारत की जनता को वचा ले जाने का सवसे अधिक श्रेय इन्ही सस्थाओ को है। इन्होने लोगो को सुखी रक्खा है और एक हद तक उनकी आजादी की रक्षा भी की है। इसलिए मै चाहता हू कि इन ग्रामीण सस्थाओ को नही छेडा जाय। मै उन तमाम चीजो से डरता हू, जो इनका नाश करना चाहती है।"

परन्तु होनहार कुछ और ही थी। ईस्ट इडिया कम्पनी चाहती थी कि जमीन के लगान से उसे अधिक-से-अधिक आय हो। सो अबतक जो वसूली ग्राम-पचायतो की मारफत होती थी उसे बन्द करके उसने काश्तकार से सीधे लगान लेना शुरू कर दिया। इसी प्रकार अग्रेज सरकार को लगा कि न्यायदान और शासन-प्रबन्ध का भी सारा काम स्वय उसके अपने हाथो मे ही हो, यह अनुचित था, परन्तु फिर भी उसने पचायतो के शेष सब अधिकार भी अपने हाथो मे ले लिये, जो अनादिकाल से उनके हाथो मे थे। इस प्रकार ये छोटे-छोटे प्रजातन्त्र धीरे-धीरे नष्ट हो गये, जैसाकि श्री रमेशचन्द्र दत्त ने अपने 'भारत के आर्थिक इतिहास' मे लिखा है—"भारत मे अग्रेजी राज्य के बुरे परिणामो मे सबसे अधिक दुखदायी यह था कि गावो मे अपना शासन खुद कर लेने की जो प्रथा ससार मे सबसे पहले विकसित हो गई थी और अधिक-से-अधिक समय तक जारी रही, उसका इस राज्य ने नामो-निशान मिटा दिया।"

मजे की बात तो यह है कि भारत के इन छोटे-छोटे प्रजातन्त्रो ने कार्ल मार्क्स का भी ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। अपने 'दास कैपिटल' मे वह लिखते है

"भारत ने अति प्राचीन काल से एक प्रकार की ग्राम-सस्थाओ का विकास किया है, जो आज भी कही-कही है। वे इस सिद्धान्त पर आधारित है कि सारे ग्राम की जमीनो की वे स्वामिनी हो और खेती, दस्तकारी तथा अन्य प्रकार के श्रम का प्रबन्ध भी वे करे। जहा-जहा ऐसी सस्थाए नये सिरे से स्थापित होती है, वहा श्रम-विभाजन के निश्चित सिद्धान्त के आधार पर इन सब कामो का बटवारा कर दिया जाता है। अपने परिश्रम से उत्पादन करनेवाले ये स्वाश्रयी समाज होते है। इनके पास सौ एकड से लेकर हजारो एकड जमीन होती है। ये प्राय अपनी जरूरतो के लिए ही उत्पादन करते है, बेचने के लिए नही। वहा उत्पादन श्रम-विभाजन के आधार पर नही होता, चीजो की अदला-बदली के कारण वहा अपने-आप श्रम-विभाजन भी हो जाता है। भारत के अलग-अलग भागो मे इस सस्था के अलग-अलग रूप है। उसका सबसे सीधा-सादा रूप यह है कि जमीन को सारा गाव मिलकर जोतता है और जो पैदावार होती है उसे

सव सदस्य ग्रापस मे वाट लेते है। इसके ग्रलावा प्रत्येक परिवार मे सहायक उद्योग के रूप मे कताई, वुनाई, इत्यादि होती रहनी हे। उत्पादन की यह पद्धति इन स्वाश्रयी स्वावलम्वी सस्थाग्रो की सफलता ग्रौर चिरस्थायित्व का रहस्य है। एशिया मे इतने राज्य ग्रौर इतने साम्राज्य वदलते रहे, फिर भी ये सस्थाए ज्यो-की-त्यो कायम हे। इसका कारण यही ह। राजनैतिक जगत मे चाहे कितनी ही उथल-पुथल होती रहे, समाज के ग्रार्थिक तत्त्वो पर इनका कोई परिणाम नही होता।"

सर हेनरी मेन ने ग्रपनी 'विलेज कम्यूनिटीज इन दि ईस्ट एण्ड वेस्ट' मे लिखा है, "भारत की ग्राम-सस्थाए मरी हुई नही, जीवित सस्थाए थी।" ग्रौर यह कि "यूरोप की प्राचीन ग्राम-सस्थाए ग्रौर ये भारतीय ग्राम-सस्थाए लगभग एक-सी थी।" सर हेनरी ने ग्रागे लिखा है, "ध्यान देने की वात है कि इग्लैड के जो लोग पहले-पहल ग्रौर ग्रमरीका मे जाकर वसे, उन्होने भी खेती के लिए इसी प्रकार के ग्राम-सगठन वनाये थे।" प्रिन्स क्रोपाटकिन ने ग्रपनी ग्रसाधारण किताव 'म्यूचुग्रल एड' मे पश्चिम ग्रौर खासतौर पर रूस, जर्मनी, फ्रास ग्रौर स्विटजरलैड, मे इन सस्थाग्रो के ऐतिहासिक ग्रध्ययन पर काफी विस्तार से लिखा है। वह कहते है कि ये सस्थाए, इन देशो से, ग्रपने-ग्राप उत्क्रान्ति की प्रक्रिया मे नष्ट नही हुई, वल्कि स्वार्थी लोगो ने इन्हे वहुत सोच-समझकर योजना वनाकर नष्ट किया है

"सक्षेप मे यह कहना कि ये ग्राम-सस्थाए ग्रर्थशास्त्र के स्वाभाविक नियमो के ग्रनुसार ग्रपनी स्वाभाविक मौत मरी है, एक ऐसा ही निर्दय मजाक होगा जैसे यह कहना कि युद्ध के मैदान मे कटे सैनिक ग्रपनी स्वाभाविक मौत मरे है।"

भारत के ग्रार्थिक इतिहास का जिन्होने ग्रध्ययन किया हे, वे खूव ग्रच्छी तरह जानते है कि प्रिन्स क्रोपाटकिन के ये शब्द कितने यथार्थ है।

भारत के गावो ने एक तरफ एकदम खुला व्यापार ग्रौर दूसरी तरफ पूरी तरह का केन्द्रित नियन्त्रण इन दोनो सिरो को छोडकर एक सतुलित ग्रार्थिक ग्रौर राजनैतिक नीति का विकास कर लिया था। उन्होने खेती

श्रौर उद्योगो की एक ऐसी श्रादर्श सहकारी पद्धति विकसित कर ली थी कि जिसके श्रन्दर धनवानो द्वारा गरीबो के शोषण की कोई गुजाइश ही नही रहती थी। जैसाकि गाधीजी ने लिखा है, "तब उत्पादन, वितरण श्रौर उपभोग सब लगभग साथ-साथ चलते थे श्रौर पैसे के श्रर्थशास्त्र का दुष्चक्र पैदा नही हुश्रा था। उत्पादन दूर के बाजारो के लिए नही, स्थानीय श्रौर तात्कालिक श्रावश्यकताश्रो की पूर्ति के लिए किया जाता था।" सारी समाज-रचना श्रहिसा श्रौर भ्रातृ-भाव पर श्राधारित थी। इसीलिए तो गाधीजी इतने जोर से प्राचीन ढग की ग्राम-पचायतो के पुनरुज्जीवन का श्राग्रह कर रहे है, जिनके मातहत श्रच्छी खेती होती थी श्रौर विकेन्द्रित कलापूर्ण दस्त-कारिया तथा छोटी-छोटी सहकारी सस्थाए समाज की सेवा करती रहती थी।

श्रादर्श प्रजातंत्र

राजनैतिक सगठन की दृष्टि से ये ग्राम-पचायते एक प्रकार से श्रादर्श ढग की प्रजातत्र थी। जॉन स्टुश्रर्ड मिल ने लिखा है, "समाजरूपी राष्ट्र की सारी जरूरतो की पूर्ति केवल वही शासन-पद्धति कर सकती है, जिसके श्रन्दर सम्पूर्ण जनता भाग लेती है।" सच्चे प्रजातत्र की यह शर्त प्राचीन यूनान के नगर-राज्यो मे बहुत वडी हद तक पूरी हो जाती थी, जिनके श्रन्दर नगर के समस्त नागरिक एक सभा के रूप मे भाग लेते थे। लॉर्ड ब्राइस ने लिखा है, "नागरिको की यह सभा ससद, सरकार श्रौर श्रमल करनेवाला श्रमला, सबकुछ खुद ही थी। वही कानून वनानेवाली सभा थी श्रौर न्यायदान भी वही करती थी। यूनान के ये राज्य वहुत छोटे-छोटे थे। नगर के प्रबन्ध के बारे मे राय देने का जिन-जिनको श्रधिकार होता वे सव श्रासानी से एक सभा के रूप मे एकत्र हो सकते थे, जिसमे श्रादमी की श्रावाज इस छोर से उस छोर तक वडी श्रासानी से सुनी जा सकती थी। इससे नेतृत्व या श्रधिकार की जगहो के लिए जो भी उम्मीदवार होते, उनके गुणावगुणो का प्रत्यक्ष परिचय पाने का सवको श्रवसर मिलता रहता था।"[1] प्राचीन यूनान के इन नगर-राज्यो की भाति प्राचीन भारत की ग्राम-पचायते भी श्रपना भीतरी प्रबन्ध बहुत श्रच्छी तरह श्रौर शान्ति के साथ

[1] माडर्न डेमोक्रैसीज, पृ० १८७

कर सकती थी, क्योकि जो बाते सबके हिताहितो से सम्बन्ध रखती थी, उनका निर्णय सब मिलकर करते थे। अन्याय और छल-कपट का कही अवसर ही नही मिलता था। पश्चिम मे प्रजातत्र मुख्यत इस कारण असफल सिद्ध हुआ है कि इसमे चुनाव-क्षेत्र बहुत बडे-बडे होते ह। इसलिए सही आदमी को चुनना बहुत कठिन हो जाता हे। इसी प्रकार जनता और नेताओ के बीच निकट का व्यक्तिगत सम्पर्क नही होता। इसलिए आधुनिक प्रजातत्र मे सुधार करने के बारे मे जितने भी सुझाव पेश किये जाते है, उनमे विकेन्द्रीकरण पर ही प्राय जोर दिया गया हे। सिंडिकलिज्म[1], गिल्ड सोशलिज्म[2] और अनार्किज्म[3] अन्य बातो मे चाहे आपस मे कितना ही मतभेद रक्खे, परन्तु एक बात मे वे सब सहमत है, अर्थात् सब मानते है कि समाज की इकाइया छोटी-छोटी हो।

प्राध्यापक जोड कहते है

"इसका मतलब यह होता है कि सामाजिक कर्तृत्व मे मनुष्यो की श्रद्धा को यदि फिर से जीवित करना हे तो राज्य के टुकडे-टुकडे करने होगे और उसके कामो का बटवारा कर देना पडेगा। व्यवस्था कुछ इस प्रकार हो कि एक आदमी एक साथ कई छोटी-छोटी सस्थाओ का सदस्य हो सके, जिनको उत्पादन और स्थानीय शासन-सम्बन्धी अलग-अलग अधिकार हो, ताकि इनमे काम करते हुए वह फिर मे अनुभव करने लगे कि राजनीति मे उसकी भी कही पूछ है, उसकी राय और इच्छा का भी कुछ महत्व है और वह अनुभव करे कि वह सचमुच समाज के लिए कुछ कर रहा है। इससे स्पष्ट होगा कि शासन के यन्त्र को छोटा करना पडेगा। उसे ऐसा स्थानीय रूप देना होगा, जिससे वहा के लोग उसको सभाल सके। वे अपने राजनैतिक निर्णयो और कामो का परिणाम खुद अपनी आखो से

---

[1] यह सिद्धान्त कि आज उद्योगो में उत्पादन-वितरण का जो अधिकार कारखानेदारों को है, वह मजदूरो को हो।

[2] व्यापार और उद्योग के सचालन और मुनाफे के वितरण का अधिकार सस्था के सब सदस्यो को हो।

[3] अराजक व्यवस्था, जिसमे किसी एक या अनेक आदमियो के हाथो मे शासन का अधिकार न हो।

देख सके। इससे लोगो को विश्वास होगा कि शासन एक वास्तविकता है और समाज पर उनकी इच्छाओ का असर भी होता है, क्योकि वे खुद ही समाज भी है।"[1]

डॉ० बूडिन भी मानते है कि "छोटे-छोटे, सुसबद्ध प्रजातत्र सस्कृति और सभ्यता की सच्ची नैतिक इकाइया होते है।"[2]

यन्त्रीकरण की बुराइयां

राजनैतिक प्रजातन्त्र के विचारो के अलावा भी गाधीजी गावो के पुनरुज्जीवन की बहुत आग्रह के साथ इसलिए हिमायत करते है कि वे बडे-बडे कारखानो मे यन्त्रो द्वारा बड़े पैमाने पर किये जानेवाले केन्द्रित उत्पादन को बहुत बुरा मानते है, क्योकि इससे मनुष्य यत्र का ही एक पुर्जा बन जाता है और उसके अन्दर के मानवी गुण सूख जाते है। इस बडे पैमाने के यन्त्रीकरण का विरोध अकेले महात्माजी ही नही कर रहे है। ऐडम स्मिथ ने, जो आधुनिक राजनीति-शास्त्र के जनक माने जाते है, और जिन्होने आधुनिक उद्योगो मे श्रम-विभाजन की हिमायत भी की है, उन्हे भी स्वीकार करना पडा कि, "जो आदमी अपने घर पर अवतक अपने सीधे-सादे ढग से सुन्दर चीजे बना लिया करता था, वही अब यन्त्रो की छाया मे इतना बुद्धू और बुद्धिहीन बन जाता है कि जिसकी कल्पना भी नही की जा सकती। एक जगह खडे रहकर या बैठकर केवल एक-सी हरकत करते-करते उसका आत्म-विश्वास चला जाता है। इस नये काम मे भले ही वह कुछ समय मे निपुणता प्राप्त कर ले, परन्तु इसमे उसे अपने बहुत-से बौद्धिक, नैतिक और वीरोचित गुणो से हाथ धोना पडता है।"[3] डेविड रिकार्डो को भी यह निश्चय हो गया था कि "मनुष्य की जगह यन्त्र से काम लेना बुरा है। इसमे मजदूर-वर्ग की ही हानि है।" "यह राय भूल से या केवल दूषित पूर्वाग्रह के कारण नही दी गई है, बल्कि राजनीति-शास्त्र के सही सिद्धान्तो से इसका समर्थन होता है।"[4] कार्ल मार्क्स ने

---

[1] माडर्न पॉलिटिकल थ्योरी, पृ. १२०-२१

[2] सोशल साईकोलोजी—एफ एच आलपोर्ट

[3] वैल्थ ऑव नेशन्स

[4] प्रिसिपिल्स ऑव पॉलिटिकल इकॉनमी

लिखा है, "यन्त्रीकरण और श्रम-विभाजन की अति के कारण काम मे से मनुष्य के व्यक्तित्व का लोप हो जाता है और इससे मजदूर अपने काम मे सन्तोप का अनुभव नही कर सकता। वह स्वय भी यन्त्र का एक पुर्जा वन जाता है।"[1] अपने 'दास कैपिटल' मे मार्क्स ने लिखा है कि 'आधुनिक उत्पादन-पद्धति ने मनुष्य को पगु और अमानवीय वना दिया है।" "इसके विपरीत जव मनुष्य स्वतत्रतापूर्वक खुद काम करता है तव उसकी ज्ञान-दृष्टि और सकल्प-शक्ति का भी विकास होता रहता है।" प्रिन्स क्रोपाटकिन ने लिखा है "कारीगरी और कुशलता तो अव सदा के लिए बिदा हो गई। पहले मनुष्य को अपने हाथ से चीजे वनाते समय कलाकृति के निर्माण से जो एक प्रकार का आनन्द होता था वह चला गया। अव तो मनुष्य एक जड यत्र का वैसा ही जड गुलाम वन गया है।"[2] मेरी सूदरलैंड कहती है, "आजकल के कारखानो मे काम करना एक अभिशाप है। उससे मनुष्य की सारी सृजन-शक्ति मर जाती है और उसके अन्दर केवल इतने प्राण रह जाते है कि यन्त्रो की सहायता से जो भी मनोरजन हो जाय, उससे सन्तोप कर ले। इसका कारण केवल कारखानो का वातावरण और परिस्थितिया नही है, वल्कि काम का प्रत्यक्ष स्वरूप भी है।"[3]

आलपिने कैसे वनती है, इसका ऐडम स्मिथ के जमाने से इतिहास वताते हुए वर्नार्ड शा ने अपने 'इटेलिजेन्ट वूमन्स गाइड टु सोशलिज्म एण्ड कैपिटलिज्म' मे लिखा है

"कहते है, आदमी एक दिन मे पाच हजार आलपिने वनाने लग गया, इस कारण पिने और वहुत सस्ती हो गई। लोग समझने लग गये कि हमारा देश धनवान वन गया, क्योकि हमारे पास आलपिनो के ढेर लग गये। परन्तु इसने तो योग्य आदमियो को जड यन्त्र वना दिया, जो वगैर दिमाग के उनका काम करते रहते है। हा, धनवानो के पास पडे वेकार अनाज

[1] 'कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो'
[2] 'फील्ड, फैक्टरीज एण्ड वर्कशॉप्स'
[3] 'विक्ट्री ऑव वैस्टेड इन्टरेस्ट'

मे से जरुर उन्हे कुछ खाने के लिए मिल जाता है, जिस प्रकार इजिन मे कोयला-पानी डालना पडता है। इसीलिए तो कवि गोल्डस्मिथ ने कहा है, 'हम धन के ढेर लगाते जा रहे है और आदमी सड रहे है।' वह निरा कवि नही, बडा दूरदर्शी अर्थशास्त्री भी था।"

प्राध्यापक शील्डस ने अपनी 'इवोल्यूशन ऑव इन्डस्ट्रियल ऑरगैनाइजेशन' नाम की पुस्तक मे साफ तौर पर सिद्ध कर दिया है कि वैज्ञानिक रीति से प्रबन्ध करने की आधुनिक पद्धतियो से काम जरूर जल्दी और अधिक होता है, परन्तु "एक सीमा से अधिक आगे गति न बढ जाय अथवा मजदूर को अत्यधिक थकावट न आ जाय, इसकी कोई निश्चित और भरोसे के लायक रोक उसमे नही है।" "यत्रो द्वारा किया जानेवाला सारा काम परिपूर्णता के साथ हो, यह वृत्ति बढती जा रही है। इससे मजदूर की विचार-शक्ति, स्वतन्त्र बुद्धि, सर्जनशील कल्पना और काम मे मिलनेवाला आनन्द, इन सबसे मनुष्य हाथ धोता जा रहा है।" अर्नेस्ट हण्ट बडे दर्द के साथ मनोविज्ञान की दृष्टि से कहते है

"हमारे जमाने मे शक्ति का कुछ अजीब ढग से विकास हो रहा है। वह कारीगरो को निरे जड यन्त्र बना देती है। पुराने जमाने मे एक कारीगर अपना सारा काम घर पर या दूकान मे बैठकर कर लिया करता था और उसे अपनी प्रत्येक कृति पर एक प्रकार का गर्व होता था, परन्तु कारखाने मे आ जाने पर अब तो वह सिफर बन गया है। लोग भी शायद उसे नाम से नही, सख्या से ही पहचानते है।"

वर्तमान यन्त्र-पद्धतियो मे ये बुराइया अनिवार्य है। केवल समाजवाद के आने से ये दूर नही होगी। कार्ल मार्क्स ने इनको बहुत साफ शब्दो मे स्वीकार किया है और उसे आशा थी कि साम्यवादी शासन मे ये नही रहेगी, परन्तु मजदूरो को कम करने की दृष्टि से यन्त्रो मे जितने अधिक सुधार होगे, मनुष्य के शरीर, मन और चरित्र पर इनका बुरा असर पडे बिना हरगिज न रहेगा, फिर शासन की पद्धति पूजीवादी हो या समाजवादी। अपनी पुस्तक 'दिस अगली सिविलाइजेशन' मे बोरसोदी ने लिखा है

"उत्पादन और वितरण के ऊपर से खानगी स्वामित्व को हटाकर शोषण को मिटाने से भी इस बुराई की जड कटनेवाली नही है। कारखानो मे कुछ बुनियादी बुराइया है और वे मानवता को कष्ट देती रहेगी। कारखानो पर समाज का स्वामित्व हो जाने भर से या कारखाने के प्रत्येक विभाग को स्वायत्त बना देने से भी सतयुग आनेवाला नही है, जिसके लिए कुछ आदर्शवादी यत्नशील है। समाजवाद बुराई की जड मे प्रहार नही करता। इसलिए वह सफल नही हो सकेगा। आज तो मानवता पर थोडे-से-थोडे समय मे अधिक-से-अधिक पैदावार बढाने का भूत सवार है। जब-तक यह भूत नही उतरेगा तबतक मानव सुखी नही होगा और इस भूत की दवा समाजवाद के पास नही है।"

महात्माजी का यही विचार था।

"पण्डित नेहरू यन्त्रीकरण चाहते है, क्योकि उनका ख्याल है कि यदि कारखानो को राष्ट्र की सम्पत्ति बना दिया जायगा तो उनमे फिर ये पूजी-वाद की बुराइया नही रहेगी। परन्तु मेरी अपनी राय यह है कि ये बुराइया यन्त्रो मे स्वाभाविक और जन्मजात है। इन्हे राष्ट्र की या समाज की सम्पत्ति बना देने से ये दूर नही होगी।"[1]

यन्त्रो के प्रति गांधीजी का रुख

एक बात साफ तौर से समझ लेने की जरूरत है कि गाधीजी यन्त्र-मात्र के विरोधी नही है। वह कहते है, "मै यन्त्रो का दुश्मन नही हू। चरखा खुद भी तो एक कीमती यन्त्र है।" उनका विरोध है यन्त्रो के 'पागलपन' से और उनके 'अन्धाधुन्ध उपयोग और प्रचार' से। इसीलिए वह यन्त्रो को नष्ट नही करना चाहते, बल्कि उनके उपयोग पर कुछ मर्यादाए लगा देना चाहते है। वह ऐसे यन्त्रो का बडी खुशी से स्वागत करेगे, जो झोपडो मे रहनेवाले करोडो आदमियो के परिश्रम को हलका करने मे मदद कर सके। परन्तु हा, ऐसे तमाम यन्त्रो के वे जरूर पक्के विरोधी है, जो मनुष्य को उन्हीके समान जड बना देते है या समाज मे बेकारी फैलाते है।

जहा पर्याप्त सख्या मे आदमियो की बहुत कमी हो, वहा यन्त्रो से काम लेना अच्छा है, परन्तु जहा भारत के समान जरूरत से अधिक आदमी हो,

[1] 'हरिजन', २८-९-१९४०

वहा यन्त्र हानिकर है। आज हमारे सामने प्रश्न यह नही है कि भारत के गावो मे रहनेवाले करोडो आदमियो को विश्रान्ति कैसे दे। वर्ष मे लगभग छः महीने वे बेकार रहते है।"[1]

"भारत के सात लाख गावो मे बसनेवाले इन जीते-जागते यन्त्रो के मुकाबले मे जड निर्जीव यन्त्रो को नही खडा करना चाहिए।" इसी प्रकार करोडो को नुकसान पहुचाकर मुट्ठीभर आदमियो का घर भरनेवाले यन्त्रो के भी वह विरोधी है।

वैज्ञानिक आविष्कारो और यन्त्रो मे सुधार करने के वह विरोधी नही है। "सर्वसाधारण का जिसमे भला होता है, ऐसे हर यन्त्र को तो मै इनाम दूगा।" मान लीजिये कि एक छोटा-सा यन्त्र है, जिसे एक आदमी अपने घर पर बैठे-बैठे चलाकर आजीविका प्राप्त करता है। ऐसे गृहोद्योगो के काम में आनेवाले छोटे-से यन्त्र मे कोई अच्छा-सा सुधार कर दे, जिससे कम परिश्रम मे अधिक काम होने लग जाय तो वह उसका स्वागत करेगे, परन्तु आज के बेकारी फैलानेवाले यन्त्रो को वह अच्छा नही समझते।

"लोग मजदूरो को कम करने पर तुले है और इधर हजारो आदमी बेकार होकर भूखो मर रहे है। मै मुट्ठीभर आदमियो का नही, सब मनुष्यो का—मनुष्यमात्र का—समय और परिश्रम बचाना चाहता हू। मै चाहता हू कि धन-सम्पत्ति बढे, परन्तु केवल कुछ आदमियो के घर मे नही, घर-घर मे, सबके यहा, बढे। आज यन्त्रो की सहायता से कुछ आदमी करोडो के सर पर सवार हो गये है। इसके पीछे श्रम बचाने की परमार्थ वृत्ति नही, धन की लालसा है। अपनी सारी ताकत के साथ मै इस दुष्प्रवृत्ति के खिलाफ लड रहा हू।"[2]

बेकारी

यूरोप और अमरीका मे यन्त्र एक आवश्यक वस्तु थी, क्योकि वहा सम्पत्ति बहुत है और मजदूरो की कमी है। अपने देश की प्राकृतिक सम्पत्ति को प्राप्त करने और उसे विकसित करने के लिए उन्हे यन्त्रो की मदद लेनी

[1] 'हरिजन', १६-११-१९३४

[2] 'यग इण्डिया', १३-११-१९२४

पडी। परन्तु भारत की स्थिति पश्चिम के देशो से बिल्कुल उल्टी हे यहा पूजी कम और मजदूर अधिक है। इसलिए यहा प्रश्न यह नही है कि परिश्रम बचानेवाले अर्थात् कम आदमियो की मदद से अधिक काम करनेवाले यन्त्र कहा से और कैसे लावे, बल्कि यह हे कि जो लोग बेकारी के कारण भूखो मर रहे है, उन्हे रोजी कैसे दे ? आज तो पश्चिम मे भी यन्त्र अपनी उपयोगिता की मर्यादा को पार कर गये है, बल्कि वे एक समस्या, विभीषिका और दुखदायी चीज बन गये है। यन्त्रो ने लाखो-करोडो आदमियो को वहा भी बेकार कर दिया है। उन्हे बेकारी की अपमानभरी भिक्षा पर जिन्दगी बसर करनी पड रही हे। सयुक्त राज्य अमरीका ने यन्त्रो के आविष्कार मे हद कर दी है। वहा के लोगो की उत्पादन-शक्ति इतनी बढ गई हे कि ससार के चौदह प्रगतिशील राष्ट्रो के बराबर अकेले सयुक्त राज्य का उत्पादन है। वहा का फी आदमी उत्पादन भारत के फी आदमी उत्पादन की अपेक्षा पच्चीस गुना है। फिर भी वहा लाखो आदमी बेकार है। यही हाल ससार के अन्य उद्योग-प्रधान देशो का है। जैसा कि सब जानते है, हमारे देश मे नब्बे प्रतिशत आदमी खेती और खेती से सम्बन्धित काम-काज मे लगे हुए हे। केवल दस प्रतिशत उद्योगो मे काम करते है। इनमे भी केवल बीस लाख भारी उत्पादनवाले उद्योगो मे लगे हुए है। यदि इन उद्योगो का इतना विकास कर दिया जाय कि वे सारे देश की जरूरते पूरी कर सके तो भी देश की जनसख्या के पाच प्रतिशत लोगो को भी वे रोजी नही दे सकेगे। छोटे उद्योगो मे बडे उद्योगो से पाचगुने अधिक आदमी काम कर रहे है।

अच्छा, अब हम यहापर तुलना करके देखे कि कपडे की मिलो मे कितने मजदूर काम करते है और खादी-उद्योग मे कितने आदमी काम कर रहे है। सन् १९४३-४४ की 'इडियन ईयर बुक' मे बताया गया है कि ब्रिटिश भारत और देशी राज्यो की कपडो की मिलो मे सन् १९४० मे प्रतिदिन औसतन ४,३०,१६५ मजदूर काम करते थे, जबकि अखिल भारत चरखा-सघ के आकडे बताते है कि उसी वर्ष मे देश के खादी-उद्योग मे कुल मिलाकर २,६९,४४५ कतवैये और बुनकर केवल सस्था के मातहत काम करते थे। इसके अलावा सम्पूर्ण देश मे कोई एक करोड जुलाहे खानगी तौर

पर काम कर रहे है। यद्यपि पिछले तीस वर्षो मे भारत मे कारखानो की सख्या चौगुनी वढ गई है, तथापि कारखानो मे काम करनेवालो की सख्या जनसख्या के अनुपात मे वरावर गिरती जा रही है।

वर्ष	प्रतिशत
१९११	५.५
१९२१	४.९
१९३१	८.३
१९४१	४.२

इन अको से स्पष्ट है कि देश मे वडे पैमाने पर उत्पादन के कारखाने वढाने से वेकारी की समस्या हल नही होगी, फिर इन कारखानो का सचालन चाहे पूजीवादी पद्धति से हो या समाजवादी पद्धति से। पश्चिम की पद्धति पर औद्योगीकरण के विरुद्ध गाधीजी क्यो है, उसका एक मुख्य कारण यह भी है।

वितरण की समस्या

गाधीजी गृह-उद्योग के विस्तार पर जो अधिक जोर देते है, उसका कारण वेकारी के अलावा वितरण का प्रश्न भी है।

"क्षण भर के लिए मान ले कि यन्त्रोत्पादन मे देश की सारी जरूरते पूरी हो जाती है, परन्तु इससे उत्पादन केवल कुछ भागो मे केन्द्रित हो जायगा और फिर वितरण का जटिल प्रश्न रह जायगा। इसके विपरीत जहा चीजो की जरूरत है, वही उनके उत्पादन की व्यवस्था कर दी जाय तो वितरण अपने-आप वहा आसानी से हो जायगा और ठगी तथा सट्टे के लिए कोई अवकाश नही रह जायगा।"[1] गाधीजी कहते है—"यदि उत्पादन वही हो जाता है तो वितरण अपने आप समान हो जाता है, अर्थात् उत्पादन के साथ-साथ वितरण भी हो जाता है।"

समाजवादी ढग के वितरण को गाधीजी पसन्द नही करते। वह कहते है

"आप चाहते है कि सोवियत रूस मे जिस प्रकार आज उत्पादन और वितरण राज्य के नियत्रण मे चल रहा है, इस पद्धति पर मैं अपनी राय दू। अच्छा, सुनिये। अभी यह प्रयोग बिल्कुल नया है। अन्त मे जाकर यह किस

[1] 'हरिजन', २-११-१९३४

हद तक सफल होगा, मै नही जानता। यदि वह हिसा अर्थात् जोर-जवर-दस्ती पर आधारित नही होता तो मै इसे खूब प्यार करता, परन्तु चूकि वह वल पर आधारित है, इसलिए मै नही कह सकता कि यह हमे कहा और कितनी दूर तक ले जायगा।"

एक विख्यात अर्थशास्त्री ने कहा है, "वडे पैमाने का यात्रिक केन्द्रित उत्पादन यदि किसी व्यक्ति या व्यक्तियो के द्वारा खानगी तौर पर होता है तो कारोवार विशाल हो जाता है और एकाधिकार की समस्या खडी कर देता है। यदि राज्य द्वारा होता है तो यह एक नया राक्षस पैदा हो जाता है। इस प्रकार यह क्या-क्या अनर्थ पैदा करेगा, इसका कोई ठिकाना नही।" फिर गाधीजी वितरण के उल्टे (रूसी) तरीके को अच्छा नही मानते। केन्द्रित उत्पादन और राज्य द्वारा वितरण करने से प्रवन्धको का एक ऐसा नया वर्ग पैदा हो रहा है, जो अपने ही हाथो मे सारी सत्ता हथियाने लगा है।

इसलिए गाधीजी चाहते हे कि वडे पैमाने पर और राज्य के नियन्त्रण मे अथवा अन्य प्रकार से केन्द्रित उत्पादन के वजाय विकेन्द्रित रूप मे जनता ही सर्वत्र अपनी जरूरत के हिसाव से थोडा-थोडा उत्पादन कर लिया करे। खादी के उत्पादन के वारे मे वह लिखते है

"खादी जरूर वडे पैमाने पर उत्पन्न की जाती है, परन्तु यह उत्पादन कारीगरो के अपने घर पर ही होता है। यदि आप एक आदमी द्वारा किये जानेवाले उत्पादन को लाखो से गुणा कर दे तो क्या माल का ढेर नही लग जायगा ? परन्तु मै जानता हू कि वडे पैमाने के उत्पादन से आपका मतलव क्या हे। वडे पेमाने के उत्पादन से आपका मतलव है वडे-वडे जटिल यन्त्रो की सहायता मे कम-से-कम आदमियो द्वारा अधिक-से-अधिक उत्पादन। परन्तु मै पहले ही कह चुका हू कि यह ठीक नही है, गलत है। मेरा यन्त्र वहुत सीधा-सादा हो, जिसे मै करोडो के घरो मे पहुचा सकू।"

राष्ट्रीय सुरक्षा

वाहरी आक्रमण से सुरक्षा की दृष्टि से भी उद्योगो का विकेन्द्रीकरण और ग्रामीकरण वहुत आवश्यक है। उद्योग जहा केन्द्रित हो जाते है, वहा आसमान से वडी आसानी से वम वरसाये जा सकते है और ऐसे कुछ उद्योग

केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर देश नैतिक दृष्टि से बहुत कमजोर हो जाता है। यही नहीं, सारे राष्ट्र की जनता का जीवन बड़ा अव्यवस्थित तथा अस्त-व्यस्त हो जाता है। इसलिए इग्लैंड, जापान, जर्मनी जैसे देश, जो केन्द्रित उद्योग-प्रधान देश थे, अब अपने उद्योगो का विकेन्द्रीकरण करने की तैयारी मे लग गये है, ताकि आर्थिक क्षेत्र मे वे अपनेको अधिक सुरक्षित कर सके। जापान ने चीन पर बहुत जोरदार हमले किये, परन्तु चीन उनके सामने झुका नही। इसका रहस्य यही है कि चीन ने अपने उद्योगो को सहकारिता की पद्धति से बहुत सुन्दर ढग से विकेन्द्रित कर लिया है। हम अभी अपनी भावी योजनाएं बना रहे है। अत जो भूले दूसरे राष्ट्रो ने की है, वे ही यदि हम भी करेगे तो क्या वह मूर्खता नही होगी? उदाहरण के लिए कपडे के उद्योग को ही लीजिये। इसे बम्बई, अहमदाबाद जैसे कुछ शहरो मे केन्द्रित करने की अपेक्षा गृह-उद्योगो को प्रोत्साहन देकर हर गाव मे खादी पैदा करना क्या अच्छा नही होगा? गाधीजी लिखते है .

हमारी कुछ धारणाए ही मूलत गलत है। सामाजिक दृष्टि से देखे तो औद्योगीकरण अत्यन्त महगा है। इसके कारण मजदूरो को गन्दी वस्तियो मे पशुओ की तरह रहना पडता है। खराव जगहो मे काम करना पडता है। इससे उनके अपने नैतिक, व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का ढाचा इतना विगड जाता है कि वह असह्य हो जाता है और कभी तो टूट भी जाता है। समाज मे जोरदार उपद्रव फूट पडते है। यह सव कारखानो के उत्पादन का ही परिणाम है। यह कीमत कारखानेदारो को नही, समाज को चुकानी पडती है और वह वहुत भारी कीमत है।" वह आगे लिखते हैं

"और महायुद्धो के आर्थिक कारणो की जाच करेगे तो उनमे होने-वाला धन-जन का अपार सहार भी कारखानो के उत्पादन के नाम पर ही लिखा जायगा।"

मध्य प्रदेश और वरार के औद्योगिक सर्वेक्षण-सम्वन्धी अपने प्रति-वेदन मे डॉ० कुमारप्पा लिखते है

"केन्द्रित उत्पादन मे दूर-दूर से माल मगाना पडता है और उत्पादन को एक जगह केन्द्रित करना पडता है। इसके लिए परिवहन (माल की पैदावार ढोने) और उसके साधनो पर भी नियन्त्रण रखना जरूरी हो जाता है। इसका अर्थ है दूसरो के जीवन और व्यवहारो पर अकुश। यह काम खानगी व्यक्तियो के हाथ मे नही दिया जा सकता। ऐसे नियन्त्रण के वगैर वडे पैमाने पर उत्पादन हो ही नही सकता। इसलिए यदि इस पद्धति से माल का उत्पादन करने मे कोई सस्तापन है तो उसका कारण यह है कि ये सहूलियते निर्माण करने का वोझ और खर्चा समाज पर डाला जाता है। इसलिए यह मानना मूर्खता है कि वडे कारखानो मे वना माल सस्ता है।"

इसी कारण कपडे के उद्योग का उदाहरण लेकर गाधीजी कहते है, "एक-एक गज की दृष्टि से देखेगे तो जरूर मिलो के कपडो की तुलना मे खादी महगी लगेगी। परन्तु यदि कुल मिलाकर और गावो के हित की दृष्टि से विचार करेगे तो खादी के मुकावले मे दूसरी कोई चीज टिक ही नही सकती, इतनी लाभदायक और व्यावहारिक वह हे।"[१] इसी प्रकार

[१] 'हरिजन', २०-६-१९३६

मिलो मे साफ किये जानेवाले चावलो के मुकावले मे हाथकुटे चावल महगे लगेगे, पर मिलो के चावलो से मनुष्य के शरीर को जो नुकसान होता है उसका भी यदि हिसाव जोडा जाय तो हाथकुटे चावल वहुत लाभदायक साबित होगे। मिलो के तेल और घानी के तेल की बात भी ऐसी ही है। इसके अतिरिक्त वडे कारखानो मे बना माल सस्ता पडता है, उसका कारण केवल भीतरी और बाहरी किफायते या कमखर्ची नही है, जो एक ही जगह माल वनाने से सम्भव है। इसके दूसरे अनेक कारण और सहूलियते है, जो राज्य और समाज द्वारा कारखानो को मिलती है और जो ग्रामोद्योगो को नही दी जाती या मिल पाती। उदाहरण के लिए, कारखानो के लिए कच्चा माल वडी तादाद मे थोक-के-थोक खरीदा जाता है। इसी प्रकार तैयार माल के थोक-के-थोक वेचे जाते है। इसमे नि सन्देह वड़ी सहूलियत और किफायत भी होती है। फिर पूँजी, रेल द्वारा किफायती दरो पर माल का भेजा जाना, सरकारी सहायताए, जो कारखानो को दी जाती है, वे ग्रामोद्योगो को नही दी जाती। परन्तु यदि सरकार ग्रामोद्योगो को विज्ञान की मदद देकर व्यवस्थित रीति से सगठित करे और उन्हे भी इस प्रकार सारी सहूलियते दे तो निश्चय ही वे वडे उद्योगो का मुकाबला कर सकेगे। सर विक्टर सेसून कपडा-उद्योग की पहली परिषद् के अध्यक्ष थे। घर-घर मे चलनेवाले करघो को विजली की मदद पहुचा दी जाय तो इस उद्योग का बहुत विकास हो सकता है, यह वताते हुए उन्होने अपने अध्यक्षीय भाषण मे कहा था—

छोटे-छोटे (विजली के) मोटरो से चलनेवाले हलके करघो के उद्योग के लिए इस देश मे वडा अच्छा क्षेत्र है। एक छोटा-सा पूजीपति इस तरह के कुछ करघे और मोटर आसानी से खरीद सकता है और यदि सहकारिता के सिद्धान्त पर इस उद्योग को सगठित किया जाय तो माल की कीमत और गुण दोनो वातो मे यह किसी भी देश को टक्कर दे सकता है।"

सर विक्टर ने इसमे पूजीवाद के ढग पर इस उद्योग को सगठित करने की वात कही है। यह ठीक नही। चीन की भाति विकेन्द्रीकरण की पद्धति से करघा-उद्योग का सहकारी सगठन बनाया जा सकता है, परन्तु सर विक्टर ने कहा है कि वडे उद्योगो की तुलना मे इन छोटे सगठनो द्वारा

वनाया गया माल कीमत और गुण मे भी वरावर टिक सकता है। यह वडे मार्के की वात है। हेनरी फोर्ड इस युग के वडे-से-वडे उद्योगपतियो मे से एक रहे है। उन्होने भी कहा है कि "आम तौर पर वडा यत्र लाभदायक नही होता।"[1] जनता की सेवा और हित मुख्य वात है। यदि यह स्वीकार है तो वडे-वडे उद्योगो को इस प्रकार सारे देश मे फैल जाना चाहिए कि जिससे उत्पादन मे कीमत भी कम लगे और धन का वितरण भी अधिक-से-अधिक लोगो मे हो सके। इस प्रश्न के यत्र-सम्वन्धी और अर्थ-सम्बन्धी पहलुओ पर श्री रिचर्ड ग्रेग ने अपनी 'इकनॉमिक्स ऑव खद्दर' नामक पुस्तक मे विस्तार से विचार किया है।

प्राणि-शास्त्र का प्रमाण

प्राणि-शास्त्र की दृष्टि से भी ग्रामीण समाज का पुनरुज्जीवन वहुत अभीष्ट है। माल्थस को जनसख्या की अतिवृद्धि का वडा डर था। परन्तु इस युग के प्राणि-शास्त्रियो और समाज-शास्त्रियो को भय है कि कही मनुष्य-जाति ही समाप्त न हो जाय, क्योकि पिछले कुछ दशको से कई देशो की आवादीवरावर घटती जा रही है। यह एक मानी हुई वात है कि शहरो मे रहनेवाले धनवान लोगो की प्रजनन-शक्ति गावो के गरीव लोगो की अपेक्षा वहुत कम होती है। स्वय एडम स्मिथ ने अपनी 'वैल्थ ऑव नेशन्स' पुस्तक मे लिखा है, "सपत्ति जहा विलासियो के काम-विकार को वढाती है वहा उनकी प्रजनन-शक्ति को वह सामान्यतया घटाती है और अक्सर नष्ट तक कर देती है।" इसके कई कारण होते है। सवसे वडा कारण तो शहरो की घनी आवादी है। दूसरा कारण है मनोरजन के अन्य साधन। अनेक बार ये काम-विकार को रोकने का काम कर जाते है। फिर शहरो मे समाज का ढाचा वदल जाता है। कुछ उसका भी असर होता है। यान्त्रिक उत्पादन मनुष्य-जीवन को भी यत्रो से बाध देता है, जिससे काम-विकार भी कुछ कमजोर हो जाता है। इग्लैंड के विख्यात प्राणि-शास्त्री प्राध्यापक लान्सलॉट हॉगवेन ने इस प्रवृत्ति का वडा सूक्ष्म विश्लेषण किया है

"गावो मे वच्चे स्वाभाविक—प्राकृतिक वातावरण मे रहते है। वहा

[1] 'माई लाइफ एण्ड वर्क'

वे प्राणियो और पौधो मे प्रजनन की क्रियाए देखते रहते है और वे उनके लिए स्वाभाविक प्राकृतिक घटनाए बन जाती है। शहरो मे यह स्वाभाविक और दैनिक जीवन से कुछ भिन्न अस्पताल की एक घटना बन गई है। यत्रो का प्रजनन और पालन-पोषण से कोई सम्बन्ध ही नही होता। शहरो के मानव-व्यवहारो पर इनका भी असर होता है।"[1]

कुछ समाजशास्त्रियो पर माल्थस के विचारो का बडा प्रभाव है। वे मानते है कि यदि पूजीवाद को नष्ट कर दिया जा सके तो जनसख्या की समस्या खुद-ब-खुद हल हो जायगी। परन्तु जैसा कि प्राध्यापक हॉगबेन कहते है, केवल पूजीपतियो के ही कम बच्चे नही होते। यह तो आधुनिक औद्योगीकरण और उससे जुडी अनेक बुराइयो का परिणाम है। इसलिए स्वय मनुष्य-जाति को मरने से बचाने के लिए प्राणि-शास्त्री अब 'गावो मे लौट चलो' की आवाज उठाने लगे है।

खेती और ग्रामीण जीवन

खेती और ग्रामीण जीवन की दृष्टि से छोटे-छोटे स्वाश्रयी ग्रामीण-समाजो की रचना करना कठिन नही है। पिछले दिनो खेती की कला का असाधारण विकास और प्रगति होगई है। इसलिए अब सभी देश अनेक प्रकार की फसले पैदा कर सकते है, जिनके लिए पहले उन्हे दूसरे देशो का मुह ताकना पडता था। यही नही, अब तो एक ही देश के अन्दर उसके अलग-अलग भाग भी ये फसले उगाकर स्वाश्रयी हो सकते है। उन्हे अपने ही देश के दूसरे भागो का मुह नही देखना पडेगा। कैलीफोर्निया के प्राध्यापक गैरिक ने बताया है कि बगैर मिट्टी के भी खेती हो सकती है। अभी यह खोज प्रयोगावस्था मे ही है, परन्तु यदि यह प्रयोग सफल हो गया तो खेती के क्षेत्र मे एक बहुत बडी क्रान्ति हो जायगी। उसके द्वारा कम परिश्रम से थोडी-सी जमीन मे बहुत अधिक अन्न पैदा किया जा सकेगा। इस प्रश्न के अधिक अध्ययन के लिए पाठक डॉ० विलकॉक्स की 'नेशन्स कैन लिव ऐट होम' पुस्तक पढे।

अमरीका के प्रसिद्ध समाज-शास्त्री लेविस ममफर्ड अपनी 'टेकनिक्स एण्ड सिविलाजेशन' और 'कल्चर ऑव सिटीज' नामक पुस्तको मे इसी।

[1] 'व्हॉट इज अहेड ऑव अस', पृ० १८४

नतीजे पर पहुचते है कि बडी-बडी और घनी आबादीवाले शहर अब पुराने और अनावश्यक होगये। वे तो मानते है कि विज्ञान ने इतनी प्रगति कर ली है कि अब हम सारे देश मे बाग-बगीचेवाले छोटे-छोटे शहर बना सकते है। उनमे छोटी-छोटी कारखाने-नुमा दुकाने हो, जिनमे हर तरह की चीजे बनाई जा सकती है। ऐसे छोटे-छोटे कारखाने और शहर समाज की दृष्टि से अत्यन्त आरोग्यदायक तथा उत्पादन की दृष्टि से बहुत लाभ-दायक सिद्ध होगे। प्रिन्स क्रोपाटकिन ने भी अपनी 'कान्क्वेस्ट ऑव ब्रैड'[1] और 'फील्ड, फैक्टरीज एण्ड वर्कशॉप्स' नामक पुस्तको मे यही बात दसियो वर्ष पहले बडे अध्ययन और खोज के बाद लिखी है।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति

प्राणि-शास्त्र और समाज-शास्त्र के अलावा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से भी उद्योगो का सहकारिता के सिद्धान्तो पर विकेन्द्रित पद्धति से सचालन जरूरी है, क्योकि बडे पैमाने पर केन्द्रीकरण की पद्धति पर चालित कारखाने निश्चित रूप से विदेशी बाजारो पर अधिकार करने की प्रवृत्ति पैदा करते है, फिर इन्हे व्यक्ति चलावे या राज्य। इससे राष्ट्रो के बीच अन्धाधुन्ध होड पैदा होती है, जिसका नतीजा आगे-पीछे होता है महानाशकारी युद्ध। पिछली दो सदियो का यही दुखदाई अनुभव है। पहले तथा दूसरे महायुद्ध का मूल कारण मुनाफे की यह अनियन्त्रित तृष्णा ही था। विशाल रूप के यन्त्रीकरण मे यह वृत्ति स्वाभाविक रूप से रहती है। सोवियत रूस का वर्तमान मे जो अनुभव हो रहा है वह भी बडा चिन्ताजनक है। राष्ट्रसघ मे भी भावी बाजारो के बारे मे सदस्य राष्ट्रो के बीच बडे गरम विवाद खडे हो गये है। स्वय ब्रिटेन की लोकसत्ता मे औपनिवेशक राज्यो के बाजारो के बारे मे हुई बहस जिस-जिसने पढी होगी उसकी आखे खुल गई होगी। इसीलिए गाधीजी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के इतने विरोधी है। जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है, वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विरुद्ध नही है, यदि वह इन राष्ट्रो की असली जरूरतो की पूर्ति करता हो और उनके पारस्परिक हितो का पोपक हो। परन्तु साम्राज्यो के वर्तमान सघर्षो के बीच यह तो असम्भव ही है। इसीलिए गाधीजी

[1] यह पुस्तक 'रोटी का सवाल' नाम से 'सस्ता साहित्य मडल' से प्रकाशित हुई है।

चाहते है कि भारत अपनी आर्थिक योजनाए शान्ति और स्वावलबन के सिद्धान्तो के आधार पर बनावे और अपने माल के लिए ससार के बाजार पाने की आशा न रक्खे। "क्या आप साफ तौर पर नही देख रहे है कि यदि भारत का औद्योगीकरण हो जाय तो इसके माल को खपाने के लिए नये-नये लोको मे बाजार खोजने के लिए जाने कितने नादिरशाहो की हमे जरूरत होगी ? और इसमे हमे इग्लैड, जापान, अमरीका और इटली के दरियाई बेडो और फौजो की होड मे उतरना होगा। इससे हमारे बीच जो ईर्ष्या और द्वेष जागेगे, उनकी कल्पना-मात्र से मेरा तो सिर चकरा जाता है।"[1] राष्ट्रीय सयोजन-समिति ने भी अपने उद्देश्यो की परिभाषा करते हुए लिखा है कि हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण राष्ट्र को स्वावलम्बी बनाना है और इस प्रयत्न मे अपना आर्थिक साम्राज्य स्थापित करने के चक्कर मे हमे नही पडना है। चीन के औद्योगिक सहकारिता-आन्दोलन के लाभ बताते हुए निम वेल्स ने लिखा है—"यह याद रखना बडा जरूरी है कि चीन स्वय कही साम्राज्यवादी न बन जाय अथवा जापान के साम्राज्यवाद का औजार। हा, यदि उसका विकास प्रजातात्रिक सहकारिता-पद्धति पर हो सका तो यह खतरा टल जायगा। यदि वहा उद्योगो का विकास इस प्रकार स्वस्थ और सतुलित रीति से किया जा सके तो वह अपने देश के बाहर प्रतिस्पर्धा निर्माण न करते हुए अपनी खरीदने की शक्ति को बढाकर अपने माल के लिए घर मे और बाहर भी समानता के आधार पर काफी विशाल बाजार बना लेगा।"

अन्य प्रमाण-पत्र

इस प्रकार गृहोद्योगो पर आधारित ग्रामीण साम्यवाद गाधीजी की निरी सनक नही है, बल्कि अनेक दृष्टियो से वह एक वैज्ञानिक और व्यावहारिक जीवन-दर्शन है। पिछले वर्षो मे पश्चिम के अनेक महत्वपूर्ण ग्रथकारो और विचारको ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसकी सराहना और समर्थन किया है। ब्रिटेन की सामाजिक सुरक्षा-योजना के प्रसिद्ध प्रणेता सर विलियम बीवरेज ने भारत के लिए भी इसी प्रकार की एक योजना की सिफारिश करते हुए लिखा है—"भारत के उद्योगो का भी अच्छा विकास हो सकेगा, परन्तु ध्यान रहे कि उनको सारे देश मे फैला

१ 'हरिजन', [illegible]

देना चाहिए, ताकि वहा इग्लैड और अमरीका की भाति वडे-वडे भयकर शहर न खडे हो जाय।"

हार्यासिथ डुब्रैल फ्रास के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री है। उन्होने लिखा है कि वडे-से-वडे उद्योगो को छोटे-छोटे स्वय-शासित भागो मे अनेक स्थानो मे फैलाया जा सकता है। उन्होने उदाहरण दे-देकर यह सिद्ध किया है कि इससे उद्योग की उत्पादन-शक्ति घटती नही, उल्टे वढती ही है। यूरोप के प्रसिद्ध विचारक काउण्ट कादेन्होव कालेरजी ने अपने—'टोटैलिटेरियन स्टेट अगेन्स्ट मैन' मे युद्धग्रस्त ससार मे फैली वुराइयो को दूर करने के लिए खेती की सहकारी समितियो की स्थापना करने की सिफारिश की है। आर्थिक क्राति की चर्चा करते हुए उन्होने लिखा है—"इसके लिए एक स्वतन्त्र आर्थिक पद्धति की जरूरत है, जिसका अमल भी स्वतन्त्रतापूर्वक हो। उद्देश्य यह है कि ऐसे छोटे-छोटे स्वतन्त्र सगठन जितने भी अधिक स्थापित किये जा सके, किये जाय। सहकारिता का केवल एक वन्धन उनमे हो। आर्थिक अनवस्था और जवरदस्ती का समूहीकरण (कलेक्टिविज्म) इन दोनो से वह मुक्त हो। खेती-सम्बन्धी सहकारी समितिया इसका एक अच्छा नमूना है, जिनमे खानगी सम्पत्ति भी कायम है और भाईचारे के साथ एक-दूसरे की मदद करने की वृत्ति भी।"

हमारे अपने देश मे ही डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने ग्रामीण समाज रचनावाली सभ्यता की जरूरत पर जोर दिया है

"भारतीय सयोजन अपने ढग का अनोखा होगा। फासिस्ट देशो मे जो आर्थिक स्वतन्त्रता और दूसरे पडोसी राष्ट्रो पर हावी होने की हविस होती है, वह इसमे नही होगी। प्रजातन्त्री देशो मे मुट्ठीभर पूजीपतियो और शासको के हाथो मे सारी सम्पत्ति और सत्ता होती है और वे व्यापार और धन के वल पर अपना साम्राज्य फैलाना चाहते है। हम यह भी नही चाहते, और न रूस के ढग की जड फौजी सस्कृति हमे प्रिय है। हमारे आर्थिक सयोजन के पीछे कल्पना यह है कि हमारी परम्परागत शान्तिपूर्ण कृषि-प्रधान सस्कृति का राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से व्यापक विस्तार हो। इसके साथ ही दूसरी तरफ आज के वदले हुए युग के सन्दर्भ मे हमारे नैतिक

और सामाजिक गुणो को पूरी तरह विकास करने और फैलने का अवसर भी मिले।"[1]

गृहोद्योगो की पद्धति के औद्योगीकरण का हमारे राष्ट्रीय जीवन में कितना महत्त्व है, यह बम्बई-योजना वालो को भी स्वीकार करना पडा है :

"वडे उद्योगो के साथ हम छोटे उद्योगो और गृहोद्योगो को भी अवश्य स्थान देना चाहते है। यह तो हमारी योजना का एक आवश्यक अग है। अधिक लोगो को रोजी देने के लिए तो यह जरूरी है ही, परन्तु योजना के प्रारम्भिक वर्षो मे पूजी की (खासकर बाहर की पूजी की) बचत की दृष्टि से भी यह आवश्यक है।"

परन्तु मुझे स्पष्ट रूप से कहना पडेगा कि उपर्युक्त कथन के वावजूद ग्रामोद्योगो के वारे मे इस योजना के बनानेवालो का रुख साफ नही है। केवल अपनी सुविधा के लिए योजना के प्रारम्भिक वर्षो मे वे इस प्रकार के उद्योगो को काफी स्थान देना चाहते है या अपने राष्ट्र की अर्थ-रचना को सन्तुलित करके उसे पक्की नीव पर खडी करने के लिए इस प्रकार के उद्योगो को फिर से जिलाकर उनका विकास करना स्वतन्त्र रूप से भी उपयोगी मानते है? अगर वे केवल सक्रमण काल के लिए अर्थात् प्रारम्भिक वर्षो मे पूजी की जरूरत को कम करने के लिए गृहोद्योगो को पुनरुज्जीवित करना चाहते है और वडे और उन्नत उद्योगो के विकास का समय आने ही उन्हे फिर छोड देना चाहते है तो बम्बई-योजना के निर्माताओ को अपने विचारो मे मूलगामी परिवर्तन करना होगा।

इनका नेता था रेवी ऑली। जहा-जहा भी इन्हे मौका मिला, सहकारिता के आधार पर इन्होने छोटे-छोटे गुरीला उद्योगो का सगठन शुरू कर दिया। आज ये सहकारी सस्थाए चीन का गौरव और निधि बन गई है। इन्होने चीन के लिए न केवल दुश्मनो के आक्रमणो के विरुद्ध अभेद्य रक्षा-पक्तियो का काम किया है, बल्कि जब बमो की मार से देश की सारी अर्थ-व्यवस्था टूटकर ढेर हो गई थी, ऐसे समय मे उपयोग की जरूरी चीजो के प्रवाह को जारी रखकर इन्होने राष्ट्र के प्राण बचाये हैं। सारे चीन मे इस समय हजारो छोटी-छोटी सहकारी सस्थाए खडी है, जो आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र और स्वशासित है और छोटे-छोटे यन्त्रो की सहायता से अनेक प्रकार की खाद्य चीजे, कपडे, कागज, साबुन, तेल, काच, रासायनिक द्रव्य, दवाए, लोहे की चीजे, यन्त्रो के भाग और औजार, चमडे की चीजे, दवाखानो के काम की चीजे और फरनीचर आदि वे बनाती है। ये औद्योगिक सहकारी समितिया बाल-मदिर, दिन और रात्रि की पाठ-शालाए, दवाखाने और खेल-कूद की सस्थाए भी चलाती है। इन समितियो के बारे मे सबसे आश्चर्यजनक बात है उनका मासिक उत्पादन। बताया गया है कि इन उद्योग-समितियो मे जो पूजी लगी है, उसके मुकाबले मे इनका मासिक उत्पादन दो गुना अधिक है। इसका कारण शायद युद्ध हो। फिर भी यह आश्चर्यजनक है। ये सहकारी सगठन चीन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है, केवल युद्ध के कारण नही, बल्कि देश के भावी औद्योगिक विकास की दृष्टि से भी। निम वेल्स लिखती है—"बहुत अध्ययन और सोच-विचार के बाद चीन के उद्योग-शास्त्री इस नतीजे पर पहुचे है और ब्रिटेन तथा अमरीका के विचारको की भी यही राय है कि ये औद्योगिक सहकारी समितिया चीन की उन्नति के लिए न केवल आज, बल्कि भविष्य मे भी अत्यन्त उपयोगी और व्यावहारिक साधन सिद्ध होगी।" "चीन मे चल रही ये प्राणवान सस्थाए इस युद्ध और सामाजिक उथल-पुथल के युग मे बहुत महत्व का काम कर रही है। इनमे विकास की खूब गुजाइश है। देश मे चारो ओर जब युद्ध की मारकाट चल रही हो, प्रजातन्त्र की पद्धति की ऐसी सस्थाए कायम करना अपने-आपमे एक बहुत बडी बहादुरी का काम है। सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन चाहनेवालो तथा चीन के

भविष्य मे दिलचस्पी रखनेवाले सैकडो विचारकों को यह देखकर बडा कौतूहल होता है।"

चीन के इन 'गोरीला उद्योगो' के वारे मे मई १९४४ के 'एशिया और अमरीका' मे एडगर स्नो ने यही राय प्रकट की है·

"ये सस्थाए न केवल युद्ध के अन्तिम दौर मे चीन को सफलता दिला सकती है, अपितु यदि इन्हे पूरा मौका दिया जाय तो वे अपने प्रवर्तको की आशा-अपेक्षाए भी पूरी कर सकती है—अर्थात् चीनी समाज के लिए एक अच्छी आर्थिक नीव बना सकती है, जिसपर शान्तिमय तरीको मे भावी चीन के प्रजातन्त्र की इमारत खडी की जा सकती है।"

चीन की यह सहकारी प्रणाली भारत के लिए अत्यन्त शिक्षाप्रद और मूल्यवान है। निम वेल्स की इस पुस्तक की भूमिका श्री जवाहरलाल नेहरू ने लिखी है। उसमे इस विपय मे वह लिखते है

"चीन की भाति भारत के पास भी वहुत-सा मनुष्य-वल है। पूरी तरह और आधे वेकार लोग भी वहुत है। हमे अपने देश की तुलना यूरोप के छोटे-छोटे देशो से नही करनी चाहिए। उनकी आवादिया तो वहुत कम है। वे वढ भी रही हो तो भी क्या हुआ, उनका औद्योगीकरण वहुत कठिन नही हे। परन्तु हमारे यहा ऐसी कोई योजना सफल नही हो सकती, जिसके कारण वेकारी फैलती हो या लोगो की शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग न होता हो। मनुष्यो के वारे मे हम न भी विचार करे, केवल पैसे का ही विचार करे, तो भी हमे ऐसी ही योजनाए वनानी चाहिए, जिनमे अधिक आदमियो को काम मिल सके और जिनमे वहुत उलझनभरे यन्त्र न हो। लोगो को एकदम वेकार रखने के वजाय उन्हे कुछ कम मजदूरी देनेवाला काम भी दिया जा सके तो वह नही मे अच्छा है। कुछ वडे कारखानो के उत्पादन की अपेक्षा वहुत-से छोटे-छोटे कारखाने वहुत अधिक सम्पत्ति पैदा कर सकते है।

जापान मे

हम सब जानते है कि जापान मे भी छोटे-
रहा भिन्न-भिन्न आकार के उद्योगो की स्थिति क्या

स्टीन ने अपनी पुस्तक 'मेड इन जापान' मे नीचे लिखी तालिका दं

सबसे छोटे उद्योग	१० प्रतिशत
उनसे कुछ बडे उद्योग	२६ ,,
मध्यम कोटि के उद्योग	३५ ,,
बडे उद्योग	२६ ,,

ये बौने कारखाने केवल उपभोग्य वस्तुए ही नही, बल्कि यन् बनाते है। यह भी कहा जाता है कि जापान मे बने यन्त्रो मे से ३४ प्रतिशत यन्त्र बडे कारखानो मे बनते है। प्राध्यापक ऐलन 'पुस्तक 'जापान्स इन्डस्ट्री, इट्स रिसेन्ट डेवलपमेट एण्ड कन्डीश लिखते है

"इस प्रकार हम इसी नतीजे पर पहुचते है कि जापान के उद्यो छोटे-छोटे यन्त्रो की बहुलता इस देश की आर्थिक दरिद्रता का चिह्न है, बल्कि वे जापानियो की बुद्धिमत्ता को प्रकट करते है। अपने दे वर्तमान परिस्थिति मे किस प्रकार के यत्र लाभदायक हो सकते है, खूब जानते है। उस देश मे पूजी की कमी है और उसकी तुलना मे उ मे काम करनेवाले मजदूर अधिक है। मजदूरी की दरे भी कम है।"

भारत मे भी यही स्थिति है, परन्तु जापान मे एक बात अच्छी है। चीन की भाति ये उद्योग जापान मे सहकारिता के तत्त्व प चलाये जाते। ये गिनती के पूजीपतियो के हाथो मे है। यह बुरा है, व ये कारीगर स्वय मालिक नही, बल्कि पूजीपतियो के कब्जे मे है और वहा बुरी तरह शोपण हो रहा है।

दूसरे देश

मालिक-उत्पादको की सहकारी सस्थाए रूस मे भी है। इन्हे इन्कॉप कहते है। इन्होने भी अच्छी सफलता प्राप्त की है। सिडनी बीट्रिक वेब ने अपनी पुस्तक 'सोवियत कम्युनिजम, ए न्यू सिविलाइजे बताया है कि सन् १९१९ से लेकर और खासकर सन् १९३२ के बाद कारीगर-मालिको को किस प्रकार पुन जिलाया और बढाया गया "इन सदस्यो को तनख्वाहे या मजदूरी नही दी जाती। असल मे यह न है, न किसी प्रकार की नौकरी। कारीगर अपने औजारो या यन्त्रो के

मालिक है और उनकी सहायता से पैदा किये जानेवाले माल के भी या तो अकेले या सम्मिलित रूप से मालिक होते है।"

इग्लैंड मे भी सहकारी ढग के स्वय-चालित कारखानो को लोग अधिकाधिक पसन्द करने लगे है। लडाई के दिनो मे इस प्रकार के स्वशासित विकेन्द्रित उद्योग-सस्थानो की उपयोगिता और लाभ को लोगो ने खुद देख लिया। इस प्रकार की मजदूर-सस्थाए वे बडी आसानी से स्थापित कर लेते हैं और उन्हे सफलतापूर्वक चला ले जाते है। उनमे माल भी अधिक बनता है और वे दुश्मनो के बमो की शिकार भी आसानी से नही हो सकती। जैसा कि निम वेल्स बताती है, सयुक्त राज्य अमरीका मे भी सहकारिता का आन्दोलन प्रगति कर रहा है। वहा केवल उपभोक्ताओ के ही सहकारी भण्डार और कर्ज देनेवाली सहकारी बैक नही है, बल्कि वहा तो उत्पादको ने भी अपने माल को बेचने के लिए सहकारी सस्थान बना लिए है। यही नही, सहकारी खेत, सहकारी आरोग्य सदन और सहकारी बीमा सस्थाए भी वहा काम कर रही है। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड भी युद्धकालीन सकट की स्थिति का मुकाबला करने के लिए सहकारी उद्योगो की मदद ले रहे है। कहते है, जर्मनी मे बेकारी को कम करने के लिए हिटलर को भी कितने ही गृहोद्योग शुरू करने पडे थे।

उपसंहार

इस प्रकार सारे ससार का रुख विकेन्द्रीकरण और गृहोद्योग और ग्रामीण समाज-रचना की ओर हो रहा है। भारत मे यह पद्धति बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थी। निश्चय ही उसे पुनरुज्जीवित करके उसमे आधुनिक युग के अनुरूप आवश्यक सुधार करके उसे फिर से जारी करने की जरूरत है। हमे पश्चिम की नकल नही करनी चाहिए। पिछले कई वर्षो से वह जो काटे के बीज बोती रही है उनकी पूरी फसल अब खडी है। भारत को अपने आर्थिक विकास की योजना ऐसी बनानी चाहिए, जो उसकी प्रकृति और सस्कृति के अनुरूप हो। इससे दूसरे देशो को भी लाभ होगा। श्रीमती ऐनी बेसन्ट ने जो 'कॉमनवेल्थ ऑव इण्डिया बिल' बनाया था, उसमे इस प्रकार की एक योजना की रूपरेखा थी। गाधीजी भी इसी प्रकार की योजना चाहते थे, जिसका आधार ग्रामोद्योग और ग्रामीण समाज-रचना हो।

स्टीन ने अपनी पुस्तक 'मेड इन जापान' मे नीचे लिखी तालिका दी है

सबसे छोटे उद्योग	१० प्रतिशत
उनसे कुछ वडे उद्योग	२९ ,,
मध्यम कोटि के उद्योग	३५ ,,
वडे उद्योग	२६ ,,

ये बौने कारखाने केवल उपभोग्य वस्तुए ही नही, वल्कि यन्त्र भी वनाते है। यह भी कहा जाता है कि जापान मे वने यन्त्रो मे से केवल ३४ प्रतिशत यन्त्र वडे कारखानो मे वनते है। प्राध्यापक ऐलन अपनी पुस्तक 'जापान्स इन्डस्ट्री, इट्स रिसेन्ट डेवलपमेट एण्ड कन्डीशन' मे लिखते है

"इस प्रकार हम इसी नतीजे पर पहुचते है कि जापान के उद्योगो मे छोटे-छोटे यन्त्रो की वहुलता इस देश की आर्थिक दरिद्रता का चिह्न नही है, वल्कि वे जापानियो की वुद्धिमत्ता को प्रकट करते है। अपने देश की वर्तमान परिस्थिति मे किस प्रकार के यत्र लाभदायक हो सकते है, यह वे खूव जानते है। उस देश मे पूजी की कमी है और उसकी तुलना मे उद्योगो मे काम करनेवाले मजदूर अधिक है। मजदूरी की दरे भी कम है।"

भारत मे भी यही स्थिति है, परन्तु जापान मे एक वात अच्छी नही है। चीन की भाति ये उद्योग जापान मे सहकारिता के तत्त्व पर नही चलाये जाते। ये गिनती के पूजीपतियो के हाथो मे है। यह वुरा है, क्योकि ये कारीगर स्वय मालिक नही, वल्कि पूजीपतियो के कब्जे मे है और इनका वहा वुरी तरह शोषण हो रहा है।

दूसरे देश

मालिक-उत्पादको की सहकारी सस्थाए रूस मे भी है। इन्हे वहा इन्कॉप कहते हे। इन्होने भी अच्छी सफलता प्राप्त की है। सिडनी और वीट्रिक वेव ने अपनी पुस्तक 'सोवियत कम्युनिजम, ए न्यू सिविलाइजेशन' मे वताया है कि सन् १९१९ से लेकर और खासकर सन् १९३२ के वाद वहा का रीगर-मालिको को किस प्रकार पुन जिलाया और वढाया गया है। "इन सदस्यो को तनख्वाहे या मजदूरी नही दी जाती। असल मे यह न ठेका है, न किसी प्रकार की नौकरी। कारीगर अपने औजारो या यन्त्रो के भी

मालिक है और उनकी सहायता से पैदा किये जानेवाले माल के भी या तो अकेले या सम्मिलित रूप से मालिक होते है।"

इग्लेंड मे भी सहकारी ढग के स्वय-चालित कारखानो को लोग अधिकाधिक पसन्द करने लगे है। लडाई के दिनो मे इस प्रकार के स्वशासित विकेन्द्रित उद्योग-सस्थानो की उपयोगिता और लाभ को लोगो ने खुद देख लिया। इस प्रकार की मजदूर-सस्थाए वे वडी आसानी से स्थापित कर लेते हैं और उन्हे सफलतापूर्वक चला ले जाते है। उनमे माल भी अधिक बनता है और वे दुश्मनो के वमो की शिकार भी आसानी से नही हो सकती। जैसा कि निम वेल्स बताती है, सयुक्त राज्य अमरीका मे भी सहकारिता का आन्दोलन प्रगति कर रहा है। वहा केवल उपभोक्ताओ के ही सहकारी भण्डार और कर्ज देनेवाली सहकारी वैक नही है, बल्कि वहा तो उत्पादको ने भी अपने माल को वेचने के लिए सहकारी सस्थान वना लिए है। यही नही, सहकारी खेत, सहकारी आरोग्य सदन और सहकारी बीमा सस्थाए भी वहा काम कर रही है। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड भी युद्धकालीन सकट की स्थिति का मुकावला करने के लिए सहकारी उद्योगो की मदद ले रहे है। कहते है, जर्मनी मे वेकारी को कम करने के लिए हिटलर को भी कितने ही गृहोद्योग शुरू करने पडे थे।

उपसंहार

इस प्रकार सारे ससार का रुख विकेन्द्रीकरण और गृहोद्योग और ग्रामीण समाज-रचना की ओर हो रहा है। भारत मे यह पद्धति वहुत प्राचीन काल से प्रचलित थी। निश्चय ही उसे पुनरुज्जीवित करके उसमे आधुनिक युग के अनुरूप आवश्यक सुधार करके उसे फिर से जारी करने की जरूरत है। हमे पश्चिम की नकल नही करनी चाहिए। पिछले कई वर्षो से वह जो काटे के वीज वोती रही है उनकी पूरी फसल अव खडी है। भारत को अपने आर्थिक विकास की योजना ऐसी बनानी चाहिए, जो उसकी प्रकृति और सस्कृति के अनुरूप हो। इससे दूसरे देशो को भी लाभ होगा। श्रीमती ऐनी वेसन्ट ने जो 'कॉमनवेल्थ ऑव इण्डिया बिल' वनाया था, उसमे इस प्रकार की एक योजना की रूपरेखा थी। गाधीजी भी इसी प्रकार की योजना चाहते थे, जिसका आधार ग्रामोद्योग और ग्रामीण समाज-रचना हो।

खण्ड २

योजना का विवेचन

गाधीवादी अर्थ-रचना के आधारभूत सिद्धान्तो को अब मैं विशद करना चाहता हू, परन्तु इससे पहले यह उचित होगा कि उस सबध मे जो आलोचनाए हुई है, उनपर विचार कर ले। स्पष्ट ही आलोचनाए दोनो प्रकार की है—अनुकूल भी और प्रतिकूल भी। आर्थिक सयोजन का विषय ही ऐसा है। फिर इस पुस्तक मे गाधीजी के विचारो की दृष्टि से सयोजन पर विचार किया गया है। यह विचार एकदम नया है, इसलिए अभी पूर्णता को प्राप्त नही हुआ है, अर्थात् इसने कोई निश्चित रूप नही ग्रहण किया है, वल्कि उसका लगातार विकास हो रहा है। आर्थिक नव-निर्माण की योजना के रूप मे गाधीजी के विचारो को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने की दिशा मे 'गाधीवादी योजना' शायद पहला ही प्रयत्न था। उसने वहुत-से लोगो के—बुद्धिमान लोगो के—विचारो को भी प्रेरणा दी है, और उन लोगो को भी इसका अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया,जो अवतक गाधीजी और उनके विचारो से अपने-आपको दूर ही रक्खे हुए थे। इस प्रकार "यह पुस्तक एक विचारोत्तेजक चर्चा का विषय वन गई।"[1] डॉ० राधा-कुमुद मुकर्जी ने लिखा है—"पिछले कई युगो से भारत जिन परिस्थितियो मे मे गुजरा है तथा आज उसकी जो स्थिति हे, और उसकी जो जरूरते है, उनको देखते हुए 'गाधीवादी योजना' से वढकर उसके लिए कोई योजना नही हो सकती। दूसरी योजनाए भी है जरूर, परन्तु उनमे भारतीय परि-स्थिति का सही आकलन नही हे। इसलिए यहा की कठोर आर्थिक वास्त-

---

[1] दि माडर्न वर्ल्ड—यूसुफ मेहरअली, पृ० ७४

विकताओ को वे स्पर्श तक नही कर पाती। कोई भी आर्थिक योजना हो, उसे पहले देश और समाज की असली स्थिति को समझ लेना चाहिए। इसकी उपेक्षा करके दूसरे गलत आधारो को लेकर चलने से—दूसरो की नकल करने से—काम नही चल सकता, वह सफल नही हो सकती।" प्रो० एन० जी० रगा ने तो इस योजना की प्रशसा मे एक छोटी-सी पुस्तिका ही लिख डाली। नाम है—"चार करोड कारीगरो द्वारा गाधीवादी योजना का स्वागत।" अपनी पुस्तिका के अन्त मे वह लिखते है ·

"वम्बई-योजना तो निरी एक पूजीवादी योजना है, जिसमे पसीना बहानेवाले श्रमजीवियो का केवल शोषण और अपमान भरा पडा है। जिस किसी योजना मे यन्त्रीकरण, केन्द्रीय उत्पादन और मुट्ठीभर आदमियो के हाथो मे सचालन है, उसका ढाचा साम्यवादी हो या पूजीवादी, उसके अन्दर करोडो को गुलामी मे डालनेवाले पिशाचो का निवास है। गाधीवादी योजना ही एक ऐसी वस्तु है, जो मुनाफाखोरी से मुक्त हमारी वची-खुची औद्योगिक स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र को वचाने के लिए वनाई गई है और विशाल जनता को समाजवादी अर्थ-रचना की ओर ले जाने की आशा जिसमे है। इसलिए उसे उनका व्यापक समर्थन प्राप्त है। इस महान और अच्छी गाधीवादी योजना मे जनता की जो श्रद्धा है, उसे कोई सरकार नही मिटा सकती, सयोजन-समिति भी नही।"

गांधीवाद और संयोजन

कुछ आलोचको ने यह आपत्ति की है कि गाधीवाद का आधार विकेन्द्रीकरण है, जवकि सयोजन की आत्मा तो केन्द्रीकरण है। तब गाधीवाद और केन्द्रीकरण कैसे साथ-साथ चल सकते है? इस आपत्ति के निराकरण के लिए सवसे अच्छा तो यही होगा कि स्वय गाधीजी ने इसका जो जवाव दिया है, वही मै प्रस्तुत कर दू :

" 'योजना' शब्द के प्रयोग पर आपकी आपत्ति एक तरह से सही है, परन्तु मेरा ख्याल है कि उसमे कोई सार नही है। मै नही मानता कि योजना की आत्मा केन्द्रीकरण है। केन्द्रीकरण की भाति विकेन्द्रीकरण भी सयोजन मे क्यो मददगार नही हो सकता?"[1]

[1] 'दि हिंदू,' २८ जून, १९४६

गांधीवाद और राष्ट्रीयकरण

गाधीवादी योजना की मुख्य दलील पर दूसरी आपत्ति यह उठाई जाती है कि गाधीवाद के दो मुख्य सिद्धान्त है—विकेन्द्रीकरण और राज्य का नियन्त्रण कम-से-कम। परन्तु उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के साथ इनका मेल नही बैठता, क्योकि राष्ट्रीयकरण मे तो केन्द्रीकरण और राज्य द्वारा कठोर नियत्रण अनिवार्य रूप से आवश्यक है। प्राध्यापक अजारिया लिखते है—"राष्ट्रीयकरण को गाधीवाद मे जो स्थान दिया गया है, वह तो गाधीजी के अनुयायियो मे जो समाजवादी आ गये है उनके लिए रिआयत है। परन्तु इसमे तो गाधीवादी सिद्धान्तो का भग होता है। आप या तो राष्ट्रीयकरण अर्थात् समाजवाद का, पूरी तरह विरोध कर सकते है या उसका स्वीकार कर सकते है। स्वीकार और विरोध दोनो एक साथ नही कर सकते।"[१] इस आपत्ति पर मैं गाधीजी का ही जवाब उद्धृत करता हू

"भारत के गावो के लिए जो उद्योग और दस्तकारिया आर्थिक दृष्टि से लाभदायक है, उनका अधिक-से-अधिक विकेन्द्रीकरण हो और सारे देश के हित की दृष्टि से बडे-बडे और महत्वपूर्ण उद्योगो का केन्द्रीकरण अथवा राष्ट्रीयकरण हो। मेरा तो ख्याल है कि इन दो कदमो मे जरा भी परस्पर विरोध नही है। आचार्य श्रीमन्नारायण ने जो उदाहरण दिये है वे वर्तमान काल के है। परन्तु जब हम आजाद हो जायगे, जब आज की भाति शहरी उद्योगो का महत्व घट जायगा और ग्रामोद्योगो का महत्व बहुत अधिक बढ जायगा तब वातावरण बहुत अधिक साफ हो जायगा और जिन बातो को आज आचार्य श्रीमन्नारायण और हम अच्छी तरह देख नही पाते है उन्हे हम तब स्वय बहुत अच्छी तरह और साफ तौर पर देख सकेगे। मुझे तो आशा है कि वह दिन बहुत दूर नही है। हम और आप उसे अवश्य देख सकेगे। आज तो इस विदेशी राज्य ने हर चीज पर रोक लगा रक्खी है परन्तु कल राज्य पर जनता का अधिकार हो जायगा—और यह एक बहुत बडी बात होगी, जिसका असर हर चीज पर पडेगा। तब यदि आचार्य श्रीमन्नारायण की योजना (इस शब्द के प्रयोग के लिए क्षमा करे) पर अमल होता है तो राज्य का नियन्त्रण

---

[१] 'एन ऐसे आन गाधियन इकॉनामिक्स', पृ० ३२

दीखने मे बहुत बड़ा मालूम होने पर भी वास्तव मे वह बहुत कम—कम-से-कम—होगा। जरा कल्पना कीजिये कि इस देश के सात लाख गाव जागृत हो जाते है, वे अपना भला-बुरा समझने लग जाते है और वे केन्द्रीय शासन का सचालन कर रहे है, तब क्या स्थिति होगी? शहर तो बहुत कम हैं।"[1]

मैं इतना और जोड दू कि गाधीजी के अर्थशास्त्र-सम्बन्धी विचारों का मूल्याकन पश्चिमी अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो के आधार पर नही किया जाना चाहिए। वह तो पुराण-पन्थी और टकसाली है। गाधीजी हमको एक नया और अधिक अच्छा रास्ता बता रहे है। उसकी आजमाइश हम भारत-वासी नही करेंगे तो कौन करेगा?

क्या यह विचार मध्ययुगीन है?

गाधीजी के अर्थशास्त्र-सम्बन्धी विचारो की एक और आलोचना होती है, जो घिसी-पिटी है। कुछ लोग कहते है कि 'ये विचार पुराण-पन्थी और अवैज्ञानिक है। गाधीजी तो हमे बीसवी सदी से हमारे पुरखो के जमाने मे वापस ले जाना चाहते है।'[2] इस दलील का जवाब मैं गाधीवादी योजना मे पहले ही दे चुका हू। परन्तु मैं फिर कहूगा कि यदि भारी-भारी शक्ति-सचालित यन्त्रो की सहायता से बहुत बडे पैमाने पर माल बनाने का नाम ही सच्ची वैज्ञानिक और सास्कृतिक प्रगति है—चाहे वह पूजीवादी पद्धति से किया जाय या साम्यवादी पद्धति से—तो मैं कहता हू, इस प्रगति और विकास को दूर से ही हमारा नमस्कार है, क्योंकि इससे तो समस्त ससार की जड ही हिल जायगी। गाधीजी न तो सनकी थे और न निरे स्वप्न-द्रष्टा। वह तो बिल्कुल व्यावहारिक आदर्शवादी थे। ससार के महापुरुषो मे उन्होने शायद सबसे कम पढा था, परन्तु अपने देश की नाडी को पहचानकर उसकी बीमारी पर सही औषधि की योजना करने की अप्रतिम शक्ति उनमे थी। वह बहुत विद्वान नही थे। पश्चिम के अर्थ-शास्त्रियो के लिखे ग्रन्थ उन्होने शायद ही पढे होगे। परन्तु आज जो

---

[1] 'हरिजन' २८ जून, १९४६

[2] 'ग्लासी' ३ फरवरी, १९५५

समस्याए ससार को इतना परेशान कर रही है, उनके लिए उन्होने जो उपाय सुझाये है, वे अत्यन्त व्यावहारिक है। यह कहना भूल है कि गाधीजी का अर्थशास्त्र ससार को फिर से मध्ययुग मे ले जानेवाला है या हवा की विरुद्ध दिशा मे किश्ती ले जाने जैसा कठिन है। लुई फिशर ने ता अपने अन्तर की गहराई से कहा है, "आज ससार चौराहे पर खडा है और गाधी बता रहा है कि किधर जाने मे उसका कल्याण है। वह कहता है कि 'अपने दिलो के अन्दर सर्चलाइट की रोशनी फेककर देखिये।' तब हम देखेग कि गाधी के बताये मार्ग से ही हम एक इन्सान को शोभा देने लायक स्वतन्त्रता और शान्ति प्राप्त कर सकते है।"[1] और यह बिल्कुल सही है। मुझे तो जरा भी सन्देह नही कि गाधीजी जमाने से पीछे नही, बल्कि सौ वर्ष आगे है। यह भी सम्भव है कि पश्चिम के राष्ट्र गाधीजी के सादगी, अहिसा और विकेन्द्रीकरण के आदर्शो को पूर्व के राष्ट्रो की अपेक्षा जल्दी अपना ले, क्योकि अब पश्चिम की सभ्यता से उनका पेट भर गया है और वे उससे ऊब गये है। यदि ऐसा हुआ तो मेरे विचार मे यह एक बहुत बडे दु ख की बात होगी, परन्तु लोग कहते है कि पैगम्बर का मान अपने देश मे नही होता। यह शायद इस लोकोक्ति की ही एक मिसाल बन जाय।

हमसे कहा जाता है कि गाधीजी की दृष्टि वैज्ञानिक नही है। इसलिए हवाई जहाजो के इस युग मे वह बैलगाडीवाली बाते करते है। डॉ० मेघनाद साहा राष्ट्रीय सयोजन समिति के सदस्य और रॉयल सोसायटी के फैलो है। उन्होने रूस की एक सभा मे भाषण देते हुए वहा के विज्ञान-शास्त्रियो से कहा था, "हमारी नजरो मे गाधीजी के विचारो का उतना ही महत्व है, जितना आपकी नजरो मे टॉल्स्टॉय का।"[2] परन्तु ये वैज्ञानिक आज जिस समाज-रचना की तरफ दौडे जा रहे है, उसका प्रतिनिधि एटम बम है। उसकी अपेक्षा गाधीजी की बैलगाडीवाली सभ्यता अन्त मे जाकर मनुष्य-जाति के लिए अधिक कल्याणकारी सिद्ध होनेवाली है, इस बात को वह भूल रहे है। हमे यह नही भूलना चाहिए कि विज्ञान अपने-आपमे कोई साध्य नही है। वह तो हमारे अन्तिम साध्य का एक साधन

[1] 'गाधी एन्ड स्टैलिन', पृ० १४७

[2] 'माई एक्सपीरिएन्सैज इन सोवियत रशिया', पृ० ४८

मात्र है। अगर उस साध्य की प्राप्ति मे वह सहायक नही हो रहा है तो उसका यह सारा विकास हमारे किस काम का ? हमे याद रखना चाहिए कि केवल आकार-प्रकार और दिखावे मे ही विज्ञान नही है। अमरीका के प्रसिद्ध यन्त्रशास्त्री और गाधी-विचार के अध्येता श्री रिचर्ड ग्रेग लिखते है—

"खादी मे विज्ञान का निषेध नही है, बल्कि इसमे तो विज्ञान के एक बडे प्रसिद्ध सिद्धान्त को अर्थशास्त्र के साथ बडी बुद्धिमत्तापूर्वक जोड दिया गया है, जिसे वैज्ञानिक 'सेकण्ड लॉ ऑव थर्मोडायनौमिक्स' के नाम से जानते है। हाथ-चरखी, धुनकी, चरखा और हाथ-करघा बहुत सीधे-सादे यन्त्र है और भारत की आज जैसी स्थिति है उसमे दूसरे यन्त्रो की अपेक्षा ये बडे उपयोगी है। भाप का इजिन, डायनेमो और दूसरे यन्त्र नि सन्देह अपने ढग की अच्छी चीजे है, परन्तु इनके गुणो की प्रशसा करते-करते हमे यह नही भूल जाना चाहिए कि स्वय मनुष्य-शरीर भी एक अत्यन्त आश्चर्यजनक और अप्रतिम यन्त्र है। उसमे बहुत शक्ति भरी पडी है। कुछ यन्त्र आकार-प्रकार मे बहुत बडे होते है, ढेरो उत्पादन भी करते है। नि सन्देह इनका बडा असर होता है। उनके निर्माताओ के प्रति और उनके द्वारा जो इतना सारा काम हो जाता है उसके प्रति आदर भी है, परन्तु ये एक बडी कर्कश आवाज के समान है। एक जगली आदमी की भाति हम अनाडी और कुसस्कारी तो नही है, जो इन्हे देखकर मारे डर के अपने-आपको भूल जाता है। आखिर मनुष्य का दिल और आत्मा अधिक महत्व रखते है।"[1]

इस जमाने मे बड़े-बडे राक्षसी यन्त्रो के बगैर भी हम यन्त्र-शक्ति का उपयोग कर सकते है। यन्त्र-शक्ति को बगैर छेडे आज हम उत्पादन को विकेन्द्रित कर सकते है और फिर भी उसकी सख्या कम नही होने पायगी। "जो लोग समझते है कि बड़े-बडे यन्त्रो और कारखानो के बड़े पैमानेवाले उत्पादन के बगैर हमारा काम नही चल सकता, वे भूलते है। वे विज्ञान की शक्ति को नही जानते।"[2] लेविस ममफोर्ड अमरीका के एक महान्

[1] 'इकोनॉमिक्स ऑव खद्दर', पृ० १०५

[2] 'पॉलिटिक्स ऑव चरखा'—जे० बी० कृपालानी, पृ० ११

समाज-शास्त्री है, उन्होने अपनी पुस्तक 'टेकनिक्स एण्ड सिविलिजेशन' तथा 'कल्चर ऑव सिटीज' मे लिखते है कि ये वडे-वडे कारखानोवाले शहर अव पुराने हो गये है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से ये निकम्मे और हानिकर है। अव तो विज्ञान इतना आगे वढ गया है कि सारे देश मे छोटे-छोटे शहर वगीचो के वीच मे वस सकते है और वहा छोटे-छोटे कारखानो मे सारे काम हो सकते है। उनमे किसी प्रकार की कमी नही आने पायगी और "उद्योग तथा समाज के शारीरिक और नैतिक आरोग्य की दृष्टि से भी ये स्थान उत्तम होगे।"

फिर यह ख्याल वना लेना भी वडा गलत है कि गाधीजी यन्त्र-मात्र के विरोधी थे। उनके विचारो को ग्रहण करने से जिनके स्वार्थों को चोट पहुचने का अदेशा है, शायद ये लोग जान-वूझकर उन्हे गलत रूप मे पेश करते है। गाधीजी कहते है,"यन्त्र-मात्र से मेरा कोई विरोध नही है। सर्व-साधारण के लाभ के लिए वनाये जानेवाले हर यन्त्र का मै तो स्वागत करूगा।"आज जो मजदूरी की वचत करानेवाले यन्त्रो की खोज का पागलपन सवार है, उसके वह जरूर विरोधी है। झोपडो मे रहनेवाले करोडो गरीवो के काम के वोझ को हल्का करनेवाले यन्त्र तो वह खुद चाहते है। फिर गाधीजी ने यह भी वहुत स्पष्ट रूप से कह दिया है कि राष्ट्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण वडे उद्योगो के यन्त्रीकरण और केन्द्रीकरण के भी वह विरोधी नही है। इतने पर भी सदा के लिए वैलगाडीवाली समाज-रचना का और मध्ययुगीन अवैज्ञानिक सभ्यता के हिमायती के रूप मे उन्हे पेश करना सिवा वौद्धिक वेईमानी के—यह शब्द भी वहुत सौम्य है—और कुछ नही है।

असल मे गाधीजी भारत के प्राचीन विकेन्द्रित औद्योगीकरण मे विश्वास करते है। इतिहास इस वात का साक्षी है कि हमारी पुरानी दस्तकारियो ने सौंदर्य मे वडी पूर्णता प्राप्त कर ली थी। मसालो मे सुरक्षित मिस्र के शव, महीन-से-महीन भारतीय मलमल मे लपेटे मिले है। रोम के सम्राटो के दरवारियो की गृहणिया भारतीय रेशम के अप्रतिम रगवाले वस्त्रो से अपने शरीरो को सजाने मे गौरव अनुभव करती थी। टैवर्नियर एक फरासीसी पर्यटक था। सत्रहवी सदी मे वह कई वार भारत आया था।

उन दिनो ईरान का कोई मुहम्मदअली बेग भारत मे ईरान के शाह का राजदूत था। इस बेग का एक किस्सा टैवर्नियर ने लिखते हुए कहा है कि बेग जब भारत से अपने देश को लौट रहा था तब मुगल बादशाह ने ईरान के शाह के पास भेट के रूप मे शुतुरमुर्ग के अडे के आकार का एक नारियल भेजा था, जिसके ऊपर जवाहरात जडे हुए थे। शाह सेफ ने जब उसे खुलवाया तो उसके अन्दर एक पगडी रक्खी मिली, जो साठ हाथ लम्बी थी। इसकी मलमल इतनी महीन थी कि आपको पता ही नही लग सकता था कि आपके हाथ मे कुछ है। विज्ञान के क्षेत्र मे भी धातु के तथा रासायनिक पदार्थों के निर्माण मे और दस्तकारियो मे भारतीयो ने आश्चर्यजनक प्रगति कर ली थी। भारत मे वह इस्पात तैयार होता था, जिससे दमिश्की चाकू, छुरिया, तलवारे बनती थी। दिल्ली का प्रसिद्ध लोहे का स्तम्भ भी इसी इस्पात का बना हुआ है और डेढ हजार वर्ष पुराना है। अशोक-स्तम्भो की चमक और चिकनाहट को देखकर आजकल के कारीगर भी हैरान हो जाते है। भारत का सारा निर्यात व्यापार भारतीय जहाजो मे ही होता था। इस प्रकार भारत की प्रगति और कुशलता के और भी अनेक उदाहरण गिनाये जा सकते है। परन्तु यह विषयान्तर होगा। हमारा प्रस्तुत विषय तो यह है कि विकेन्द्रित ग्रामोद्योग और विज्ञान तथा प्रगति मे—जिसपर आज की दुनिया को इतना नाज है—कोई झगडा नही है।

स्वावलम्बन क्यों ?

आजकल हम 'विश्व सरकार' के सपने देख रहे है। इसलिए कहा जाता है कि आदिकाल के लोगो की भाति हमे सकुचित दृष्टिवाला नही बन जाना चाहिए। यह तो पीछे ले जानेवाला कदम है। वास्तव मे अधिक-से-अधिक स्वावलम्बन गाधीजी के स्वदेशीवाले सिद्धान्त का एक अग है। उनके इस स्वदेशी धर्म का अभिप्राय यह है कि हमे पहले उन्ही चीजो और उन्ही लोगो से सेवा लेनी देनी चाहिए, जो हमारे आसपास और नजदीक है। दूर के लोगो और चीजों की बात बाद मे करे। गाधीजी के इस विचार की जड मे मनुष्यता का विचार है। वे पडोसी की सेवा द्वारा देश की सेवा करने के पक्षपाती है। पहले उनकी बनाई चीजे हम खरीदे। सामाजिक

सम्बन्ध भी कायम करने है तो पहले उनकी सेवा करे। इसमे दोनो का कल्याण है और यो गहराई से देखना चाहे तो इसमे वडा गहरा अर्थ-शास्त्र भी भरा पडा है। इस प्रकार के स्वावलम्बन और स्वदेशी धर्म के पालन से वेकारी की उलझनो से हम अपने-आप वच जाते है और परिवहन, मुद्रा, विनिमय, वितरण न्याययुक्त होकर करो का वोझ कम-से-कम हो जाता है। विशुद्ध आर्थिक दृष्टि से देखे तो स्थानीय स्वाव-लम्वन का सिद्धान्त स्थानीय कच्चे माल का और श्रम का वहीपर उपयोग कर लेने का प्रयास है। इससे हर चीज का, व्यापक-से-व्यापक अर्थ मे, अच्छे-से-अच्छा उपयोग हो जाता है। उपभोग्य वस्तुओ को दूर के वाजारो के लिए नही, वल्कि स्थानीय जरूरतो के लिए ही यदि हम पैदा करते है तो इससे उत्पादक, व्यापारी और ग्राहक किसीको किसी प्रकार का नुकसान नही हो सकता। वितरण न्याययुक्त हो जाता है, जरूरत-मन्दो को काम के लिए मारे-मारे नही भटकना पडता और सवके जीवन मे अपने-आप सहकारिता आ जाती है। कुछ लोग कहते है कि श्रम-विभा-जन और उद्योगो को एक जगह ही केन्द्रित करना लाभदायक होता है। स्वावलम्वन का सिद्धान्त इसके विरुद्ध जाता है। यह सच है कि सव उद्योग एक ही जगह रहे, इसमे कारखाने के अन्दर और वाहर भी कई लाभ है। परन्तु हमे भूलना नही चाहिए कि इसमे अनेक वुराइया भी है—उदा-हरणार्थ मजदूर-वस्तियो की गन्दगी, घनी आवादी, रोजी की अनि-श्चितता (प्रिकेरियस इक्वीलिब्रियम ऑव एमप्लॉयमेट) और परिवहन के साधनो की असाधारण खीचातान। वुडहेड अकाल आयोग और अनाज-सम्वन्धी नीति की कमेटी की सिफारिशो मे भी यही कहा गया है कि वार-वार अकालो से वचना है तो स्थानीय स्वावलम्वन की पद्धति ही अच्छी है। फिर स्थानीय स्वावलम्वन की दृष्टि से खाद्यान्नो का वोना लाभदायक है, व्यापार की चीजे और धन कमानेवाली फसले वोना अच्छा नही, क्योकि यह जमाना हवाई आक्रमणो का है। इसलिए आजकल तो अन्न, वस्त्र और मकानो के सामान से सम्वन्ध रखनेवाले कारखानो को एक ही जगह मे एकत्र कर देना समझदारी नही है। यदि उपभोग्य वस्तुओ के कारखाने कुछ इने-गिने शहरो मे ही केन्द्रित कर दिये जाते है तो थोडे

से बम सारे देश की अर्थ-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर सकते है। राजनैतिक स्वतन्त्रता की दृष्टि से भी गाधीजी इस तरह कारखानों का कुछ गिनती के शहरो मे केन्द्रित कर देना पसन्द नही करते। इससे लोग अपनी दैनिक आवश्यकताओ के बारे मे नाहक राज्य के मुहताज हो जाते है। मौका पड़ने पर सत्ता भी इसका दुरुपयोग कर सकती है—चाहे वह लोकतन्त्री हो या अधिनायकतन्त्रवाली, परन्तु इस बारे मे गाधीजी का बहुत आग्रह भी नही है। वह नही चाहते कि ये इतनी दूर-दूर भी हो कि आपस मे सहयोग भी न कर सके। गावो मे और उत्पादन-केन्द्रो मे भी परस्पर सहयोग—समन्वय—तो होना ही चाहिए।

स्थानीय स्वावलम्बन मे भी विवेक तो रखना ही होगा। जैसा कि मैने गाधीवादी योजना मे बताया है, स्वावलबन के क्षेत्र प्रत्येक उद्योग के लिए अलग-अलग छोटे-बडे होगे। कुछ उद्योगो के लिए यह क्षेत्र केवल एक, दो या चार ही गाव का होगा तो कोई उद्योग ऐसा भी हो सकता है, जिसका क्षेत्र एक तहसील, जिला या एक छोटे-से प्रान्त जितना बडा हो। अन्न, वस्त्र या मकान के जरूरी सामान से सम्बन्ध रखनेवाले उद्योग के क्षेत्र स्वभावत: छोटे होगे। परन्तु मौज-शौक और आराम की चीजो के वारे मे स्वावलम्बन का क्षेत्र चाहे प्रान्त हो या सारा देश।

हम अतर्राष्ट्रीयता और विश्व-सरकार के वारे मे वहुत बढ-चढकर बाते करते है और गाधीजी के ग्राम-स्वावलम्बन को कवीलो की असभ्यावस्था का अवशेष कहकर उसकी खिल्ली उडाते है, परन्तु पश्चिमी सभ्यता के प्रति अपने उत्साह के अतिरेक मे हम एक बात भूल जाते है। वह यह कि आर्थिक क्षेत्र मे गाधीजी स्वावलम्बन की जो वात करते है, सो इसलिए कि लोग आर्थिक और राजनैतिक मामलो मे किसीके मुहताज न रहे और उनका शोषण न हो। परन्तु दूसरे प्रकार से उनके विचार वहुत व्यापक है। अतर्राष्ट्रीयता से वह कही आगे है। केवल अपने गाव के ही नही, बल्कि प्रान्त, देश और समस्त ससार के मनुष्यो को भाई समझने के लिए वह हमे कहते है। समस्त विश्व के साथ हमारा तादात्म्य हो। उस अनन्त के साथ तादात्म्य अनुभव करने के लिए यह जरूरी नही कि हम हवाई जहाजो मे लगातार उडते रहे। गाधीजी मानते है कि ग्राम और विश्व दोनो को ९

एकसाथ प्रेम कर सकते हैं। इनमे कोई विरोध नही है। सक्षेप में, गांधीजी का आशय यह है कि आर्थिक वातो मे हमारा व्यवहार-सूत्र स्थानीय स्वावलम्वन हो, किन्तु सास्कृतिक और तात्विक दृष्टि से हम 'वसुधैव कुटुवकम्' के आदर्श पर ही चले।

आर्थिक शून्यता

गाधीजी के अर्थशास्त्र के विरुद्ध एक यह भी आपत्ति उठाई जाती है कि "उद्योग के क्षेत्र मे पिछडा हुआ देश ससार के शक्ति-सतुलन को सदा विगाडता रहेगा। अधिक विकसित देशो की आक्रमणकारी वृत्तियो के के लिए वह हमेशा एक प्रलोभन का काम करेगा।"[1] उन्हे भ्रम है कि विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था से "देश खाली-खाली-सा लगेगा और यह वाहर की विकसित भौतिक शक्तियो के लिए एक जवरदस्त आकर्षण वन जायगा।"[2] इस व्यवस्था की रक्षा के लिए आप करो की दीवार खडी कर सकते हैं, पर वह टिकेगी नही। तव "गाधीजी की अर्थ-व्यवस्था की रक्षा के लिए आपको टैंक, हवाई जहाज और पनडुब्वियो की मदद लेनी पडेगी।" मेरी नम्र राय है कि गाधीजी के विचारो को समझने मे यहा वुनियादी भूल हो रही है और इसीके कारण ऐसी-ऐसी आपत्तिया और शकाए उठाई जाती हैं। गाधीजी ने यह कभी नही कहा कि हम उद्योगो मे पिछडे हुए रहे। इस मुद्दे को पहले एक वार मैं स्पष्ट कर चुका हू। खास मुद्दा तो यह है कि हम उत्पादन किस प्रकार वढाना चाहते हैं? वडे-वडे यन्त्रो और कारखानो की मदद से ढेरो चीजे वनाकर या इस प्रकार कि छोटे-छोटे यन्त्र घर-घर मे फैल जाय और सारे देश के लोग काम करे और उत्पादन का ढेर लगा दे? गाधीजी ने यह भी वहुत साफ तौर पर कह दिया है कि देश मे राष्ट्रीय महत्व के कुछ उद्योगो मे वडे यन्त्रो से काम लिया जाय और उनमे वडे पैमाने पर उत्पादन हो और राष्ट्रीय विकास के लिए वे आवश्यक हो। तो उसपर उन्हे कोई आपत्ति नही, परतु जहातक रोजमर्रा की जरूरत की चीजे वनानेवाली दूसरे उद्योगो की वात है, वे तो सारे देश मे फैले हुए हो और उन्हे सहकारी गृहोद्योगो के तौर पर

---

[1] 'डिस्कवरी ऑव इडिया', पृ० ४६०

[2] 'प्लैनिंग फॉर प्लेंटी', पृ० ४१

ही चलाया जाय। मैं तो समझता हू कि इससे अधिक अच्छी और वैज्ञानिक दूसरी कोई पद्धति हो ही नही सकती। हम क्यो भुला देते है कि जापान तो गृहोद्योगो का घर ही है। देश के सम्पूर्ण औद्योगिक उत्पादन का ७४ प्रतिशत निर्माण वहा इन छोटे-छोटे और बीच के उद्योगो से ही होता है। क्या इन उद्योगो ने जापान मे कोई शून्यता पैदा कर दी और पश्चिम की शक्तियो ने उसे धर दबोचा है? नही, वहा तो इससे उलटा ही हुआ है। विकेन्द्रित उद्योगो ने वहा जादू का-सा काम किया और उसने दूसरे देशो के वाजारो को अपने माल से पाट दिया है। शून्यता जापान मे नही, पश्चिम के उन देशो मे पैदा हो गई, जिनमे अत्यधिक औद्योगीकरण हो गया था। इसका कारण वह वोझीली और खर्चीली अर्थ-व्यवस्था है, जिसका यूरोप और अमरीका को इतना शौक है।

परन्तु जापानी ढग की विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था मे और गाधीजी के ग्रामोद्योग के सिद्धान्त मे एक बुनियादी अन्तर है। जापान के छोटे-छोटे उद्योग वहा के प्रभावशाली पूजीपतियो के हाथो मे थे और सस्ती मजदूरी तथा कम पूजी मे काम चल जाता है, इस ख्याल से उन्होने इन उद्योगो को गावो मे फैला दिया था। इस पूजीवादी औद्योगिक सगठन ने व्यापारिक क्षेत्र मे ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा को पैदा किया, जिसमे से अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष खडा हो गया। गाधीजी नही चाहते कि उनके इस ग्रामोद्योगो के सगठन के द्वारा ऐसी हिसक और आक्रमणकारी प्रवृत्तिया जागे। वह चाहते है कि यह औद्योगिक सगठन ग्राम-सभाओ के हाथो मे रहे और वे स्थानीय स्वावलबन के आदर्श को सामने रखकर इनका सचालन सहकारी पद्धति से करे। इससे स्पष्ट है कि यह अर्थ-व्यवस्था न तो देश मे कोई आर्थिक शून्यता पैदा करेगी और न उसका हेतु यह है कि अविकसित देशो मे घुसकर कोई वहा अपना साम्राज्य कायम करे।

राष्ट्र की रक्षा की दृष्टि से देखे तो भी गाधीजी की वताई अर्थ-व्यवस्था मे पश्चिमी ढग की केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा कम भय है और इस बात को ये राष्ट्र खुद भी अब दूसरे महायुद्ध के बाद अनुभव करने लगे है। परन्तु इससे पहले उन्हे कितनी जबरदस्त हानि उठानी पडी, वही जानते है। चीन का उदाहरण भी हमारे सामने है ही। जापान के आक्रमणो का

सामना करने मे सहकारिता पर आधारित उसके • छोटे-छोटे औद्योगिक सगठनो ने उसकी बडी सहायता की है। ये उसकी दूसरी रक्षा-पक्ति बन गये थे। यदि वहा व्यापक रूप से यह विकेन्द्रित सगठन नही होता तो चीन का सुरक्षा-सगठन ताश के महल की भाति हवा मे कही-का-कही उड जाता। इसलिए गाधीजी की अर्थ-व्यवस्था की रक्षा के लिए टैंक, हवाई जहाज और पनडुब्बिया जुटाने की चिन्ता दयालु मित्रो को नही करनी चाहिए, यद्यपि हमने यह तो कल्पना नही की है कि स्वतत्र भारत को सशस्त्र फौजो की जरूरत ही नही होगी। गाधीजी नही चाहते कि भारत किसी भी देश का आर्थिक शोषण करे। इसी प्रकार वह यह भी नही सह सकते कि कोई दूसरा देश भारत का आर्थिक शोषण करे। अनुचित वाहरी प्रतिस्पर्धा से भारत के उद्योगो की जरूर रक्षा की जायगी। यही क्यो, खुद देश के अन्दर भी कारखानो मे बने माल की अनुचित स्पर्धा से ग्रामोद्योगो की रक्षा उसे करनी ही होगी। मुक्त व्यापारवाला सिद्धान्त अब पुराना और इसलिए निकम्मा हो गया है। उसे गाधीजी नही चाहते। आज सबसे महत्वपूर्ण वात है सयोजन। वह वहुत सोच-समझकर बुद्धिमत्ता के साथ किया जाना चाहिए।

ग्राम-पंचायत 'अयोग्य' है !

कुछ लोगो का ख्याल है कि ग्राम-पचायते अभी इस लायक नही है कि वे आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से ग्रामो का विकास अच्छी तरह कर सके, क्योकि गावो मे राग-द्वेष और आपसी झगडे वहुत है। वहा तो अपनी जिम्मेदारियो का ख्याल भी पैदा नही हुआ है। इसलिए ये आलोचक मानते है कि उद्योगो का विकेन्द्रीकरण करने से वडी अव्यवस्था पैदा हो जायगी और कुछ भी प्रगति नही हो पायगी। परन्तु इसका जवाव वहुत सीधा-सादा है। गावोकी असली हालत की जानकारी जितनी गाधीजी को है उतनी और किसी को नही है। उन्हे इन दोषो का पता न हो ऐसी वात नही है, परन्तु असली सवाल तो यह है कि हम देश का निर्माण ठेठ नीचे से करना चाहते है या अपनी सारी योजनाए समाज पर केवल ऊपर से लादना और थोपना चाहते है। यदि हम लोकतन्त्र को वचाना चाहते है

तो हमे उसे अधिक-से-अधिक विकेन्द्रित करके छोटे-छोटे क्षेत्रो मे स्वावलम्बी बनाना होगा। केवल दो बातो का ध्यान रहे—राष्ट्र की सुरक्षा मे आंच न आवे और सामाजिक जीवन असम्भव न हो जाय। लोकतन्त्री समाज का आधारभूत सिद्धान्त यही है कि उसमे व्यक्ति और समाज दोनों का शारीरिक, बौद्धिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक विकास पूरी-पूरी तरह हो। समाज की छोटी-छोटी इकाइयो के हाथो मे सत्ता सौंपी जायगी—भले ही आप यह क्रमश करे—तभी उनमे नागरिक जिम्मेदारी की भावना का विकास होगा। जबतक आर्थिक और राजनैनिक सत्ता किसीके हाथ मे नही होगी, नागरिक जिम्मेदारी का विकास वहां हो ही नही सकता।

यह सच है कि कर्तव्यो का स्थान पहले है। कर्तव्यो के बगैर अधिकार नही दिये जाने चाहिए, परन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि जबतक कुछ अधिकार नही होंगे, कर्तव्य की भावना का उदय ही नही होगा। अग्रेज हमने सदा यही कहा करते थे कि हम अभी आजादी पाने के योग्य नही है। परन्तु हमने उसके जवाब मे उनसे यही कहा कि "सुराज्य भी स्वराज्य की बराबरी नही कर सकता।" हमे भूल करने की भी आजादी होनी

अच्छी तरह सम्बद्ध थे। गाधीजी भी चाहते है कि गावो की पचायते तहसील मे, तहसीले जिलो मे, जिले प्रान्तो मे और प्रान्तो की पचायते एक राष्ट्रीय सघ के रूप मे सम्बद्ध हो और उनकी एक ससद हो। परन्तु ऊपर की पचायते सलाह देने और परस्पर समन्वय करने का काम करेगी। उनकी कोई सत्ता नही होगी।

इसी प्रकार यह कल्पना भी कर लेना गलत है कि गाधीजी के विचारो के अनुसार सोचनेवाले लोग बडे-बडे उद्योगो और कारखानो को हटाकर उनके स्थान पर केवल ग्रामोद्योग ही चाहते है। गाधीजी के विचारो का मर्म यह है कि हमारा जीवन सादा हो और विचार उच्च हो और इस आधार पर नवीन समाज की रचना की जाय।

गाधीवादी योजना मे समाज का केन्द्र-विन्दु किसान होगा। समाज मे सम्मान और गौरव का पात्र वह होगा। गावो मे ही छोटे-छोटे गृहोद्योग और कारखाने भी होगे। इनमे काम करने के लिए किसीको अपने खेतो को छोडकर दूर नही जाना होगा। किसान एक ऐसी नई आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था का प्रतिनिधि और केन्द्र होगा, जो अहिसा, सादगी, न्याय और लोकतन्त्र पर आधारित होगी। बम्बईवाली योजना इससे एकदम भिन्न है। उसके केन्द्र-स्थान मे है पश्चिमी ढग के बडे-बडे कारखाने और मिले, और खेती, ग्रामोद्योग आदि को तसवीर के कोनो मे कही स्थान दे दिया गया है। इस प्रकार ये दोनो योजनाए बुनियादी रूप मे एक-दूसरे से भिन्न है। यह अन्तर मामूली नही है।

बुनियादी सिद्धान्तों का पुनरुच्चारण

हवाई युद्धोवाले इस नये युग को ध्यान मे रखते हुए केवल उत्पादन के कुछ उपकरणो और औजारो मे फेरफार करने का नाम गाधीवादी अर्थ-व्यवस्था नही है। गाधीजी खादी और ग्रामोद्योगो को स्वीकार करने के लिए जो कहते है, इसका हेतु बडा गहरा है। वे एकदम एक भिन्न सभ्यता और सस्कृति की ओर हमे ले जाना चाहते है, जिसके मूल्य बिल्कुल दूसरे प्रकार के होगे।

इस नवीन समस्या और सस्कृति के आधार-भूत सिद्धान्त क्या-क्या है,

है। यह कहते हुए उन्हे भीतर से शायद ईर्ष्या भी हो रही होगी, परन्तु गाधीजी नही चाहते कि भारत अपने यहा इस प्रकार का भौतिक विकास करे।

जैसा कि पण्डित नेहरू ने कहा है—"गाधीजी नही पसन्द करते कि हम अपने नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यो को छोडकर अपने जीवन के स्तर को और विकास की सामग्रियो को इस प्रकार लगातार वढाते ही जाय।"[1] इसीलिए तो वडे पैमाने पर उत्पादन करनेवाले बडे-वडे कारखानो की वह वृद्धि नही चाहते, फिर वे पूजीवादी व्यवस्था मे हो या साम्यवादी व्यवस्था मे। वह लिखते है

"मैं मानता हू कि स्वतन्त्र भारत मुसीवतो मे फसे हुए इस ससार केप्रति अपना कर्त्तव्य एक ही प्रकार से अदा कर सकता है। वह इस तरह कि वह अपना जीवन सादा और उच्च वनावे, किसीसे झगडा न करे, शान्ति से रहे और अपने झोपडो के जीवन को ही विकसित करे। शैतान की पूजा मनुष्य को वेगवान यन्त्रो का गुलाम वना देती है। फिर दिमाग मे उच्च विचार आ ही नही सकते। जीवन को उच्च वनाने से ही उसमे कुछ शोभा और सौंदर्य आ सकता है।"[1]

सक्षेप मे कहे तो गाधीजी केवल रहन-सहन को ही नही, बल्कि प्रत्यक्ष जीवन को ऊचा उठाना चाहते है। एक मनुष्य के पास अपार सम्पत्ति है, परन्तु वह वुद्धि-शून्य है और आत्मा को जानता ही नही तो उनके राम-राज्य मे उसे कोई नही पूछेगा,क्योकि वह कभी सलाह नही देगे कि तीनो लोको के राज्य के लिए भी कोई अपनी आत्मा को खो दे। प्राध्यापक कुमारप्पा जरा भी पसन्द नही करते थे कि किसी जीवन-स्तर को ऊचा और किसीको नीचा कहा जाय। भौतिक साधनो पर आधारित जीवन के लिए ऊचा और नीचा नही, वल्कि 'सादा' और 'जटिल' शव्दो का प्रयोग अधिक उपयुक्त होगा। 'ऊचा' और 'नीचा' शव्दो का प्रयोग जीवन के लिए करना अधिक सही होगा।

पश्चिम के अर्थशास्त्र की दृष्टि से इस प्रश्न को देखे तो भी एक सीमा से अधिक धन को एकत्र करना धन के उपयोगिता-ह्रास-नियम के (लॉ ऑव

१ 'डिस्कवरी ऑव इण्डिया,' पहला सस्करण पृ० ४८५

२ 'हरिजन', १ सितम्वर १९४६

डिमिनिशिग यूटिलिटी) के अनुसार धन का दुरुपयोग और हानिकर होगा। एक ही देश मे और अन्य देशो के वीच भी आयो का असमान होना अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो (लॉ ऑव ईक्विमार्जिनल यूटिलिटी) के अनुसार अनिष्ट और अवैधानिक है। इसी प्रकार समाज के हित मे भी यह उचित नही कि लोग अपनी जरूरतो और विलास-सामग्री को लगातार वढाते रहे और उसपर कोई नियन्त्रण न करे। इसलिए शुद्ध अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी हमारा आदर्श यही होना चाहिए कि "जवतक सवकी जरूरतो की पूर्ति नही हो जाती, कोई विलास की सामग्री की इच्छा न करे।" यह नियम केवल एक देश या राष्ट्र के लिए नही, वल्कि ससार के समस्त राष्ट्रो के लिए लागू होना चाहिए। यदि हम इस नियम को स्वीकार कर ले तो गाधीजी का सादे जीवन का आदर्श वहुत आवश्यक और उपयोगी सिद्ध होगा।

गाधीजी की इच्छा यह कदापि नही कि भारत या दूसरा कोई भी देश दरिद्रता या अभाव का जीवन विताये। अपने देश के आधे पेट और नगे निवासियो के प्रति हार्दिक समवेदना प्रकट करने के लिए वह खुद जरूर एक पचा पहनकर रहते है, परन्तु सारा देश हमेशा पचा पहनकर रहे और अपने जीवन को इसी प्रकार ढाल ले, यह उनकी अपेक्षा नही है। वह तो चाहते है कि हर मनुष्य को सतुलित और पोषक भोजन, शरीर की रक्षा के लिए पर्याप्त कपडे और रहने के लिए स्वच्छ, स्वास्थ्यप्रद और हवादार मकान अवश्य मिले। एक दिन हम चर्चा कर रहे थे कि उनकी कल्पना के स्वराज्य मे मनुष्य का न्यूनतम जीवन-स्तर कैसा होगा। तव उन्होने कहा था, "दूसरी योजनावालो ने इस वारे मे जो कल्पना की है, उससे मै तिल-भर भी कम नही चाहूगा," परन्तु वह नही मानते कि ऐसा जीवन-स्तर हमारे सयोजन का आदर्श हो। मनुष्य के पूर्ण विकास के लिए वह एक साधन-मात्र माना जायेगा। सादगी का अर्थ आलस्य, दरिद्रता और भोडापन नही। उसका अर्थ तो है अमुक प्रकार के विचार और जीवन की एक दृष्टि। अपने कल्पनागत भारत का गाव कैसा होगा, इसका चित्र खीचते हुए वह लिखते है

"जव हमारे गाव पूरी तरह से विकसित हो जायगे तव उनमे कला-

कारो और कुशल कारीगरो की कमी नही होगी। वहा कवि होगे, कलाकार होगे, स्थापत्य-कला-विशारद होगे, भाषा-शास्त्री होगे और सशोधक भी होगे। मतलब यह कि जीवन के लिए जितनी भी चीजो की जरूरत होती है, उनमे से एक की भी कमी वहा नही होगी। आज के गाव तो निरे घूरे के ढेर है। भविष्य के गाव तो नन्दन-वन-से होगे और उनके निवासी इतने बुद्धिमान होगे कि न कोई उन्हे धोखा दे सकेगा, न उनका शोषण कर सकेगा।"

गाधीजी की सादगी का वैचारिक आधार अहिसा और रोजी के लिए किये गए शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा है। रोजी के लिए किये जानेवाले शरीर-श्रम को गाधीजी एक प्रकार से भगवान की भक्ति मानते है। उससे मनुष्य की प्रतिष्ठा घटती नही, बल्कि बढती है। मनोविकास के लिए भी हाथो से काम करना बडा जरूरी है। इस सिद्धान्त को अब बहुत-से शिक्षा-शास्त्री और मानस-शास्त्री भी मानने लगे है। गाधीजी की वर्धा-शिक्षा-योजना इसीपर आधारित है। आधुनिक अर्थशास्त्र की भाषा मे कहे तो अहिंसा का अर्थ है रक्तहीन अथवा प्राध्यापक हैरल्ड लास्की के शब्दो मे—लोक-सम्मत क्रान्ति के द्वारा शोषण-हीन सुविकसित समाजवाद की स्थापना। इसमे बीच मे मुनाफा कमानेवाले या 'विचौलिये' नही होगे। गाधीजी कहते है

"समाजवाद स्फटिक की तरह शुद्ध है। इसलिए उसकी प्राप्ति के साधन भी उतने ही शुद्ध होने चाहिए। अशुद्ध साधनो से प्राप्त साध्य भी अशुद्ध हो जाता है। इसलिए राजा का शिरच्छेद करने से राजा और किसान बराबर नही हो सकते। इसी प्रकार हिंसा द्वारा मालिको और मजदूरो के भेद को नही मिटाया जा सकता। इसलिए केवल शुद्ध हृदय समाजवादी पुरुष ही भारत मे और ससार मे समाजवाद की स्थापना कर सकेगे।"[१]

गाधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को भी लोगो ने बहुत गलत समझा है, परन्तु मैं यहा उसकी चर्चा नही करना चाहता। इस विषय मे मैं सिर्फ इतना ही कहूगा कि समाज के आर्थिक जीवन को बनाने मे राज्य का क्या

---

[१] 'हरिजन', १३ जुलाई १९४७

कर्तव्य है, इस विषय मे ससार के अर्थ-शास्त्री जिस आधुनिकतम और प्रगतिशील नतीजे पर पहुचे है, उससे यह अलग नही है। जिज्ञासु पाठको को मेरी सलाह है कि इस विषय मे वे प्राध्यापक दातवला की लिखी 'गाधीज्म रिकन्सीडर्ड' पुस्तक पढ जाय। उसमे उन्हे अपनी शकाओ का उत्तर मिल जायगा।

पूरा रोजगार

यन्त्रो की सहायता से बड पैमाने पर माल पैदा करनेवाले बडे-बडे कारखानो के गाधीजी विरुद्ध है, उसका एक कारण यह भी है कि इससे बेकारी बढती है। भारत जैसे देश मे यह कारण इसलिए और भी महत्वपूर्ण बन जाता है कि यहापर पूजी कम और मनुष्य बहुत अधिक है। अमरीका की बात दूसरी है। वहा आबादी बहुत कम और प्रदेश विस्तृत है। वहा यन्त्रीकरण के बगैर शायद उनका काम चल ही नही सकता। इसलिए भारत को पश्चिमी पद्धति की आखे मूदकर नकल नही करनी चाहिए। हर देश की परिस्थिति अलग-अलग होती है। कोई चीज एक जगह लाभदायक हो सकती है, परन्तु दूसरी जगह भी वह उसी प्रकार लाभदायक होगी, ऐसी बात नही है।

इसलिए जब भारत मे सयोजन का प्रश्न उठता है तो गाधीजी हमेशा यहा की आबादी को पूरा काम देने की बात बडे जोर के साथ रखते है और जहातक इस नीति का सवाल है, बहुत बडे-बडे लोगो ने इसको अच्छा बताया है। पश्चिम के अर्थशास्त्री भी कहते है कि आर्थिक और नैतिक दृष्टि से आप समाज का भला चाहते है तो प्रत्येक आदमी को पूरा काम अवश्य मिलना चाहिए। सर विलियम बीवरिज कहते है कि "बेकारी से शरीर की तो हानि होती ही है, परन्तु सबसे बडी हानि होती है नैतिक। बेकारी दरिद्रता को बढाती है, परन्तु इससे भी अधिक वह समाज मे भय और द्वेष उत्पन्न करती है।"[१]

नाजी जर्मनी और सोवियत रूस ने पूरी योजना बनाकर फौजी अनुशासन की मदद से बेकारी के प्रश्न को हल करने का अधिनायक तत्री प्रयत्न किया। पश्चिम के लोकतत्रो ने इस हल को पसन्द नही किया। "व्यक्तिगत

[१] 'फुल एम्प्लायमेंट इन ए फ्री सोसायटी', पृ० १५

स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए यह बहुत जरूरी है कि स्वतत्र समाज के नागरिक खानगी व्यापारियो के यहा सहकारी सस्थाओ मे और शासन के स्थानीय, राज्य के या सघ के सस्थानो मे जहा चाहे काम करने के लिए आजाद रहे।"[१] ब्रिटेन और अमरीका के अर्थशास्त्रियो ने लोकतत्री ससार मे लोगो को पूरा काम देने के कई उपाय और मार्ग सुझाये है। इनमे से कुछ ये है—

(अ) लोक-निर्माण-कार्य इतने चालू किये जाय कि सब लोगो को जरूरी काम मिल जाय।

(आ) खानगी कारखानेदारो को आर्थिक सहायता देकर अधिक लोगो को काम देने तथा अधिक माल उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

(इ) पेन्शन, परिवार को सहायता, आदि के रूप मे अपनी जरूरते पूरी करने के लिए लोगो की मदद दी जाय।

(ई) निर्यात को बढाया जाय और आयात को घटाया जाय।

(उ) आबादी को कही दूसरे देशो मे जाकर बसने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

(ऊ) आय का पुर्नवितरण हो अर्थात् ऊची आयवालो की आय घटाकर छोटी आयवालो की आय बडाई जाय।[२]

ऊपर जो उपाय सुझाये गए है, इनमे और भी जोडे जा सकते है। विश्लेषण करके उनकी यहा चर्चा करना जरूरी नही है, परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इतने औद्योगीकरण के बावजूद पश्चिम के प्रजातत्री देश काम करने लायक अपने बेकार नागरिको को पूरा काम नही दे पाये है और उनकी 'पूरे काम' की परिभाषा भी बहुत मुश्किल नही है। बीवरिज कहते है, "पूरे काम का मतलब बेकारी का निर्मूलन नही है, अर्थात् यह नही है कि देश के प्रत्येक काम करने लायक और काम की माग करनेवाले हर पुरुष और स्त्री को प्रतिदिन काम करने के समय मे उत्पादक काम मिलना ही चाहिए।" वह मान लेते है कि कभी-कभी, सक्रमणकाल मे, अधूरे तौर पर और विशेष प्रकार के यात्रिक काम करनेवाले लोगो मे थोडी-बहुत

---

[१] 'इकनॉमिक पालिसी एण्ड फुल एम्प्लायमेंट'—अल्विन एच हैनसेन पृ० १७

[२] 'दी इकनामिक्स ऑव फुल एम्प्लायमेंट (ऑक्सफोर्ड स्टडीज), पृ० ३९

बेकारी रहती ही है। इसका नाम बेकारी नही। उदाहरणार्थ सयुक्त राज्य अमरीका मे बेकार मजदूरो की कुल सख्या मे अर्थात् लगभग तीस लाख बेकारो मे इस प्रकार के बेकार कोई चार या पाच प्रतिशत है।

ध्यान देने की वात है कि दो महायुद्धो के बीच के काल मे स्वय ब्रिटेन मे दस से लेकर वाईस प्रतिशत तक बेकारी रही है। सन् १९३१–३३ मे बेकारो की औसत सख्या २१ ३ प्रतिशत थी।१९३५–३८ की अवधि साधारणत अच्छी मानी गई है, परन्तु इसमे भी बेकारों की सख्या १३.१ प्रतिशत रही है। सन् १९३९ मे दूसरा महायुद्ध छिडा, तव भी वह १०.३ प्रतिशत थी। सयुक्त राज्य मे सन् १९३१–३३ मे बेकारो की सख्या औसतन ११,८००,००० अर्थात् कुल मजदूरो की सख्या का २३ ८ प्रतिशत थी। सन् १९३६-३९ की अवधि मे बेकारो की सख्या ८,६००,००० अर्थात् सपूर्ण मजदूर-सख्या का १६ ३ प्रतिशत थी। सन् १९४० मे भी ७,५००,००० अर्थात् १३ ८ प्रतिशत मनुष्य सयुक्त राज्य मे बेकार थे, अर्थात् जिन वर्षो मे अत्यधिक बेकारी थी, उसके मुकाबले मे ९२ लाख अधिक आदमियो को काम मिल गया था। परन्तु इस बीच दूसरी ओर प्रतिवर्ष छ लाख के हिसाब से मजदूरो की सख्या बढ भी गई थी।[1]

हमे यह भी याद रखना चाहिए कि पश्चिम के राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की कीमत पर अपने देश के लोगो को अधिक-से-अधिक (पूरा नही) काम देने का प्रयास कर रहे है, क्योकि पूरा काम देने की नीति का अर्थ होता है अधिक-से-अधिक उत्पादन, अधिक निर्यात, विदेशी बाजारो और कच्चे माल के लिए झगड़े। इनका परिणाम राजनैतिक सघर्ष और सैनिक हस्तक्षेप के सिवा क्या होगा ?

अब पूरे काम के प्रश्न के सम्बन्ध मे हम भारत की स्थिति का अवलोकन करे। सन् १९३१ मे ब्रिटिश भारत और देशी राज्यो की कुल आबादी ३५ २८ करोड थी। इनका धन्धेवार विभाजन इस प्रकार था :

धन्धा	मजदूर (करोडो मे)	सहायक उद्योग	कुल आवादी का प्रतिशत
खेती	१० ३२९	.७४६	६५ ६०
खाने	० ३४	.००५	२४
उद्योग	१ ५३५	२१५	१० ३८
शासन तथा कला कारीगरी	४१५	०६७	२ ८६
घरेलू सेवा	१ ०९०	.१७७	७ ५१
अन्य	९६३	०९	६ २३
कुल	१५ ३९२	१ ४८८	१०० ००

दुर्भाग्य की बात है कि सन् १९४१ की जनसख्या के अको मे धन्धेवार वर्गीकरण है ही नही। परन्तु सन् १९३१ की सख्याओ का आधार मानकर यदि हम उसी हिसाब से वर्गीकरण करे तो मोटे रूप मे ये अक होगे

धन्धा	मजदूर (करोडो मे)	सहायक उद्योग	प्रतिशत
खेती और खाने	११ ४०	९	६६
उद्योग	१ ६०	२	१०
व्यापार-परिवहन	१ १०	२	७
शासन-कला	.४	.१	३
घरेलू नौकरी	१ २	२	८
अन्य	१ १	.१	६
कुल	१६ ८	१ ७	१००

किसी भी देश मे काम करनेवाले और न करनेवाले लोगो का अनुपात साधारणत २ १ होना चाहिए। काम करनेवाले लोगो मे अठारह वर्ष से ऊपर और साठ वर्ष के अन्दर के मनुष्यो का समावेश किया जाता है। बीमार और पगु इसमे अपवाद है।[1] परन्तु भारत मे मनुष्य की औसत उम्र

[1] के टी शाह की 'प्रिसीपिल्स ऑव प्लैनिग', पृ० ७९

पश्चिम के देशो की अपेक्षा बहुत कम है। इसलिए यहा काम करने और न करनेवालो का परिमाण ५० ५० गिनना अधिक उचित होगा। इस हिसाव से सन् १९४१ का ३८ ९० करोड की आबादी मे से हमारे देश मे काम करनेवालो की सख्या मोटे तौर पर १९ ५० करोड मानी जानी चाहिए। परन्तु ऊपर जो सख्याए बताई गई है, उनमे तो काम करने वालो की सख्या १६ ८० है। इसका मतलब यह होता है कि २ ७० करोड़ मनुष्यो के पास काफी काम नही था। सहायक उद्योग करनेवाले १.७० करोड़ मे से यदि हम आधी सख्या को भी इनमे जोड ले, फिर भी दो करोड बेकार मनुष्य बच जाते है। इसके अलावा खेती मे लगे हुए ११ ४० किसान वर्ष मे चार महीने बेकार रहते है सो अलग।

यदि हम अपने देश का आर्थिक सयोजन वैज्ञानिक ढग से करना चाहते है तो जमीन पर रोजी कमानेवालो का भी हमे विचार अवश्य करना होगा। विभाजन के पहले देश की खेती मे काम आनेवाली जमीन का कुल क्षेत्रफल २७.८० करोड़ एकड़ था। परती पडी हुई कृषि-योग्य जमीन ११ ६० करोड़ एकड थी और बजर ६ करोड एकड़। शेष जमीन या तो काश्त के योग्य नही है, या उसपर जगल खडे है। साधारणतया यह हिसाव लगाया गया है कि पाच मनुष्यो का परिवार यदि बीस एकड जमीन पर मेहनत करे तो अच्छी-से-अच्छी फसल हो सकती है। इस हिसाब से २७.८० एकड जमीन केवल सात करोड आदमियो का पेट भर सकती है, अर्थात् केवल ३ ५० करोड मनुष्यो को काम दे सकती है। खेती की इस जमीन मे परती की और बजर जमीन का क्षेत्रफल भी यदि हम जोड देते है तो कुल क्षेत्रफल ४५ ४० करोड एकड होता है, जो ७ ५० करोड मनुष्यो को अर्थात् काम करने योग्य मनुष्यो के केवल अडतीस प्रतिशत को काम दे सकता है। इस हिसाव से जमीन पर काम करनेवाले ११ ४० करोड आदमियो मे से लगभग ३.९० करोड आदमियो को जमीन से हटाकर रोजी का कोई दूसरा जरिया दिया जाना चाहिए। फिर हमे यह भी याद रखना चाहिए कि हमारी आवादी प्रति वर्ष पचास लाख के हिसाव से वढ रही है। इन लोगो के लिए भी हमे काम तलाश करना होगा।

काम करने योग्य लोगो के लिए रोजी की योजना वनाने से पहले

भारत के विभिन्न पेशो मे अनुपात का आदर्श क्या होना चाहिए, इसपर भी विचार कर लेना उचित होगा। इस सम्बन्ध मे पश्चिम के कुछ देशो का अनुपात[१] देख लेना लाभदायक है।

देश	वर्ष	विविध उद्योगो मे (कार्य करनेवालो का) प्रतिशत		
		उद्योग, खाने परिवहन	खेती, वन, मछली-उद्योग	अन्य धधे
ग्रेट ब्रिटेन	१९३१	५३	६	४१
बेल्जियम	१९३०	५३	१७	३०
हॉलैण्ड	१९३०	४८	२०	३२
जर्मनी	१९३३	४७	२९	२४
फ्रान्स	१९३१	३९	३६	२५
डेन्मार्क	१९३०	३३	३५	३२
हगेरी	१९३०	२७	५३	२०
पोलैंड	१९३१	१९	६५	१६
यूगोस्लाविया	१९३१	१३	७९	८
सोवियत रूस	१९३७	४६	१८	३६

इन अको के आधार पर यदि हम विचार करे तो हमारे देश के विभिन्न पेशो मे नीचे लिखा अनुपात गिनना शायद उचित होगा। यदि हम देश की वर्तमान आवादी चालीस करोड मान ले तो काम करने योग्य स्त्री-पुरुषो की सख्या वीस करोड होगी।

---

[१] 'इन्टेलीजेट मेन्स गाइड टू पोन्टवार वर्ल्ड', पृ० ६८०

धन्धा	जिन्हे रोजगार देना है (करोडो मे)	काम करनेवाली आबादी का प्रतिशत
खेती	८.०	४०
उद्योग	६ ०	३०
व्यापार, परिवहन	२ ०	१०
शासन	१ ०	५
घरेलू नौकरी	२.०	१०
अन्य	१ ०	५
कुल	२०.०	१००

खेती मे आठ करोड स्त्री-पुरुषो को काम दिया जा सकता है, बशर्ते कि सरकार बजर और परती की जमीनो को खेती के लायक बना दे और आबपाशी करके सहकारिता की पद्धति से जमीन से अधिक फसले लेने मे लोगो की मदद करे। स्वतत्र भारत मे व्यापार और शासन भी अधिक लोगो को रोजी दे सकेगे। परन्तु उद्योगो मे क्या होगा ?

सन् १९३१ की जनमख्या के अको को देखने से पता चलता है कि उद्योगो मे १.५ मनुष्य काम करते थे । इनमे से बडे सुनगठित उद्योगो मे केवल पन्द्रह लाख लोग लगे हुए थे। यह सख्या सन् १९३९ मे बीस हो गई। इसपर से हम अनुमान कर सकते है कि इन बडे उद्योगो मे इस समय पच्चीस लाख मनुष्य काम कर रहे होगे। बम्बई योजनावालो का अनुमान है कि भारत मे उद्योगो की वृद्धि पाच गुनी हो जायगी। परन्तु यदि छोटे उद्योगो को पूरा मौका दिया जाय तो बडे उद्योग पाच गुने नही बढ पायगे। फिर भी हम मान ले कि अगले दस-पन्द्रह वर्षो मे बडे उद्योगो मे एक करोड आदमियो को काम मिल जायगा। फिर भी उद्योगो मे काम दिये जानेवाले छ करोड आदमियो मे से पाच करोड मनुष्यो को हमे सारे देश मे फैले हुए छोटे और गृहोद्योगो मे काम देना होगा।

नीचे लिखे अको से प्रकट होगा कि बडे केन्द्रित उद्योग कितने कम मनुष्यो को काम दे सकते है.

उद्योगो मे काम करनेवाले की सख्या (करोडो मे)	१९११	१९२१	१९३१	१९५१
	१ ७५	१ ५७	१ ५३	१ ६३
काम करने लायक जनसख्या का प्रतिशत	११	११	१० ५	९ ०

सन् १९११ से लेकर १९३६ तक के काल मे भारत मे वडे-वडे कारखाने तेजी से वढे है। कपडे का उत्पादन चौगुना हो गया। कपडे की मिलो की सख्या १९२० मे २५३ थी, परन्तु १९४५ मे वह वढकर ४१७ हो गई। तीस वर्षो मे वडे कारखानो की सख्या २७०० से बढकर ९३०० तक पहुच गई। फिर भी इनमे काम करनेवाले मजदूरो की सख्या ग्यारह प्रतिशत से घटकर नौ प्रतिशत पर आ गई। सन् १९४५ मे कपडे की सारी मिलो मे मिलाकर मजदूरो की कुल सख्या ५,०९,७७८ थी, जब कि इन्होने ५०० करोड गज कपडा तैयार किया। इसके विपरीत इसी वर्ष मे हाथ-करघो पर १६० करोड गज कपडा वना, जो कि मिल के कपडे का केवल तीस प्रतिशत होता है। परन्तु इस उद्योग ने एक करोड आदमियो को रोजी दी, जिनमे चौवीस लाख जुलाहे थे।[1] अखिल भारत चरखा सघ मे कुल पूजी ७० लाख रुपये लगी है, परन्तु उसने २५४,९६८ कत्तिनो को और १४,४७७ जुलाहो को सन् १९४० मे रोजी दी और मजदूरी के रूप मे २०,९०,३७८ रुपये बाटे। भारत की मिलो मे पचास करोड की परिदत्त (पेड अप) पूजी और सौ करोड की स्थिर (फिक्स्ड) पूजी लगी है, परन्तु वे हमारी काम करने योग्य आवादी मे से केवल पाच लाख मनुष्यो का काम दे सकती है।

ऊपर वताये तथ्यो और आकडो से साफ प्रकट होता है कि आधुनिकतम, नये-से-नये, आविष्कारो का उपयोग करके ढेरो उत्पादन करनेवाले हमारे वडे कारखाने और मिले अधिक पूजी लगाने पर भी कम मनुष्यो को काम दे सकती हैं। दूसरी तरफ सीधे-सादे साधनो से काम लेनेवाले गृहोद्योग और छाटे कारखाने कम पूजी लगाकर भी अधिक मनुष्यो को काम दे सकते

[1] 'दी इण्डियन ईयर बुक' १९४७, पृ० ७४०

है। अतः हमारे देश के लिए योजना बनानेवालो के सामने प्रश्न यह है कि अधिक-से-अधिक लोगो को पूरा काम देकर अधिक-से-अधिक उत्पादन लेने के लिए किन साधनो का उपयोग करे, जिससे माल के बनाने मे समय भी अधिक न लगे और पूजी की भी बचत हो। इस सम्बन्ध मे २३ जुलाई, १९४३ के 'ईस्टर्न इकनॉमिस्ट' के पृष्ठ ३४० पर दिये नीचे लिखे आकडो पर जरा निगाह डाल लीजिये।

उत्पादन का ढंग	प्रति मजदूर पर लगी पूजी	प्रति मजदूर उत्पादन	पूजी की प्रति इकाई पर मजदूरो की औसत
१.आधुनिक मिल, बडा कारखाना	१२००	६५०	१
२.छोटे उद्योगो मे शक्ति-चालित करघा	३००	२००	३
३ गृहोद्योग फटका-करघा	९०	८०	१५
४ गृहोद्योग हाथ-करघा	३५	४५	२५

इसलिए हमारी आबादी को यदि पूरा काम देना है तो हमे बहुत बडे पैमाने पर गृहोद्योगो का ही सगठन करना होगा। इसके सिवा और कोई चारा नही है। भारत मे पूजी की भी कमी है। इसलिए छोटे पैमाने पर उत्पादन करनेवाले उद्योग ही आनेवाले कई वर्षों तक हमारे देश के लिए अधिक लाभदायक सिद्ध होगे। 'ईस्टर्न इकनॉमिस्ट' के उपर्युक्त लेख के लेखक ने जो नतीजे निकाले है, वे बहुत ही ध्यान देने योग्य है

"इससे स्पष्ट है कि भारत जैसे देश मे, जहां उत्पादन के साधनो मे श्रम की अपेक्षा पूजी की बहुत अधिक कमी है, पूजी का बहुत अधिक व्यापक

क्षेत्र मे उपयोग करना है तो हमे उत्पादन के ऐसे तरीको से ही काम लेना होगा, जिसमे पूजी की बचत हो और अधिक-से-अधिक मजदूरो को काम दिया जा सके। दूसरे शब्दो मे कहे तो कम-से-कम पूजी मागनेवाले सीधे-सादे औजारो का प्रयोग हमे करना होगा। रूस मे यन्त्रो के शौकीन वोल्शेविको को शुरू-शुरू मे अन्दाज ही नही था कि उनके पास पूजी कितनी थी। वहुत थोडे समय मे ढेरो से उत्पादन करने की उन्हे वडी जल्दी थी। अत वहुत वडे-वडे और आधुनिकतम कारखाने खडे कर दिये गए। इनमे से कितने ही इतने वड़े थे कि आठ-आठ, दस-दस वर्षो मे भी पूरे नही वन सके। इससे जनता को नाहक वहुत ही तकलीफ हुई। इसके विपरीत यदि वे छोटे-छोटे कारखाने बनाते तो वे एक-एक, डेढ-डेढ वर्ष मे काम शुरू कर देते और लोगो को इतनी तकलीफ नही होती।"

भारत के लिए योजनाए बनानेवाले उपर्युक्त कथन पर विचार करे और समय रहते सचेत हो जाय।

कार्य-क्षमता कहां से लायंगे ?

खुशी की वात है कि वडे पैमाने पर औद्योगीकरण के हिमायती अब मानने लगे है कि गृहोद्योगो को पूरा-पूरा मौका दिये बगैर वेकारी की समस्या पूरी तरह से हल नही होगी, परन्तु इन गृहोद्योगो के अनाडीपन और धीमी गति का वे बडा मजाक उडाते है।

उत्पादन की क्षमता को गाधीजी भी कम महत्व नही देते। घर पर काम देनेवाले औजारो मे यदि कोई सुधार किया जा सकता हो तो उसका वे वडी खुशी से स्वागत करेगे। वस, उससे बेकारी नही वढनी चाहिए। पाठको को याद होगा कि वर्षो पहले गाधीजी ने अधिक उत्पादन देनेवाले चर्खे पर एक लाख रुपये का इनाम घोषित किया था। उनकी शर्त केवल यही थी कि उसकी वनावट ऐसी हो कि जिसे गाव का कारीगर वना सके और गाव का साधारण निवासी भी उसे खरीद सके। परन्तु अब तो हमारा देश आजाद हो गया है। अब राज्य और केन्द्र-सरकारो का कर्तव्य है कि वे देहात के लोगो के लिए अधिक काम देनेवाले औजारो और यन्त्रो की खोज पर अधिक ध्यान दे। अवतक सशोधन-विभाग केवल वडे कारखानेवालो की जरूरतो का ही ख्याल करते थे, परन्तु अब स्वराज्य के आ जाने पर

उन्हे भी अपने दृष्टिकोण को वदल देना चाहिए। जो काम अभी तक अखिल भारत चरखा सघ और अखिल भारत ग्रामोद्योग सघ कर रहे थे उसे अब वे अपने हाथो मे ले ले। अब तो वर्तमान इजीनियरिग कॉलेजो को भी चाहिए कि धनिक वर्गो के मतलब की अपेक्षा जनसाधारण की महत्वपूर्ण आवश्यकताओ को पूरा करने की तरफ अधिक ध्यान दें।

ग्रामोद्योगो मे विजली का उपयोग करने के खिलाफ भी गाधीजी नही है, बशर्तेकि वह सब लोगो को काम दे और उन्हे बहुत दूर से लाई गई विजली का मुहताज न रहना पडे।

"यदि गावो मे घर-घर मे बिजली पहुच सकती है तो मुझे कोई आपत्ति नही होगी, अगर गावो के निवासी अपने औजार उसकी मदद से चलाये। परन्तु ये विजली-घर या तो सरकारी हो या गावो के अपने हो जैसे कि चरागाह उनके अपने होते है।"

इस प्रकार जाहिर है कि ग्रामोद्योगो पर कम काम देने का दोष नही लगाया जाना चाहिए, क्योकि यदि गावो के कारीगरो को पुराने औजारो से काम चलाना पडता है तो इसका कारण था सरकार की और स्वार्थी व्यापारियो की उनके प्रति उपेक्षा। यदि उन्हे आधुनिक विज्ञान की मदद हो जायगी तो गावो के औजार और छोटे यन्त्र भी अधिक-से-अधिक उत्पादन दे सकते है और सुन्दर-से-सुन्दर चीजे उनकी मदद से बनाई जा सकती है।

'कार्यक्षमता' की इस नई देवी के हमे अन्धभक्त नही वन जाना चाहिए। आखिर वह भी तो किसी साध्य का एक साधन-मात्र है। यदि उसके कारण एक निश्चित सीमा से अधिक मजदूर वेकार हो जाते है और समाज मे सघर्ष पैदा होने के कारण कुछ कारीगरो के वर्ग-के-वर्ग वेकार हो जाते है तो इस कार्य-क्षमता को हमे नमस्कार कर देना चाहिए। इससे तो हमारे कम काम देनेवाले पुराने ढग के औजार ही अच्छे। फिर हमे आर्थिक कार्य-क्षमता (इकनॉमिक एफीशियन्सी) और यात्रिक कार्य-क्षमता के अन्तर को भी समझ लेना चाहिए। एक यन्त्र अधिक उत्पादन दे सकता है, परन्तु आर्थिक दृष्टि से वह समाज के लिए लाभदायक नही भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, वडे-वडे यन्त्र वहुत थोडे समय मे ढेरो माल पैदा कर सकते है। उनमे आदमी भी कम लगते है, परन्तु सारे समाज के आर्थिक लाभ की

दृष्टि से उन्हे लाभदायक नही माना जा सकता। नीचे लिखे मुद्दो से मेरा मतलव अधिक साफ हो जायगा

१ वडे पैमाने का उत्पादन पूजीपतियो और मजदूरो के वीच सघर्ष पैदा करता हे, जिसके परिणाम है हडताले और तालेवन्दी। छोटे उद्योगो मे ये समस्याए खडी नही होती, क्योकि उनमे उत्पादन के साधनो-उपकरणो के स्वामी स्वय कारीगर होते है।

२ वडे-वडे यन्त्रोद्योगो के आसपास घनी मजदूर वस्तिया खडी हो जाती है, जिनमे वहुत भीड रहती है। घनी आवादी मे मनुष्य को अनेक रोग हो जाते है, नैतिक पतन भी होता है। "इस कारण इन मिलो मे वनने-वाला कपडा अन्त मे समाज के लिए महगा ही होता है, क्योकि यद्यपि वह खरीदार के कुछ आने वचा देता है, तथापि वम्वई की इन चालो मे रहने-वाले पुरुषो, स्त्रियो और वच्चो के जीवन को सस्ता वना देता है।"[1]

३ वडे-वडे राक्षसी कारखाने स्थायी रूप से पूरा काम नही दे सकते। कारीगरो को वेकार वनाकर वे समाज के लिए अनेक नई समस्याए खडी कर देते है, जो गृहोद्योगो पर आधारित समाज-रचना मे और अर्थ-व्यवस्था मे नही होती।

४ एक ही जगह पर वहुत-से वडे-वडे उद्योगो को एकत्र कर देने से परिवहन-व्यवस्था पर वडा तनाव पडता है, खास तौर पर युद्ध जैसे राष्ट्रीय सकट के समय यह विचार और भी अधिक महत्व धारण कर लेता है।

५ वडे-वडे भारी कारखानो मे वहुत अधिक पूजी की आवश्यकता होती है। और भी कई अतिरिक्त खर्चे वढ जाते है, जिनकी छोटे उद्योगो मे जरूरत नही रहती।

६ केन्द्रित उत्पादनवाले वडे-वडे कारखाने चाहे पूजीपतियो के हो या राज्य के, वे 'दलालो', 'आढतियो' या 'मध्यजनो' की एक कतार-सी खडी कर देते है, जो उपभोक्ताओ के सिर पर अन्त मे एक वोझ ही वन जाते हे।

७ वडे कारखानो के वने माल को वेचने के लिए विदेशी वाजारो की छीना-झपटी अनिवार्य हो जाती है और फिर समय-समय पर युद्ध भी अवश्य ही आते है।

[1] 'यग इडिया', ६-४-१९२२

८ बडे-बडे शहरो का इतने बडे पैमाने पर औद्योगीकरण शहरो और गावो की अर्थ-व्यवस्था का सतुलन बिगाड देता है। इसके विपरीत गावो मे ही गृहोद्योग और छोटे-छोटे कारखानो की स्थापना से गावो का जीवन अधिक व्यवस्थित और समृद्ध बनता है।

९ उत्पादन जब हर क्षेत्र मे छोटे-छोटे कारखानो और गृहोद्योगो के रूप मे बट जाता है तो वितरण और उपभोग भी वही साथ-साथ होता रहता है। इसके विपरीत उत्पादन को एक ही जगह पर केन्द्रित करने से वितरण-सम्बन्धी अनेक उलझने पैदा होती रहती है, जो सतुलित और समानता-प्रधान लोकतन्त्री व्यवस्था की स्थापना मे विघ्न रूप बन जाती है।

ग्रामोद्योगो की अपेक्षा ढेरो माल पैदा करनेवाले बडे-बडे कारखाने क्या सचमुच अधिक कार्यक्षम है, इसके बारे मे अपनी राय जाहिर करने से पहले इन सब बातो पर पूरी तरह विचार कर लेना चाहिए। प्राध्यापक हक्सले लिखते है—"कारीगर अवश्य ही बडे पैमाने पर उत्पादन नही कर सकते, परन्तु उत्पादन के साधन उनके अपने होने के कारण उनपर तेजी-मन्दी का इतना असर नही पडता। फिर उत्पादन के साधनो पर उनका स्वामित्व होने के कारण वे उन सब बड़ी-बडी राजनैतिक, आर्थिक और मानसिक आपत्तियो से बच जाते है, जो केन्द्रित उत्पादन के साथ प्राय. अनिवार्य रूप से जुडी रहती है—उदाहरणार्थ आजादी का छिन जाना, मालिक की गुलामी और रोजी की अस्थिरता।"[१] 'इसके अलावा दूसरे परिणाम अर्थात् सामाजिक न्याय और राष्ट्र की सुरक्षा भी इतने ही महत्व-पूर्ण है।"[२]

इस प्रकार गाधीजी के सिद्धान्तो के अनुसार सयोजन का यह लक्ष्य हो—

सबको रोजी और उसके साथ-साथ सपूर्ण यान्त्रिक सहायता तथा अर्थ का सदुपयोग।

भारत के सुनियोजित आर्थिक विकास के इस आदर्श पर शायद ही

---

[१] 'एण्ड्स ऐण्ड मीन्स'

[२] ई० लिप्सन की 'ए लाएंड इकनोमी ऑर फ्री एण्टरप्राइज़,' पृष्ठ २६०

किसी अर्थ-शास्त्री को आपत्ति हो।

विकेन्द्रीकरण

गाधीवादी योजना और गाधीवादी सविधान मे मैने यह वताने का यत्न किया है कि सतुलित अर्थ-व्यवस्था, राष्ट्रीय सुरक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय शाति, शारीरिक और सामाजिक स्वास्थ्य, न्यायपूर्ण वितरण और सास्कृतिक विकास की दृष्टि से भी अर्थ और सत्ता का विकेन्द्रीकरण क्यो अनिवार्य रूप मे आवश्यक है। इसीके समर्थन मे अव मै कुछ और प्रमाण प्रस्तुत करना चाहता हू।

आधुनिक ससार की विशेष परिस्थिति को देखते हुए विकेन्द्रीकरण एक वैज्ञानिक आवश्यकता वन गया है। हेनरी फोर्ड जैसे महान उद्योगपति भी मानने लग गये है कि "अव हमारा अगला आदर्श होगा सपूर्ण विकेन्द्रीकरण। अव से हमारे यन्त्र छोटे होगे और उन्हे ऐसी जगहो पर रक्खा जायगा कि उनमे काम करनेवाले खेती और यान्त्रिक काम दोनो साथ-साथ कर सकेगे। इससे काम करनेवाले न केवल अधिक आजाद रहेगे, अपितु खेतो का अन्न और कारखानो का उत्पादन दोनो सस्ते हो जायगे।"[1] पश्चिम मे अव औद्योगिक विकास का नया कदम केन्द्रीकरण नही विकेन्द्रीकरण है। हैवेल लिखते है—"पचास वर्ष पहले यान्त्रिक शक्ति का उपयोग केवल वडे कारखानो मे आर्थिक दृष्टि से लाभ-दायक माना जाता था। परन्तु अव उसका उपयोग छोटे-छोटे कारखानो मे, वल्कि कारीगर के घर पर भी उतने ही लाभ के साथ किया जा सकता है और अव कारीगर यन्त्र का गुलाम नही, पर मालिक वन सकता है।" वह आगे लिखते है, "आज यूरोप मे जो सामाजिक सघर्ष छिडा हुआ है, उससे यदि भारत की आनेवाली पीढियो को वचाना है तो उसके औद्योगिक नेताओ को यूरोप के वर्तमान की तरफ नही, उसकी भावी प्रगति की ओर ध्यान देना चाहिए। भारत को उसका अनुसरण नही, मार्ग-दर्शन करना चाहिए।"[2] इडियन कौन्सिल ऑव वर्ल्ड अफेयर्स के समक्ष भाषण करते हुए आस्ट्रेलिया के विख्यात अर्थशास्त्री कोलिन क्लार्क ने नई दिल्ली मे कहा था—

---

[1] 'मूविग फारवर्ड', पृ० १५७

[2] 'दि वेसिस फॉर आर्टिस्टिक एण्ड इडस्ट्रियल रिवाइवल इन इण्डिया,' पृ० १७२

"यदि मै भारत का मन्त्री होता तो मै कहता—गृहोद्योगो की दिशा मे जितना भी विकास कर सके, कीजिये। कारखानो को तो एक अनिवार्य बुराई समझकर चलाये।"

शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से भी विकेन्द्रीकरण और सत्ता का बाट देना उचित है। प्राध्यापक फर्डिनैण्ड ज्विग कहते है—"अब तो हर आदमी मानने लग गया है कि जहातक सभव हो, सयोजन विकेन्द्रीकरण और कामो के बटवारे की दिशा मे ही होना चाहिए। सचार-व्यवस्था, गैस, बिजली, पानी, खाद्यान्न और स्थानीय जरूरत की चीजे बनानेवाले उद्योग, व्यापार, खेती के सारे काम स्थानीय लोगो और अधिकारियो को वही कर देने चाहिए।"[1] "तफसीली मामलो मे भी केन्द्र ही निर्णय करे, इसका तो अर्थ है कागजो से दफ्तरो को भर देना और निराशाजन्य रोष से नागरिको का दम घोट देना। शासन को चाहिए कि वह अर्थ के क्षेत्र को प्रभावित करके जनता की सेवा करे। बारिश की बूदो का राशनिंग करने का यत्न न करे।"[2]

गाधीजी हमेशा कहते आए है कि जबतक आर्थिक नि शस्त्रीकरण अर्थात् उद्योगो का विकेन्द्रीकरण नही होगा तबतक ससार मे स्थायी शान्ति नही हो सकती। भाग्य का यह एक अजीब खेल है कि सयुक्त राष्ट्र ने हारे हुए जर्मनी मे प्रजातत्र की पद्धति पर स्थानीय स्वायत्त शासन की स्थापना का आदेश दिया है और "खेती तथा शातिपूर्ण गृहोद्योगो पर बहुत जोर दिया है।"[3] सुमनर वेल्स ने भी यह आशा प्रकट की है कि "यदि यह अन्तिम रूप मे तय होगया है कि जर्मनी का विकेन्द्रीकरण कर दिया जायगा तो फ्रास और पश्चिमी यूरोप के छोटे राष्ट्र निश्चित रूप से निर्भय हो जायगे और शान्ति से रह सकेगे।"[4] मुझे तो कोई सन्देह नही कि राजनैतिक और आर्थिक सत्ता का इस प्रकार विकेन्द्रीकरण हुआ तो ससार मे शान्ति और समृद्धि का एक नया युग शुरू हो जायगा, परन्तु दु ख तो इस बात का है कि संयुक्त राष्ट्र सघ जिस बात का उपदेश जर्मनी को कर रहा है, उसपर खुद

---

१ 'दि प्लैनिंग ऑव फ्री सोसायटीज,' पृ० २५२

२ 'दी इकनॉमिस्ट', २९ नवम्बर १९४७

३ 'पोट्सडम का घोषणा-पत्र'।

४ 'व्हेयर आर वी हडिंग', पृ० १०५

अमल नही करना चाहता।

विकेन्द्रीकरण बनाम समाजीकरण

परन्तु समाजवादी मित्र पूछते है—"यह तो बताइये कि केन्द्रित उत्पादन वाले औद्योगीकरण से आखिर आप इतने डरते क्यो है ? उद्योगो को समाज की सपति वना दीजिये कि ससार की सारी झझटे ही दूर हो जायगी।" परन्तु सवसे वडा सवाल यही तो है कि क्या सचमुच इससे सारे झगडे मिट जायगे ? मुझे भय है कि सोवियत रूस का अनुभव कोई वहुत आशा दिखाने वाला नही है। यद्यपि पश्चिम के वहुत-से लेखक और अर्थ-शास्त्री सोवियत रूस की हर वात की निन्दा ही करते है, क्योकि पूजीवादी राष्ट्रो से स्पष्ट ही उन्होने साठ-गाठ करली है। परन्तु यह ठीक नही। तो भी उत्पादन के उपकरणो के राष्ट्रीयकरण के वाद वहा प्रवन्धकशाही ने जिस प्रकार दृढता के साथ अपनी सत्ता कायम करली है, उसको अच्छा वताकर वचाव कदापि नही किया जा सकता। प्राध्यापक हाइक ने लिखा हे, "राजनैतिक सत्ता के साधन के रूप मे जव आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण हो जाता है तव वहा ऐसी परवशता पैदा हो जाता है, जो गुलामी से शायद ही अच्छी कही जा सके।"[1] प्राध्यापक हाइक के इस कथन मे जरूर अत्युक्ति है, परन्तु मॉरिस हिन्दस तो सोवियत रूस के प्रशसक रहे है। वह भी कहते है कि "सोवियत रूस के प्रवन्धको ने वहा के शासन को इस कदर अपनी निजी जिम्मेदारी का विषय वना लिया है, जो पूजीवादी देश के किसी कारखाने के मालिक के सचालन के ढग से वहुत भिन्न नही कहा जा सकता।"[2] रूस मे राज्य के कारखानो मे जिस फौजी अनुशासन से काम लिया जाता है, हिन्दस ने उसका सजीव वर्णन किया है। वह लिखते है—

"खास तौर पर इजाजत लिये वगैर वहा किसी मजदूर को अपना काम छोडकर जाने का अधिकार नही है। कारखाने के प्रवन्धक से यह इजाजत वहुत कम—अर्थात् कारखाने, राज्य या राष्ट्र और आजकल युद्ध के समय मे—फौज का हित देखकर ही मिल सकती है। स्वय मजदूर की इच्छा या लाभ का कभी विचार नही किया जाता। कानून मजदूर को केवल अपना

[1] 'दि रोड टु सर्फडम' (एब्रिज्ड एडीशन), पृष्ठ ७१

[2] 'मदर रशिया', १६३

काम छोडने से ही मना नही करता, बल्कि दूसरी किसी जगह काम की तलाश करने से भी मना करता है। काम खोजते समय हर जगह मजदूर को अपनी सेवा-पुस्तिका पेश करनी पडती है। यदि उसमे लिखा है कि वह कही भी काम खोज सकता है तव तो उसे काम मिलने की सभावना रहती है, अन्यथा उसे कही कोई नही पूछता। हा, यदि किसी कारखाने को मजदूर की इतनी जरूरत हो कि वह कानून को भी ताक मे रखने पर मजबूर हो जाय तो वात दूसरी है।"[1]

राष्ट्रीयकरण के राजनैतिक परिणाम और भी बुरे होते है। अब वहा किसानो और मजदूरो का तथाकथित राज्य नही रहा। उसके स्थान पर वहा शान-शौकतवाले प्रबन्धको के हाथो मे पूरी तरह सत्ता चली गई है। पूजीवादी समाज मे तो पूजीपति समाज पर अप्रत्यक्ष रूप से राज करते थे, परन्तु 'प्रवन्धक-प्रधान' समाज मे तो वे ही सर्वसत्ताधीश हैं। सीधे-सादे शब्दो मे यह तो नौकरशाही हुई। प्रवन्धक और शासक एकरूप हो गये है।[2]

फिर केन्द्रित उत्पादनवाले बडे-बड़े कारखानो की पद्धति मे अनेक स्वाभाविक भीतरी बुराइया भी होती है। उदाहरणार्थ, प्रवन्ध-सम्बन्धी सत्ता का केन्द्रीकरण, वेकारी का वढना, घनी आबादी और अपनी सूझबूझ और प्रेरणा तथा सृजन-शक्ति से काम लेने का अवसर मनुष्य को न मिलना। ये बुराइया समाज को हानि पहुचाती है और अर्थ-रचना को भी दूषित करती है। समझ मे नही आता कि कारखानो के केवल राष्ट्रीयकरण से ये बुराइया कैसे दूर हो जायगी। स्वय कार्ल मार्क्स ने अपने साम्यवादी घोषणा-पत्र मे स्वीकार किया है कि हाथ से काम करने मे हर काम पर कारीगर के व्यक्तित्व की जो छाप पडती थी वह श्रम-विभाजन और हर क्षेत्र मे यन्त्रो के उपयोग से नही रहेगी। इसलिए कारीगरो को अपने काम मे आनन्द नही आयगा। वे तो यन्त्र का मात्र पुछेला वन जायगे। "इसके विपरीत जव किसान और कारीगर स्वतत्र रूप से काम करता है तव उससे उसके

---

[1] 'मदर रशा', पृष्ठ १६३

[2] मैनेजीरियल रिवोल्यूशन (पैलीकन), पृष्ठ १३५

ज्ञान, सूझ-बूझ और सकल्प-शक्ति का विकास होता रहता है।"[१]

जहातक उत्पादन के साधनो के राष्ट्रीयकरण का सवाल है, गाधीजी की इससे कोई लडाई नही है। रूस के समाजवाद और गाधीजी के समाजवाद के बीच असली अतर यह है कि समाजवादी और साम्यवादी दोनो कारखानो पर केन्द्रित शासन की सत्ता चाहते है, जवकि गाधीजी यह चाहते है कि कारखानो पर मजदूरो और कारीगरो की सम्मिलित और सहकारी सत्ता हो। वहा पूरी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्वतत्रता होगी और काम करनेवालो के व्यक्तित्व का अधिक अच्छी तरह विकास हो सकेगा। मार्क्स ऐसे युग मे हुए जब भूख, अभाव और दारिद्रय के भूत समाज को सता रहे थे, परन्तु यदि वे आज के इस केन्द्रीकरण, वेकारी और अधिनायकतत्र के युग मे फिर जन्म ग्रहण कर सके तो गाधीजी की भाति वह भी ससार के मजदूरो को सलाह देने लग जाय कि वे केन्द्रीकरण और उत्पादन के साधनो पर मजदूर का स्वामित्व की स्थापना की माग करे। 'ग्रामदेवो भव' का अर्थ सिवा इसके और कुछ नही कि अहिसा और विकेन्द्रीकरण के आधार पर समाजवाद की स्थापना की जाय।

सोवियत सविधान की धारा नौ मे लिखा है—"समाजवादी अर्थ-रचना मे कानून किसानो को और कारीगरो को इजाजत देता है कि वे व्यक्तिगत तौर पर भी छोटे-छोटे सघ बनाकर काम कर सकते है। केवल वे दूसरो के परिश्रम का अनुचित लाभ न उठावे।" रूस के छोटे-छोटे किसानो और कारीगरो ने चीन की 'इन्डसको' की भाति अपनी सहकारी समितिया भी वनाई है, जिन्हे 'इन्कॉप्स' कहा जाता है। हमारे साम्यवादी भाई रूसी अर्थ-रचना के इस पहलू पर जोर दे तो कितना अच्छा हो।

वडे-वडे महत्वपूर्ण और आधारभूत उद्योगो के राष्ट्रीयकरण से गाधीजी का भी विरोध नही है। अपनी 'रचनात्मक कार्यक्रम, उसका अर्थ और स्थान' नामक पुस्तिका मे उन्होने साफ लिखा है—

"खादी की वृत्ति का अर्थ है जीवन की आवश्यकताओ के उत्पादन और वितरण का विकेन्द्रीकरण। भारी उद्योगो मे तो अवश्य ही केन्द्री-

---

[१] 'दास कैपीटल'

करण रहेगा। वे राष्ट्र की संपत्ति भी होगे, परन्तु गावो मे व्यापक रूप से चलनेवाली राष्ट्रीय प्रवृत्ति मे उनका स्थान बहुत थोडा होगा।"

मेरी विनम्र सम्मति मे आज ससार को जो बुराइया सता रही है, उनका एकमात्र व्यावहारिक और बुद्धि-सगत हल गाधीजी के उपर्युक्त विचारो मे आ गया है। खून के प्यासे पूजीवाद और आजादी के प्यासे समाजवाद के बीच यही एक मध्यम मार्ग है।

खण्ड ३

राजनैतिक पहलू

सयुक्त राष्ट्रो की महायुद्ध मे पूरी तरह जीत हो गई। जर्मनी और जापान ने विना शर्त आत्म-समर्पण कर दिया। परन्तु अभी यह देखना और सिद्ध होना है कि वे पूरी शान्ति भी ला सके है या नही, क्योकि हम देखते है कि अभी युद्ध समाप्त भी नही हुआ था कि अतलातिक चार्टर को निर्लज्जता के साथ दफना दिया गया। नये नाम से फिर लीग ऑफ नेशन्स (सयुक्त राष्ट्र-सघ) की स्थापना हो गई और पॉट्सडम-घोषणा तो ऐसी चीज है, जिसके सामने वर्साय की सन्धि तो कुछ भी नही। ये आशाजनक लक्षण नही है। जैसा कि वेन्डेल विल्की का कहना, "शान्ति मे अब कोई महत्वपूर्ण बात करने को वाकी नही रह गई है। युद्ध मे सभी कुछ तो कर लिया गया।"[1] सयुक्त राष्ट्रो की सचाई की कसौटी तो भारत मे होनी है। पर्ल बक ने कहा है, "ब्रिटेन ऐसा लोकतत्र है, जो साम्राज्य के लिए लड रहा है।"[2] मानव-जाति के इतिहास मे इससे अधिक आश्चर्यजनक शायद ही दूसरी कोई चीज होगी, क्योकि साम्राज्य और लोकतत्र परस्पर-विरोधी चीजे है। जो हो, मुझे निश्चय है कि ब्रिटेन चाहे कितना भी प्रयत्न करे, भारत जरूर और वहुत जल्दी स्वतन्त्र हो जायगा। "विख्यात इतिहासकार एच० जी० वेल्स ने अपनी 'शेप ऑव थिंग्स टु कम' पुस्तक मे लिखा है कि एक वार ब्रिटेन जोरो से हाथ-पैर पटक लेगा और फिर भारत उसके हाथ से निकल जायगा। मुझे तो पूरा विश्वास है कि पिछले तीन वर्षो से ब्रिटेन की यही

---

[1] 'वन वर्ल्ड', पृ० ११८

[2] 'एशिया एण्ड डेमोक्रैसी'

छटपटाहट चल रही है और वह अब समाप्त होने को ही है। निराशा की यह उदासी और अधकार अब बहुत जल्दी समाप्त होगे और हमारे देखते-देखते इस देश मे स्वातन्त्र्य का शानदार प्रकाश फैल जायगा। भारत एशिया का एक महान और प्राचीन देश है। जबतक वह स्वतन्त्र नही होगा, ससार मे शान्ति-स्थापना की बात भी करना बेकार है। गुलाम भारत अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव और शान्ति के लिए सदा खतरा बना रहेगा। इसलिए उसको स्वतन्त्रता देना स्वीकार न करना स्वय ससार के हित मे नही है।"[1]

तो सवाल है, "भारत का सविधान कैसा होगा ?" क्या हम स्विट्जरलैंड, सयुक्त राज्य अमरीका और रूस जैसे पश्चिम के देशो के सविधान की नकल करेगे ? या हम अपनी सस्कृति, परपरा और प्रकृति के अनुरूप अपना स्वतन्त्र निजी संविधान बनाये ? मै समझता हू कि यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसलिए हमे इसका निर्णय अभी कर लेना चाहिए, ताकि हमारे सामने उसका चित्र स्पष्ट हो जाय।

भारत बहुत प्राचीन देश है। उसकी शासन-पद्धतियो के विकास के अध्ययन से मालूम हो जायगा कि ईसा के वर्षो पहले लगभग सभी प्रकार की शासन-पद्धतियो का प्रयोग वह कर चुका था। यूरोप और अमरीका ने सभ्यता का पाठ पढना शुरू किया था, उससे कही पहले राजतत्र, एकतत्र, प्रजातत्र, गणतत्र और शासन विहीन समाज-रचना सबके प्रयोग उसने कर लिये थे। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने अपनी पुस्तक 'हिंदू पॉलिटी' मे लिखा है कि प्राचीन भारत मे भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, राष्ट्रिक, द्वराज्य और अराजक सभी प्रकार की शासन-पद्धतिया रही है। इनमे से कुछ तो ऐसी है, जिनका दूसरे देशो मे अभी तक प्रयोग भी नही हो पाया है। इसलिए भारत को हम शासन-पद्धतियो के विकास की प्रयोगशाला कह सकते है। पश्चिम के सविधान तो खुद ही अभी प्रयोगावस्था मे है, उनको मिलाकर भारत के लिए सविधान तैयार करना न केवल उसका बहुत वडा अपमान होगा, बल्कि समाज-शास्त्र-सम्बन्धी अपना घोर अज्ञान प्रकट करना होगा, क्योंकि सविधान भी तो प्रत्येक समाज मे भीतर से विकसित होनेवाली चीज है। किसी देश पर दूसरे देश का बे-मेल सविधान लागू करना एक अत्यत अवैज्ञा-

[1] 'ए वीक विद गाधीजी'—फिशर, पृ० ५६

निक बात है। प्रशासन-पद्धतियो को एक जगह से दूसरी जगह नही रोपना चाहिए। सर जान मैरिअ्रट का कहना है, "सविधान कोई ऐसी चीज नही, जिसका निर्यात किया जा सके।"[1] हर राष्ट्र की अपनी अनोखी सस्कृति और सभ्यता होती है। यही उसकी आत्मा है। उसके इस अनोखेपन की रक्षा करके उसके सभी अगो का पूरा और स्वतत्र रूप से सुन्दर विकास होने देना चाहिए। इस स्वतत्र और स्वाभाविक विकास का नाम ही जीवन है। सदा एक-सा बने रहना या नकल करना तो मृत्यु है।

कही मुझे गलत न समझ लिया जाय। मेरा मतलब यह नही है कि दूसरे राष्ट्रो के अनुभव से हम कोई लाभ न उठाये और सकीर्ण राष्ट्रीयता का ही विकास करते रहे। नही, यह कदापि मेरा मतलब नही है। मै तो चाहता हू कि हम अपनेको हीन समझना और हर बात के लिए पश्चिमी राष्ट्रो की ओर देखना छोड दे। हमेशा पश्चिम की ओर ताकने से पहले स्वय विचारने की आदत डाले। पश्चिम की नकल तो बहुत हो गई। अब तो हम भारतीय सस्कृति और उसकी व्यवस्थाओ पर गर्व करे।

मै एक कदम और आगे जाऊगा। ग्राम-पचायतो के रूप मे हमने जिस विकेन्द्रित प्रजातत्र का विकास किया था और सदियो तक जिसे बनाये रक्खा वह कोई असभ्य अवस्था के साम्यवाद का अवशेष नही था। वह परिपक्व विचार और गम्भीर प्रयोग का परिणाम था। ग्राम-पचायतो के रूप मे जिस स्वायत्त शासन का विकास हमने अपने गावो मे किया था, उसने सैकडो वर्षो तक जाने कितनी राजनैतिक उथल-पुथलो का सामना किया और आज भी हम उस प्रजातात्रिक आदर्श शासन-पद्धति को पुन स्थापित कर सकते है। मेरा मतलब यह नही कि आज हम उसे उसी पुराने रूप मे शुरू करे। हमारे आज के नागरिक जीवन को देखते हुए अवश्य ही उसमे अनेक फेर-बदल हमे करने होगे।

भारत मे बीसवी सदी मे सविधान-निर्माण के जो प्रयोग हुए उनके इतिहास का हम जरा अवलोकन कर ले। अगरेजो ने भारत मे सन् १६०६, १६१६ और १६३५ मे जो शासन-सुधार लागू किये, उनका मै उल्लेख नही करूगा। अनेक ब्रिटिश सविधान-शास्त्रियो ने कहा है कि व्यापारी माल की

[1] 'डिक्टेटरशिप ऐंड डेमोक्रेसी', पृ० ६

भाति सविधान दूसरे देशों को नही भेजे जाते। फिर भी वे भारत पर जवर-दस्ती लादे गये। इस देश मे हो रही नई जागृति का उनमे विचार तक नही किया गया। महात्मा गाधी पहले नेता थे, जिन्होने भारतीय सभ्यता और सस्कृति की ओर पहले-पहल देश का ध्यान खीचा। सन् १९०८ मे उन्होने 'हिन्द स्वराज' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी थी। उसमे वे सारी बुनियादी कल्पनाए दे दी गई, जिनके आधार पर भारत का सविधान वनाया जाना चाहिए था। इसके वाद आती है सन् १९१६ की काग्रेस-मुस्लिम लीगवाली योजना। उसमे किन्ही विशेप सिद्धान्तो का उल्लेख नही है। व्रिटिश पार्लमिटरी पद्धति को ही उसमे आदर्श मान लिया गया है। परन्तु वह सविधान वनाने की दिशा मे एक ऐसा सम्मिलित प्रयत्न था, जो हिन्दुओ और मुसलमानो को समान रूप से स्वीकार था। सन् १९२२ के गया अधिवेशन के बाद स्व० देशवन्धु चित्तरजनदास और स्व० डॉ० भगवानदास ने मिलकर स्वराज्य की एक रूपरेखा वनाई थी, परन्तु इस दिशा मे सच्चा और महत्वपूर्ण प्रयत्न तो डॉ० ऐनी वेसेन्ट का ही माना जायगा, जो देश के अनेक प्रमुख नेताओ की सलाह लेकर सन् १९२४-२५ मे उन्होने 'कॉमन वेल्थ ऑव इण्डिया विल' के रूप मे पेश किया। यद्यपि श्रीमती वेसेट चाहती थी कि भारत एक स्वशासित उपनिवेश के तौर पर व्रिटिश-साम्राज्य मे ही रहे तथापि उन्होने हमारे भावी सविधान का मूल आधार ग्राम-पचायतो को ही वनाया था। इसके वाद सर्वदल-परिपद् की रिपोर्ट सन् १९२८ मे प्रकाशित हुई, जो नेहरू-रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है। सन् १९३९ मे औंध नरेश ने गाधीजी के मार्ग-दर्शन मे अपने राज्य के लिए एक नया सविधान तैयार करवाया। सविधान की विकास-शृंखला मे यह एक महत्वपूर्ण कडी थी। इसमे पूरी तरह प्रजातन्त्र की पद्धति पर इस छोटे-से राज्य मे पचायती राज्य कायम करने की योजना थी। और सवसे ताजा और अन्तिम प्रयास था कन्सीलियेशन कमेटी की प्रसिद्ध रिपोर्ट, जिसके अध्यक्ष सर तेज वहादुर सप्रू थे।

भारत का सविधान भारत की परम्पराओ को ध्यान मे रखकर ही वनाया जाना उचित होगा और राष्ट्र के नवनिर्माण के इस पहलू पर सबसे अधिक जोर देनेवाले अकेले गाधीजी ही थे। इसलिए स्वतन्त्र भारत

के लिए सविधान बनाने के बारे मे मैंने उनसे चर्चा की। उन्होने भी कहा कि ऐसे सविधान की बडी जरूरत है और बडी प्रसन्नतापूर्वक मेरा आवश्यक मार्ग-दर्शन करना भी मजूर किया। मैंने भी इस सविधान का नाम 'गाधीवादी सविधान' रखने का निश्चय किया, क्योकि आज भारतीय परम्परा और सस्कृति का उनसे वढकर और कौन प्रतिनिधि होगा ? इसके अलावा मैंने इस सविधान की सारी वातो की चर्चा सविस्तर उनसे की और उनके विचारो को सही रूप मे रखने का अपनी शक्ति भर पूरा प्रयत्न किया। फिर भी इसके प्रत्येक विचार और शब्द के लिए मैं गाधीजी को जिम्मेदार नही ठहरा सकता। अन्तिम जिम्मेदारी तो पूरी तरह से मेरी ही मानी जानी चाहिए।

सारा सविधान इस रूप मे तो नही दिया गया है कि उसे देश मे तुरन्त जारी किया जा सके। इसमे तो केवल उन बुनियादी उद्देश्यो और आदर्शों को रख दिया गया है, जिन्हे स्वतन्त्र भारत के सविधान मे स्थान दिया जाना चाहिए। मैं फिर जोर देकर कहना चाहता हू कि विकेन्द्रीकरण की कल्पना सपने के सतयुग की वात न मानी जाय। वह पूरी तरह से व्यावहारिक है और अमल मे लाई जा सकती है। आम चुनावो के वाद सविधान-सभा के सामने सबसे पहला सवाल होगा देश के लिए उपयुक्त सविधान का निर्माण। ऐसे समय मे यदि मेरा यह प्रयास देश की जनता और नेताओ का ध्यान इस वात की तरफ आकर्षित कर सका कि भारत का सविधान उसकी सस्कृति और परम्पराओ के आधार पर ही बनाया जाना चाहिए तो मैं उसे सफल मानूगा।

बुनियादी सिद्धान्त

मेरा यह जरा भी इरादा नही है कि एक आदर्श राजनैतिक सगठन के मौलिक सिद्धान्तो पर मैं कोई ग्रन्थ लिखू। फिर भी उन थोडे-से सिद्धान्तो की चर्चा यहा मुझे करनी ही होगी, जिनके आधार पर एक स्थायी राजनैतिक भवन खडा किया जाना चाहिए। इन बुनियादी सिद्धान्तो को जबतक हम ठीक से नही समझ लेगे किसी भी प्रकार के सविधान का वनाना वेकार और निरर्थक होगा।

सबसे पहली बात जो स्पष्टतया समझ लेनी है वह यह है कि कोई भी सर्वोत्तम सविधान सार्वकालिक और सार्वदेशिक नही हो सकता है। शासन-पद्धतियो की रचना पूर्व-परम्पराओ और वर्तमान स्थिति को ध्यान मे रखकर ही करनी उचित होती है। "किसी देश के लिए वही सविधान सर्वोत्तम होगा, जो किसी खास समय उस देश मे उस उद्देश्य की पूर्ति अच्छी तरह कर सकता है, जिसके लिए सारी सरकारे बनाई जाती है।"[1] इस बात पर सबसे पहले जोर देनेवाला शायद अरस्तू था। आखिर राज्य का कर्तव्य यही तो है कि "मनुष्य प्राप्त परिस्थिति मे ऊचे-से-ऊचा और अच्छे-से-अच्छा जीवन बिता सके और इस प्रकार उत्तम जीवन वे ही बिता सकते है, जिन्हे उस परिस्थिति मे अच्छे-से-अच्छा शासन मिलता है।"[2]

इसलिए हमे किसी शासन की भलाई या बुराई का निर्णय उसकी पद्धति-विशेष की ओर देखकर नही, बल्कि "उसके नागरिको के जीवन की दशा को देखकर करना चाहिए।"[3] इसलिए अनेक प्रकार के राज्यो का साध्य मूलत एक-सा होने पर भी स्थानीय परिस्थिति के अनुसार उनके रूपो मे सदा निश्चय ही बडा अन्तर होगा।

राज्य का उद्देश्य

परन्तु राज्य का उद्देश्य—साध्य—क्या है? सचमुच यह एक बुनियादी सवाल है, जिसपर प्राचीन काल से आजतक बडे-बडे राजनीति-विचारको ने अपनी-अपनी राय प्रकट की है। यूनान के विचारक तो मानते रहे कि "राज्य जीवन की एक महान् वास्तविकता है, जिसके अन्दर व्यक्तियो के सारे कार्य और प्रयास इस प्रकार समा जाते है जैसे समुद्र मे नदिया।"[4] अमरीका के निवासियो की दृष्टि मे नागरिकता सबसे बडे सम्मान की वस्तु थी। उनके लिए तो "नीतिशास्त्र, समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र,

---

[1] 'डिक्टेटरशिप ऐंड डेमोक्रैसी', पृ० २१७

[2] 'पॉलिटिक्स'—अरिस्टोटल्स

[3] 'फिलॉसफी ऑव आवर टाइम्स'—प्रो० जोड, पृ० ३३१

[4] 'प्रिंसिपिल्स ऑव पॉलिटिकल साइन्स'—मिल क्राइस्ट पृ० ४६०

सबकुछ शहर ही था।"[1]

नगर का अर्थ था सह-जीवन और उस समय के यूनानी राजनैतिक चितन का मुख्य विषय इस सहजीवन की सफलता और शान्ति थी। अफलातून के लिए तो राज्य ही ससार था। इसके अन्दर मनुष्य को अपना स्थान ढूढकर उसके योग्य कर्तव्य करते रहना चाहिए। अरस्तू मानता था कि राज्य नीति की रक्षा के लिए है। इसमे सभी नागरिक समान होते है और अपने जीवन को शुद्ध और अच्छे-से-अच्छा बनाना चाहते है। रोम के नागरिको ने राज्य का उद्देश्य और आदर्श क्या हो इसकी तरफ बहुत ध्यान नही दिया। उनका तो सारा ध्यान अपने साम्राज्य के विस्तार मे लगा हुआ था। मध्ययुग के दिनो मे यूरोप के धर्मपुरुष मानते थे कि ईसाईधर्म की रक्षा के लिए राज्य ईश्वर के हाथ मे एक साधन है। हॉब्स मानता था कि राज्य का कर्तव्य है शान्ति-व्यवस्था तथा स्वामित्व के अधिकार की रक्षा करना। लॉक कहता था कि सरकार प्रजाजनो की जान-माल और आजादी की रक्षा के लिए है। रूसो मानता था कि जनता की इच्छा का अनुसरण करना राज्य का कर्तव्य है। हेगेल फिर इस यूनानी सिद्धान्त पर आ गया कि राज्य सबसे बडी वास्तविकता है। वह कहता है कि ससार मे राज्य का अस्तित्व ईश्वर की इच्छा का पालन करवाने के लिए है। पृथ्वी पर वही सबसे बडी सत्ता है। साध्य साधन सबकुछ वही है। बेथम की राय थी कि अधिक-से-अधिक लोगो का अधिक-से-अधिक भला करना राज्य का काम है। हर्बर्ट स्पेन्सर मानता था कि पारस्परिक हित-साधन के लिए राज्य एक ज्वॉइन्ट स्टॉक कम्पनी है। जॉन स्टुअर्ट मिल का मानना था कि राज्य का सर्व प्रथम और सबसे पवित्र कर्तव्य है व्यक्ति की स्वाधीनता की रक्षा करना। मार्क्स ने राज्य को एक ऐसी अनावश्यक चीज माना, जो वर्ग-विहीन समाज की स्थापना के बाद अपसे-आप चली जायगी। हमारे अपने युग के विचारक प्राध्यापक लास्की का कथन है कि समाज के जीवन को सब प्रकार से समृद्ध बनाने के लिए स्थापित यह एक सहकारी सगठन है।[2] बर्नार्ड शॉ कहते है है कि थोडे-से आदमियो का नही, सारी जनता का शक्ति-भर भला करना

[1] हिस्टरा आव पॉलिटिकल थियोरी'—प्रो०सैबाइन, पृ० १३

[2] 'ग्रामर ऑव पॉलिटिक्स', पृ० ३७

राज्य का कर्तव्य है। वेल्स चाहते है कि सारे विश्व की सरकार एक हो। फिर मनुष्य के अधिकारो की एक पूरी परिभाषा बनाकर उसके आधार पर सबके लिए एक कानून बनाया जाय और उसकी मदद से सबकी आजादी, स्वास्थ्य और सुख की रक्षा वह करे।[1]

भारतीय राजनीति मुख्यत रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, कौटिल्य के अर्थशास्त्र और शुक्राचार्य के नीतिसार मे आ जाती है। रामायण मे उस राम-राज्य का वर्णन है, जिसमे लोग सुखी, शात और समृद्ध थे। महाभारत के शान्तिपर्व मे भीष्म ने राजा के कर्तव्य गिनाये है और राज्य का मुख्य उद्देश्य यह बताया है कि वह प्रजाजनो की रक्षा करे ताकि वे सुखी, सदाचारी और शान्ति का जीवन बिता सके और अपने-अपने कर्तव्यो का—धर्मो का—पालन कर सके। कौटिल्य ने भी राजा के इसी बुनियादी कर्तव्य पर जोर देते हुए कहा है कि प्रजाजनो को सुखी रखना तथा उनका हित-साधन करते रहना राजा अथवा राज्य का कर्तव्य है। राजा उनके सुख मे अपना सुख और उनके कल्याण मे अपना कल्याण समझे।[2] शुक्र-नीति मे राजा को प्रजाजनो का रक्षक और हितकर्ता बताया है। उसका यह भी कर्तव्य है कि वह प्रजाजनो को अनुशासन मे रक्खे, ताकि वे अपने-अपने कर्तव्यो का पालन बराबर करते रहे और दूसरो के कर्तव्यो-धर्मो मे बाधक नही बने।

अधिनायकवादी राज्य बनाम अधिनायक

राज्य के उद्देश्य और कर्तव्यो के बारे मे भारत तथा यूरोप के राजनैतिक चिन्तन का यदि हम अध्ययन और विश्लेषण करे तो ज्ञात होता है कि इनमे दो अलग-अलग प्रवाह है। एक प्रकार के विचारक राज्य को अधिक महत्व देते है और व्यक्ति को उसके अधीन मानते है। व्यक्ति को दवाकर वे राज्य को सर्वेसर्वा मानकर उसे देवत्व प्रदान कर देते है। वे मानते है कि राज्य का काम है व्यक्तियो को अनुशासन मे रखना। व्यक्ति तो उस महान शक्तिशाली राजनैतिक यन्त्र का एक पुर्जा मात्र है। यह विचार समाज को

[1] 'दि न्यू वर्ल्ड आर्डर,' पृ० १२२
[2] कौटिल्य का अर्थशास्त्र, पृ० ३८

अधिनायक तत्र और सत्ता के सम्पूर्ण केन्द्रीकरण की ओर ले जाता है। दूसरे प्रकार के विचारक मनुष्य---व्यक्ति--को सारी चीजो का आधार मानते है। उनकी दृष्टि मे मनुष्य की स्वतन्त्रता और विकास सबसे अधिक महत्वपूर्ण वस्तु है। उनके अनुसार राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के इन अधिकारो की रक्षा के लिए है। वे मनुष्य को साधन नही, साध्य मानते है। काउण्ट काउदेन्होव कालेरजी ने अपनी पुस्तक 'टोटैलीटैरियन स्टेट अगेस्ट मैन' मे इन दो प्रकार के राजनैतिक विचारो का जिक्र करते हुए सर्वसत्ताधारी राज्य को स्पार्टन आदर्श कहा है और जहा मनुष्य को सर्वोपरि माना गया है उसे अथेनियन आदर्श कहा है। स्पार्टा मे मनुष्य का जीवन राज्य के लिए था। एथेन्स मे राज्य का अस्तित्व मानव की सेवा के लिए माना गया था। इन दो प्रकार के विचारो को समूहवाद (कलेक्टिविज्म) और व्यवितवाद (इडिविजुअलिज्म) भी कहा है। परन्तु सत्य तो दोनो के उचित समन्वय मे है।

राज्य का कार्य तो व्यक्ति और राज्य के हितो का समुचित समन्वय करना है, जिससे वे आपस मे टकरावे नही। दूसरे शब्दो मे हमारा उद्देश्य हो सत्ता और स्वतन्त्रता का सन्तुलन साधना। राज्य को व्यक्ति और समाज के हितो का समन्वय करने मे और उनका पोषण करने मे मदद करनी चाहिए। व्यवित राज्य के प्रति अपने कर्तव्य करे और राज्य व्यक्ति के अधिकारो की रक्षा करता रहे ताकि वह अपना अधिक-से-अधिक विकास कर सके। प्राध्यापक टॉनी ने इसी बात को 'धर्मानुसारी समाज' शब्द द्वारा प्रकट किया है, अर्थात् ऐसा समाज, जहा कर्तव्य पालन के साथ अधिकार जुडे हुए है।[1] अर्थात् अधिकार और कर्तव्य स्वतन्त्र नही, सापेक्ष और परस्परावलम्बी हो।

श्री ए० जी० गार्डिनर ने लिखा है--"व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का परिणाम होगा सामाजिक दुरवस्था।" इसलिए सबकी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सबको अपनी-अपनी स्वतन्त्रता का कुछ अश छोडना होगा। जिन बातो का दूसरो से किसी प्रकार का सम्बन्ध नही, जो पूर्णतया व्यक्तिगत है, उनके विषय मे मनुष्य पूर्णतया स्वतन्त्र रहे। वह जो चाहे, करे। श्री गार्डि-

[1] 'एक्यूजिटिव सोसाइटी'--प्रो० टोनी

नर कहते है—"अगर मै स्ट्रैण्ड पर लम्बा लबादा पहनकर नगे पैर और बडे बालो मे जाना चाहू तो मुझे कौन मना करने आवेगा ? आप हंसते रहिये। आप आजाद है। पर मै भी आजाद हूं। मै आपकी परवा नही करूगा। इसी प्रकार मै चाहू तो मै अपने बालो को रग सकता हू, मूछो को मोम लगाकर खडी कर सकता हूं। ऊचा टोप, ऊनी कोट और सैंडल्स पहन-कर बाहर घूमना चाहू तो मै घूम सकता हू अथवा रात मे देर से सोकर सुबह भी देर से उठना चाहू तो मुझे किसीकी इजाजत लेने की जरूरत नही है।"[1] परन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की और काम की इस सीमा को जिस क्षण मनुष्य लाघता है—उसी क्षण से दूसरो की स्वतन्त्रता का क्षेत्र शुरू हो जाता है। ससार मे बहुत-से लोग हैं। उनकी स्वतन्त्रता मे खलल नही पडने पावे। इस प्रकार हमे अपनी स्वतन्त्रता को सीमित करना चाहिए।

हर आदमी अपनी मनमानी करे और सरकार उसमे कोई बाधा नही पहुचाये, वह जमाना तो चला गया। परन्तु आज की यह प्रवृत्ति कि मनुष्य अपने-आपको पूरी तरह राज्य के अधीन कर दे—अत्यन्त बुरी है। कान्ट ने एक बडी अच्छी बात कही थी—"मानवता को—चाहे अपने अन्दर या दूसरे के अन्दर—सर्वोपरि मानो। साध्य सदा वही हो। उसे कभी किसीका गुलाम मत बनने दो।" उदाहरण के लिए राज्य का फौज के लिए व्यक्ति को दबाना या उसका दुरुपयोग करना मानवता के प्रति अपराध है। इस प्रकार सबपर फौजी अनुशासन लादने का नतीजा तो अधिनायक तन्त्र (डिक्टेटरशिप) होता है, जो शासक और शासित दोनो के लिए अभिशाप रूप ही होता है। उसमे राज्य सर्वसत्ताधारी बन जाता है और मनुष्य का व्यक्तित्व शून्य के बराबर हो जाता है। फिर ऐसी हुकूमतो मे, चाहे उनका नमूना समाजवादी हो या फासिस्ट, अन्त मे एक आदमी या कुछ थोडे-से आदमियो के हाथो मे सारी सत्ता केन्द्रित हो जाती है और करोडों जिन्दगिया उनके हाथ का खिलौना बन जाती है। परन्तु यदि मनुष्य को—मानवता को—जिन्दा रहना है तो उसे ऐसे अति-मानवो से—चाहे वे कितने ही महान् और उच्चाशय हो—अपनी जान बचानी ही चाहिए। "ऐसे देवता की भाति पूजे जानेवाले अकेले व्यक्तियों

[1] 'एस्से ऑन दि रूल ऑव दि रोड'

के हाथो मे रखनेवाली सरकारो से ससार को कोई आशा नही करनी चाहिए।[1] ऐसे उन्मत्त अधिनायको का अन्त मे क्या हाल होता है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हिटलर और मुसोलिनी के नाटकीय पतन के रूप मे हमारे सामने है। हिटलर जिन्दा हो (जैसा कि आज भी कुछ लोग मानते है) या मर गया हो आज तो वह एक कहानी मात्र रह गया है।

रूस ने एक नये प्रकार के शासन का विकास किया है, जिसे सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद (डिक्टेटरशिप ऑव दी प्रोलेटेरियट) कहा जाता है। मार्क्सवादी राज्य का आदर्श है वर्ग-विहीन प्रजातत्र। परन्तु कहा जाता है कि यह आदर्श जनता पर कठोर फौजी अनुशासन के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि यह आशा दिलाई जाती है कि अत मे जाकर राज्य समाप्त हो जायगा, परन्तु जैसा कि प्राध्यापक आल्डस हक्सले कहते है, यह सत्ता अपने-आप कभी नही जायगी, ऐसा ख्याल करना निरा भोला-पन है। जिसमे सत्ता का केन्द्रीकरण परमावधि को पहुच गया है ऐसे राज्य का अन्त या तो युद्ध से होगा या फिर विल्कुल नीचे से ही क्रान्ति की ज्वाला उठेगी और वह उसे भस्म कर देगी।[2] जॉन गुन्थर को तो भय है कि यह अधिनायक-तत्र सर्वहारावर्ग का नही, सर्वहारावर्ग पर होनेवाला है।[3]

प्राध्यापक गिन्स बर्ग ने अपनी 'साइकोलॉजी ऑव सोसाइटी' नामक पुस्तक मे लिखा है कि "किस प्रकार सत्ता का केन्द्रीकरण करनेवाला शासन एकतत्र सरकार का रूप धारण कर लेता है।" आचार्य विनोवा भावे का भी यही मत है, क्योकि सत्ता के केन्द्रीकरण मे, फिर वह राज्य समाजवादी हो या पूजीवादी, हिंसा, दमन और सेना-वल तो होता ही है।[4]

लोकतत्र ही एकमात्र विकल्प

इसलिए ससार के सामने आज एकमात्र विकल्प है लोकतत्र। उसका उद्देश्य है, या हर हालत मे होना चाहिए—सुसगठित शासन मे मानव के

---

१ 'एवरीवाडीज पॉलिटिक्ल व्हाटिज व्हाट'—जी० वी० शॉ०, पृष्ठ ३४१

२ 'ऍड्स ऍंड मीन्स', पृष्ठ ६३

३ 'इनसाइड यूरोप', पृष्ठ ५७४

४ 'स्वराज्य-शास्त्र' (हिन्दी), पृष्ठ २४-२५

व्यक्तित्व का विकास। वह एक तरफ व्यक्ति को स्वतन्त्रता देता है, दूसरी तरफ उन्हे सावधान भी कर देता है कि व्यक्ति को अपने उचित अधिकारो का उपयोग करते हुए शासन और समाज के प्रति अपने कर्तव्यो का पालन भी बराबर करते रहना है। लिकन ने प्रजातत्र की परिभापा करते हुए उसे "जनता का, जनता द्वारा जनता के हित मे शासन" कहा था। गेटिस बर्ग मे कहे गये ये शब्द यद्यपि पुराने पड गये है तथापि उनमे बडा अर्थ भरा पडा है। जैसा कि श्रीमती एलिनोर रूजवेल्ट ने कहा था, "प्रजातन्त्र का आधार नैतिक और धार्मिक है। उसका अर्थ है भ्रातृभाव, एक-दूसरे के प्रति गहरा आदर। इसमे हमारी विजय या सफलता तभी सच्ची मानी जायगी जब दूसरो की सफलता मे भी वह सहायक होगी।"[1]

प्लेटो लोकतत्री सविधान को पसन्द नही करता था, क्योकि उसमे सत्ता के सूत्र ढीले और विलासी आदमियो के हाथो मे चले जाने की बहुत सभावना रहती है।[2] इसलिए वह ऐसे लोकतत्र के बजाय बुद्धिमान और तत्वज्ञानी राजा का एकतत्री राज्य अधिक पसन्द करता था। रूसो कहता था कि मनुष्य जबतक मनुष्य है, लोकतत्र कभी पूर्णतया निर्दोप हो ही नही सकता। "हा, मनुष्य जिस दिन देवता बन जायगा उस दिन भले ही वह सच्चा लोकतत्री शासन चला सकेगा।"[3] द. तकबिल अन्त मे इस नतीजे पर पहुचा कि लोकतंत्र मे शासन बिल्कुल सामान्य आदमियों के हाथो मे चला जाता है। सर हेनरी मेन को भय था कि लोकप्रिय शासन मे प्रगति एकदम रुक जाती है। लैकी का कहना है कि प्रजातन्त्र मे स्वतन्त्र रूप से विकास नही हो पाता——बार-बार रोडे अटकाये जाते है और विरोध होता रहता है। बिस्मार्क तो लोकतत्र को रोने-चिल्लानेवाले भावुको की मण्डली कहकर उसकी खिल्ली उडाता था। फ्रान्स के प्रसिद्ध ग्रन्थकार फॉक ने लोक-तत्र को अयोग्यो का पथ कहा है। नीत्शे की निगाह मे लोकतत्र "मनुष्य को पतन की ओर ले जानेवाला राजनैतिक सगठन" था। वॉल्टर लोकतत्र के विरुद्ध इसलिए था कि वह तो लोगो को निरा पशु समझता था, जिनके लिए

---

[1] 'दि मोरल बेसिस ऑव डेमोक्रैसी,' पृष्ठ १३

[2] रिपब्लिक—आठवी जिल्द

[3] 'सोशल कान्ट्रैक्ट', ४ अध्याय

घास, जुए और आर की ही जरूरत होती है। हमारे युग के महान विचारक बर्नार्ड शॉ की राय मे लिंकन की प्रजातत्र की परिभाषा एक शब्दाडबर से भरी हुई निकम्मी चीज है। वह लिखते है, "लोगो ने प्राय सरकारी कामो मे बाधा ही पहुचाई है। क्राति तक कर दी है। परन्तु कभी सही अर्थो मे शासन नही चलाया।"[1]

फिर भी सच तो यह है कि लोकतत्र ही एक ऐसी पद्धति है, जो व्यक्ति और राज्य के हितो मे समन्वय स्थापित कर सकती है। जैसे कि मैने प्रारम्भ मे ही कह दिया है, शासन का कोई ऐसा सर्वोत्तम सविधान तो नही बनाया जा सकता, जो सबके लिए सदा सर्वकाल उपयोगी हो। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि अच्छे जीवन-यापन के लिए अनुकूल परिस्थितिया लोकतत्र ही प्रदान कर सकता है। लॉर्ड ब्राइस ने लिखा है—"समाज के अग के रूप मे व्यक्तियो को सन्तोष और साथ ही सारे समाज का भला—हित या कल्याण वही सभव है, जहा समाज के अधिक-से-अधिक मनुष्य शासन मे समानता के आधार पर भाग ले सकते है।"[2] फिर जैसा कि प्राध्यापक लेनार्ड ने कहा है, "लोकतत्र निरा शासन का स्वरूप नही है। वह एक सामाजिक आदर्श है। हा, यह आदर्श जितना उच्च है, उसके अनुरूप उसके अमल मे कठिनाइयो का होना भी स्वाभाविक ही है।"[3]

लोकतत्र एक बडी बहुमूल्य वस्तु है, क्योकि उसमे मानव के प्रति आदर है। श्रीमती वेब ने लिखा है कि "राजनैतिक लोकतत्र मे सबसे चमत्कारपूर्ण वस्तु यह है कि उसमे मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की खूब गुजाइश है।"[4] जॉन स्टुअर्ट मिल कहता है कि "राष्ट्र के नैतिक कल्याण की दृष्टि से देखे तो लोकतत्र मे राष्ट्रीय चरित्र का जितना अच्छा और उच्च विकास होता है वैसा शासन के किसी भी दूसरे रूप मे नही होता।" शैक्षणिक दृष्टि से भी लोकतत्र दूसरी पद्धतियो की अपेक्षा अधिक अच्छा सिद्ध होता है, क्योकि जैसा कि प्राध्यापक बर्न्स कहता है, "सबसे अच्छी शिक्षा आत्म-

---

१ 'एवरीबाडीज पॉलिटिकल व्हाटिज व्हाट', पृष्ठ ३३६

२ 'माडर्न डेमोक्रैसीज', पहली जिल्द, पृष्ठ ५०

३ 'डेमोक्रैसी ढि यैूटन्ड फाउन्डेशन', पृष्ठ ६

४ 'माडर्न स्टेट', पृष्ठ ८४

शिक्षण मे ही है।" देश मे राजनैतिक प्रतिभा कहा-कहा छिपी पडी है, इसे जितनी अच्छी तरह लोकतत्र खोजकर ले आता है, उतना दूसरी कोई पद्धति नही ला सकती।

हां, यह भी स्वीकार करना होगा कि जीवन की कितनी ही अच्छी चीजो की भाति लोकतन्त्र मे भी कितने ही दोष छिपे है, परन्तु आज वह कसौटी पर है। वह चौराहे पर खडा है। लोकतन्त्र की आज यह जो परीक्षा का—कसौटी का—समय उपस्थित हुआ है, उसका हम कुछ विस्तृत निरीक्षण करे।

लोकतन्त्र चौराहे पर

लोकतन्त्र को निर्भय करने तथा युद्धो का सदा के लिए अन्त करने के लिए पहला महायुद्ध लडा गया था, परन्तु उस युद्ध के बाद ससार ने दु ख के साथ देखा कि उसका यह सोचना निरा भ्रम था।

वर्साय की सन्धि ने शान्ति की स्थापना करने के बजाय दूसरे महायुद्ध के बीज बो दिये, जो पहले से भी अधिक सहारक था। लोकतन्त्र को निर्भय करने के बजाय युद्धोत्तर ससार के सामने यह समस्या खडी हो गई कि वह लोकतन्त्र से जान कैसे छुडाये ? लोकतन्त्र को ससार पर जोर-जबरदस्ती थोपने के प्रयत्नो ने यूरोप मे अधिनायक तन्त्रो (टोटेलिटेरियन रिजीम्स) को जन्म दिया और इन अधिनायक तन्त्रो का मुकाबला करने के प्रयत्नो मे लोकतन्त्री सरकारो ने जान मे या अनजान मे खुद अपने देशो से लोकतन्त्र को निकाल बाहर कर दिया। अतलातिक चार्टर मे लिखा है कि ससार के हर देश को यह निश्चय करने का अधिकार है कि उसके यहा किस प्रकार की राज्य-पद्धति हो। प्रजाजनो के इस अधिकार को स्थापित करने के लिए ही दूसरा महायुद्ध लडा गया था। परन्तु कहना होगा कि मित्र राष्ट्रो ने ससार को बहुत अधिक धोखा नही दिया। युद्ध के दौरान मे ही अतलातिक चार्टर को उन्होने बडे आराम के साथ उस अतल महासागर मे डुबो दिया, ताकि बाद मे सन्देह और आश्चर्य के लिए कोई गुजाइश ही नही रहे। हर जगह एक बडी 'वी' बना दी गई। 'वी' का मतलब है विजय। दूसरे महायुद्ध का एकमात्र उद्देश्य फिर 'विजय' बन गया। सान फ्रासिस्को

मे मित्र-राष्ट्रो की जो सभा हुई उसकी कार्रवाही ने तो यह बताकर सबकी आखे और भी खोल दी कि अबसे ससार मे सर्वोपरि सत्ता सदा के लिए केवल तीन बडो के हाथो मे ही रहेगी। बेशक ये तीन बडे स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की बाते तो कहते ही रहते है और अपने पैरो के नीचे दबे देशो के निवासियो को धोखा देने के लिए स्वशासन और स्वतन्त्रता के बीचवाले सूक्ष्म भेद की बाते भी करते रहते है। जापान, जर्मनी और इटली की निरकुश सत्ताए भी धूल मे मिला दी गई, परन्तु निरकुशता नगी होकर अब ससार मे इतनी निर्भयता के साथ नाच रही है, जितनी पहले कभी नही नाची थी। प्राध्यापक लास्की कहते है—"विजय स्वय एक पूर्णता नही, बल्कि उसका एक साधन मात्र है। उसने तो लोकतन्त्र को केवल एक मौका दिया है। वह यह भरोसा नही दिलाती कि इस मौके से अवश्य ही लाभ उठाया जायगा।"[१] और अब यह सिद्ध भी हो गया कि एक बार फिर मौका हाथ से निकल गया। बर्नार्ड शॉ ने कहा ही है कि पश्चिम मे कही लोकतन्त्र नही है। वे तो पूजीपतियो के राज है और उनका रोम-रोम फासिस्ट है। उम्र मे सयुक्त-राज्य अमरीका इन सबमे छोटा और कुछ अधिक समझदार है, इसलिए वह 'प्रत्यक्ष साम्राज्य' की बाते नही करता, पर उसका अदृश्य साम्राज्य ससार मे 'चार स्वतन्त्रताओ' के रूप मे अपने हाथ-पैर फैलाये बगैर नही रह सकता। सोवियत रूस इनमे सबसे अधिक चालाक है। समाजवाद की रक्षा के नाम पर वह सारे ससार पर अपनी सत्ता फैलाने के लिए तुल गया है। इस प्रकार दूसरे महायुद्ध के बाद भी लोकतन्त्र का भविष्य बहुत निराशायुक्त और अधकारमय है और यदि कही सयुक्त राष्ट्र-सघ टूट गया तो कुछ ही वर्षो मे ससार का सर्वनाश निश्चित है। 'डेली हेरल्ड' ब्रिटेन के सत्ताधारी दल का बडा प्रभावशाली यत्र है। उसने साफ लिखा है कि "ससार आखे खोलकर तीसरे युद्ध की ओर बढ रहा है। यदि हम इसी तरह बढते रहे तो हमे हिटलर के नाम को रोना पडेगा। उसके बहाने सही, मित्र-राष्ट्र एक तो हो गये थे।"

---

[१] 'रिफ्लेक्शन ऑन दि रेवोल्यूशन ऑव आवर टाइम', पृ० १४६

पूंजीवादी लोकतंत्र

पश्चिम मे लोकतन्त्र को इस नाजुक हालत मे से क्यो गुजरना पड रहा है ? कारण स्पष्ट है। प्राध्यापक टॉनी के शब्दो मे कहे तो इस आर्थिक और राजनैतिक बीमारी की जड है हमारा लोभी-लालची वर्ग। पूजीपति लोग तभी तक मीठी-मीठी और चिकनी-चुपडी बाते करते है जबतक उनकी जेब को कोई नही छूता। जनता के लिए वे सामाजिक सुधार और राजनैतिक स्वतन्त्रता की भी लम्बी-लम्बी बाते जरूर करेगे, परन्तु केवल एक शर्त पर, अर्थात् स्वतन्त्रता उनकी सत्ता को नही छुए। जब भी उन्हे आशका-मात्र हो जाती है कि उनकी सत्ता खतरे मे है, वे तुरन्त अपना वह मखमली दस्ताना फेक देते है, जो अबतक उनके फौलादी घूसे को छिपाये हुए था। विशेषाधिकारवाले लोग तभी तक दूसरो के साथ भलमनसाहत के साथ पेश आते है जबतक ये दूसरे उनका कहा मानते रहते है। परन्तु ज्योही वे देखते है कि उनका वैभव और विशेषाधिकार खतरे मे आ गया है कि वे उसकी रक्षा के लिए अधिक-से-अधिक बल का प्रयोग करने मे कभी नही हिचकते, क्योकि फासिज्म भी तो आखिर क्या है ? प्राध्यापक लास्की के शब्दो मे—"निकम्मे भूत की रक्षा के लिए हिसा द्वारा भविष्य को कैद करनेवाली विशेषाधिकारवाली शक्तियो का नाम है फासिज्म।"[1] दूसरे शब्दो मे कहे तो लोकतन्त्र के नाम पर शासन करनेवाला पूजीवाद जब अपनी जान बचाने के लिए नगा रूप धारण करके खडा हो जाता है तब वह फासिज्म कहलाता है। पूजीवाद और लोकतन्त्र तो स्वभावत एक-दूसरे के विरोधी है। पूजीवादी समाज मे तो मालिक के लाभ के लिए उत्पादन होता है, जहा लोकतन्त्री समाज मे नागरिक अपनी राजनैतिक सत्ता के द्वारा राज्य की शक्ति का उपभोग समाज की सेवा के लिए करना चाहते है। पूजीवाद प्रजातन्त्र के साथ तभी तक रह सकता था जबतक उसने अपने हाथ-पैर नही फैलाये थे। पिछले महायुद्ध के बाद पूजीवाद के ह्रास का युग शुरू हो गया। चारो तरफ बेकारी फैल गई और हर जगह सम्पन्नता के बीच दरिद्रता का अजीब दृश्य खडा हो गया। अब अपनी माली हालत सुधारने के

[1] 'व्हेयर डू वी गो फ्रोम हीयर ?'

लिए लोगो ने अपनी राजनैतिक शक्ति का उपयोग शुरू किया, परन्तु यह तो मालिक वर्ग के स्वार्थो कोसी धी चुनौती थी। इसीको लेकर फासिस्ट, ताना शाही और सर्व-सत्ताधारी राज्य—टोटेलिटेरियनिज्म—का जन्म हुआ। जहा समाजवाद का खतरा बहुत अधिक था—-जैसे कि इटली और जर्मनी —वहा फासिज्म स्वरूप अधिक उग्र, आक्रामक और निरकुश बन गया।

लोकतन्त्री देशो मे पूजीवाद को ऐसे खतरे का सामना नही करना पडा। इसलिए वह यहा के मुकाबले मे वहा अधिक शान्त और सहिष्णु रह सकता था, परन्तु जो समाज गरीबो और अमीरो के अलग-अलग वर्गो मे बट जाता है वहा लोकतन्त्र कभी चल ही नही सकता। "जबतक कोई राज्य आर्थिक विषमता के आधार पर बने वर्गो का प्रतिनिधि होगा तबतक वह सदा उसी वर्ग का सेवक होगा, जो उत्पादन के साधनो का मालिक होगा या उसपर प्रभाव रखता होगा।"[१] इसलिए आज अर्थ के क्षेत्र मे जिन सिद्धान्तो को स्वयसिद्ध माना जाता है, उनमे जबतक बदल नही होगी तवतक वर्तमान समाज की प्रकृति और रूप मे भी कोई वडा फेर नही हो सकेगा और तबतक लोकतन्त्र पूजीवाद का गुलाम ही बना रहेगा। तबतक अखवारो, धारा-सभाओ, प्रकाशन-सस्थाओ, शिक्षा-सस्थाओ तथा प्रचार के अन्य सव साधनो पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पूजीपति-वर्ग का ही प्रभुत्व रहेगा। वह सदा लोकतन्त्र का उपयोग अपने स्वार्थ-साधन के लिए ही करता रहेगा और वह नाममात्र का लोकतन्त्र वास्तव मे धनवानो का ही राज्य होगा। जैसा कि लॉर्ड ब्राइस ने कहा है "धन-सत्ता लोकतन्त्र का सबसे अधिक धोखेबाज और मीठा शत्रु है। यह दुश्मन भयकर इसलिए है कि वह वल से काम नही लेता, वल्कि गुप्त रूप से और मीठी-मीठी बाते वना-कर धोखा देता है, इसलिए आदमी अनजान मे उससे धोखा खा जाता है।"[२] पुराने समय से, जव कि चुनाव-क्षेत्र वहुत छोटे और सुरक्षित-से थे, आजतक, जवकि वहुत सावधानी से प्रचार करना पडता है और अपने क्षेत्रो की वडी खुशामद और सभाल करनी पडती है, पूजीपतियो के लोकतत्र की प्रकृति मे कोई अन्तर नही पडा है।

---

१ 'दि स्टेट इन थ्योरी ऐंड प्रैक्टिस'—प्रो लास्की, पृ० ३२८

२ 'माडर्न डेमोक्रैसीज', दूसरी जिल्द, पृ० ५३३

लोकतन्त्र बनाम हुल्लड़शाही

आजकल के लोकतन्त्रो मे धन-सत्ता के कारण जो बुराइया है, उनके अलावा चुनावो की वर्तमान पद्धति बडी दोषपूर्ण और बुरी है। चुनाव-क्षेत्र इतने वडे-वडे है कि उम्मीदवार और मतदाताओ के बीच व्यक्तिगत सपर्क जैसी चीज ही सम्भव नही रह गई है। इस कारण चुनाव-अभियान जरूरी हो जाते है, और इन अभियानो मे क्या-क्या खराबिया है, इनसे हम सब खूब परिचित है। चुनाव की सभाओ का वर्णन बर्नार्ड शॉ ने बडे अनूठे ढग से किया है। वह लिखते है कि ये सभाए बडी निन्दनीय और घृणित होती है। इनमे समझदार और सही दिमाग के लोग भी इस बुरी तरह चीखते-चिल्लाते है कि एक निष्पक्ष आदमी वहा पहुच जाय और उनकी बाते सुने तो उसे तो यही लगे कि वह किसी पागलखाने और असाध्य मानसिक रोगियो के बीच पहुच गया है।

श्री शॉ आगे लिखते है—"ज्यो-ज्यो मेरी उम्र बढती जाती है त्यो-त्यो मुझे ये प्रदर्शन असह्य और मनुष्य की शान तथा नागरिक सभ्यता के लिए अत्यन्त लज्जाजनक मालूम होते जा रहे है। हर राष्ट्र की सरकार को इस प्रश्न पर बहुत गम्भीरता के साथ विचार करना चाहिए।"[१] इस प्रकार ये चुनाव-क्षेत्र इतने बडे होते है कि सही प्रतिनिधि का चुनाव करना बडा कठिन हो जाता है। गाधीजी ने कहा है, "वहा हमे प्रजातन्त्र और लोकशाही के स्थान पर हुल्लडशाही के ही दर्शन होते है।" इसलिए सभ्य, योग्य और शान्त प्रकृति के लोग तो इन चुनावो के हुडदग से दूर ही रहना पसन्द करते है। तब स्वभावत ऐसे लोगो की बन आती है, जिन्हे भले-बुरे और नीति-अनीति की कोई परवा नही होती, जिनकी खाल मोटी होती है और जो रिश्वत, धौस और हर तरह के भले-बुरे साधनो से काम लेकर जिस-किसी तरह जीतना चाहते है। चुनावो मे खर्च भी इतना अधिक होता है कि साधारण आदमी उम्मीदवारी के लिए खडा रहने की हिम्मत ही नही कर सकता। इस कारण पूजीपतियो का मार्ग निष्कण्टक हो जाता है और अन्त मे वे ही शेष समाज पर शासन करते है।

---

[१] 'दि पालिटीकल मैड हाउस इन अमरीका ऐड नियरर होम', पृ० २५-२६

फिर इन बडे-बडे क्षेत्रोवाली चुनाव-पद्धति मे काम केवल यन्त्रवत् होता है। उसमे आनन्द नही आता। राजनैतिक दल अथवा उनके स्थानीय सगठन अपने उम्मीदवारो का चुनाव करने मे बडी सख्ती वरतते है और अक्सर ऐसे उम्मीदवार खडे कर दिये जाते है, जिन्हे मतदाता स्वय जानते भी नही। इन चुनावो मे किसी भी दल को स्थानीय लोगो और कामो मे प्राय कोई दिलचस्पी नही होती, क्योकि शासन-कार्य तथा कानून बनाने मे भी सत्ता का केन्द्रीकरण बहुत अधिक होता है। इसलिए तमाम लोकतन्त्री देशो के मतदाता इन सब बातो से एकदम उदासीन हो गये है और जब भी चुनाव आते है, मतदाताओ को प्राय खीच-खीचकर ही वोट डलवाने के लिए ले जाया जाता है। सयुक्त राज्य अमरीका जैसे प्रगतिशील देश मे भी जिन लोगो को वोट देने का अधिकार है, उनकी आधी सख्या भी अपने इस अधिकार का उपयोग करने चुनाव-केन्द्रो पर नही जाती। जहा सिरो (मस्तिष्क) की नही, केवल हाथो की गिनती होती है और वोटो की भी केवल गिनती होती है, वोट देनेवाले कौन है, इसकी परवा ही नही की जाती, वहा स्वभावत बुद्धिमानो को कोई रुचि और उत्साह नही होगा।

राजनैतिक दल और सगठन

इन दिनो इतने राजनैतिक दल खडे हो गये है और इनके सगठन इतने व्यवस्थित है कि लोगो को स्वतत्र रूप से विचार करने के लिए कोई अवकाश ही नही रहने दिया जाता। एक आदमी किसी स्थान के लिए बहुत योग्य उम्मीदवार हो सकता है, परन्तु यदि वह दलो के नेताओ मे से किसीका अपना आदमी नही है तो उसे टिकट मिलने की कोई आशा नही। दलो के उम्मीदवारो के लिए भी विधान-सभाओ मे दल के सचेतको को वार-वार हिदायते जारी करनी पडती है। मेरा मतलव यह नही है कि वर्तमान दलीय पद्धति मे एक भी अच्छाई नही है। राष्ट्रीय महत्व के विषयो के वारे मे मतदाताओ को शिक्षित करने मे वे काफी उपयोगी है, परन्तु वात यह है कि आजकल के दल वहुत ठोस और सख्त हो गये है। श्री ए० आर० लार्ड के शब्दो मे, "दल-पद्धति मे एक प्रकार से यान्त्रिक जडता

आ गई है। लोकमत को वह इस प्रकार बाट देती है कि सही-सही लोकमत क्या है, यह अनुमान लगाना बडा कठिन हो जाता है।"[1] एच० जी० वेल्स कहते है कि हमारी वर्तमान चुनाव-पद्धतिया प्रतिनिधि-शासन का मजाक-भर है। इसने अतलातिक महासागर के दोनों तरफ दलो के बडे-बडे बुद्धि-रहित और भ्रष्ट सगठन-यत्र खडे कर लिये है। विधान-सभाओ मे जिस प्रकार से विवाद होता है वह बडा झूठा और अवास्तविक होता है, क्योकि हरकोई जानता है कि हर महत्व के विषय मे सभा का निर्णय दलो के मत-बल के अनुसार ही होगा। इसलिए आज की प्रतिनिधि-सभाए केवल विवाद के अखाडे रह गई है। लोगो के दिलो मे उनके प्रति बड़ी तेजी से निरादर बढता जा रहा है।

केन्द्रीकरण

युद्धो के खतरो से भरे हुए इस ससार मे लोगो को आक्रमण का भय सदा बना रहता है और इसके फलस्वरूप सरकारे अपने हाथो मे अधिक-से-अधिक सत्ता लेती जा रही है। इस सत्ता के इस अत्यधिक केन्द्रीकरण मे लोकतत्र मृग-मरीचिका और महगा प्रदर्शन-मात्र रह गया है। विधान-सभाओ का काम बढ गया है। इसके कारण कोई भी काम अच्छी तरह नही हो पाता। समय और शक्ति का अपव्यय तथा अकारण देरी बहुत हो जाती है। फिर इसमे प्रजातन्त्र के इस बुनियादी सिद्धान्त की भी रक्षा नही हो पाती कि "जिस विषय का सम्बन्ध सबसे हो, उसका निर्णय सब मिलकर करे।"

सक्षेप मे, वर्तमान प्रजातन्त्र मे ये सारे दोष है। और भी कई आसानी से गिनाये जा सकते है। अभी तो इतना ही कहना काफी होगा कि आज वह चौराहे पर खडा है। उसे जिन्दा तो रहना ही है, परन्तु वह जाय किधर ?

गांधीजी का मार्ग

इस सकट मे से वह कैसे पार हो,इसके लिए अनेक विचारको ने अलग-

---

[1] 'प्रिसिपिल्स ऑव पालिटिक्स', पृ० १६२

अलग मार्ग बताये है। श्री रैम्से म्योर ने अपनी पुस्तक 'इज डेमोक्रैसी ए फेल्योर' मे इसके उपाय के रूप मे सुझाया है कि अब प्रजातन्त्र मे सिगल ट्रासफरेवल वोट के द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति शुरू की जानी चाहिए। इस पद्धति मे यह अच्छाई है कि बहुत छोटी सस्थावाला दल चुनाव मे बहुमत नही प्राप्त कर सकेगा और सदन मे देश के सब वर्गो को प्रतिनिधित्व मिल जायगा। इसके अलावा सदनो के कार्य-भार को हल्का करने के लिए म्योर ने सुझाया है कि सदन् मे समिति-पद्धति शुरू कर दी जाय। ये सुझाव नि सन्देह व्यावहारिक है, परन्तु ये समस्या की केवल कोर को छूते हे। आनुपातिक प्रतिनिधित्व तो अच्छा है, पर अकेला वही काफी नही। इसी प्रकार शासन और कानूनो के निर्माण मे सत्ता का जो केन्द्रीकरण हो रहा है, उससे यह समिति-पद्धति देश को मुक्ति नही दिला सकेगी। लॉर्ड ब्राइस को तो केवल यह एक आशा है कि जैसे-जैसे मनुष्य-समाज का बौद्धिक और नैतिक विकास होता जायगा, उसकी सहानुभूति और कर्तव्य-जागृति बढेगी वैसे-वैसे सारी बुराइया अपने-आप धीरे-धीरे चली जायगी।[1] परन्तु केवल इस शुभ आशा के आधार पर हम नही रह सकते। वह प्रजातन्त्र को इन दोषो से मुक्त नही कर सकेगा। समस्या जटिल है। इसके लिए कोई रचनात्मक और ठोस उपायो का अवलवन करना होगा। प्राध्यापक लास्की को आशा है कि आज जो सम्पन्नता के बीच विपन्नता की समस्या है, उसे यदि निहित स्वार्थो का राष्ट्रीयकरण करके हल कर लिया जाय तो प्रजातन्त्र शुद्ध और स्थायी भी हो सकता है। परन्तु क्या इस प्रकार सपत्ति का राष्ट्रीयकरण काफी होगा ? हम पहले देख ही चुके है कि रूस मे सपत्ति को राष्ट्र की सम्पत्ति बना देने पर किस प्रकार वहा, फौजी अनुशासन और अधिनायक-तन्त्री सत्ता स्थापित हो गई है। सर स्टैफर्ड क्रिप्स चाहते है कि अब शासन की कोई ऐसी पद्धति ढूढने की जरूरत है, जिसमे केन्द्रित राजसत्ता की कार्यक्षमता के साथ आर्थिक सयोजन भी हो और वह सास्कृतिक तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता भी हो, जो कि केवल प्रजातन्त्र मे ही हो सकती है और इनका सम्पूर्ण समन्वय हो।[2] परन्तु यह सुझाव तो बडा अस्पष्ट

---

[1] 'माडर्न डेमोक्रैसीज', पृ० ६६६

[2] 'डेमोक्रैसी अपटुडेट', पृ- १०७

है। एक सफल प्रजातन्त्री नेता मे क्या-क्या गुण होने चाहिए, इनकी एक लम्बी सूची पेश करते हुए चेकोस्लोवाकिया के राष्ट्रपति एडवर्ड बेन्स ने लिखा है—"ऐसे पुरुष के अन्दर अनेक गुणो का सुन्दर समन्वय हो, उच्च कोटि की अत प्रेरणा, सहजबुद्धि, सस्कार-शीलता, वैज्ञानिक की निष्पक्ष और शोधक बुद्धि हो। इसके साथ-साथ तुरन्त निर्णय करने तथा तत्परता के साथ अमल करने की शक्ति भी हो, सबल शरीर और नैतिक साहस भी उतना ही जरूरी है।"[1] परन्तु ऐसे सर्वगुण-सम्पन्न सुयोग्य नेता मिलते कहा है?

बर्नार्ड शा का अपना एक मौलिक सुझाव है। उनकी राय यह है कि बालिग मताधिकार लोकतन्त्र को निष्प्राण कर देता है। 'टाइम एण्ड टाइड' के पिछले किसी अक मे वह लिखते है, "मै प्राणिशास्त्र की उस शाखा का विद्यार्थी हू, जिसे मानव-स्वभाव कहा जाता है। जिस ससार मे जनता की आवाज को बगावत की आवाज कहा जाता है और इक्कीस वर्ष से ऊपर के हर मनुष्य की राजनैतिक बुद्धि और चातुर्य अनन्त और कभी भूल न करने-वाला माना जाता है, कम-से-कम मेरे लिए तो वह सपने का ससार है। वह कभी नही था और मेरी बुद्धि कहती है कि न कभी होगा। इसलिए शॉ कहते है कि सबसे अच्छा आदर्श तो यह है कि सुयोग्य और परखे हुए पुरुषो की परिषदे बनाई जाय। इनके कार्यो और निर्णयो की कडी-से-कडी आलो-चना करने का अधिकार और अनुभव के अनुसार समय-समय पर इन आदमियो को बदलने का अधिकार भी जनता को हो।"[2] शॉ कहते है कि लोकतन्त्र के भक्तो का काम यह है कि वे कोई कसौटी ढूढ निकाले, जिसकी मदद से वे जनता मे से अच्छे-से-अच्छे विधायको को ढूढ-ढूढकर उनकी एक सूची बना ले और इनमे से फिर अपने उम्मीदवार चुने। इस प्रकार शॉ सर्वसत्ताधारी प्रजातन्त्र के माननेवाले है। इन महान् नाटककार के प्रति सम्पूर्ण आदर प्रकट करते हुए क्या हम उनसे पूछे कि ऐसे अतिमानवों की कसौटिया क्या होंगी? उन्हे कौन ढूढ निकालेगा? जाहिर है कि स्वय ये महान् विधायक खुद ही सामने आकर अपने-आपको समाज के उद्धारक

---

[1] 'डेमोक्रैसी टुडे एण्ड टुमारो', पृ० २१२

[2] 'एवरीबडीज पालिटिकल व्हाटिज व्हाट', पृ० ३४१

और देवता कहकर पेश कर दिया करेगे। इस प्रकार अन्ततोगत्वा शॉ का सर्वसत्ताधारी लोकतन्त्र लोकतन्त्र नही,सर्व-सत्ताधारी अधिनायक तन्त्र ही रह जायगा।

फिर लोकतन्त्र किस मार्ग पर चले ? मेरा जवाब है कि गाधीजी के बताये मार्ग पर चले। इसके दो बुनियादी सिद्धान्त है—अहिसा और विकेन्द्रीकरण। इनपर हम कुछ विस्तार से चर्चा करे।

अहिसा

महात्मा गाधी की राय है कि लोकतन्त्र की रक्षा अहिसा के द्वारा ही हो सकती है, क्योकि जबतक वह हिसा का सहारा लेता रहेगा, वह गरीबो की रक्षा नही कर सकता और न उनका भला कर सकता। "लोकतन्त्र के बारे मे मेरी कल्पना यह है कि उसके अन्दर बलवान-से-बलवान के लिए जो अवसर होते है वे कमजोर-से-कमजोर के लिए भी उपलब्ध हो। हिसा मे यह कभी नही हो सकता।"[1] "पश्चिम मे आज जो लोकतन्त्र काम कर रहा है, वह नाजीवाद या फासिज्म का एक हलका-सा मिश्रण-मात्र है। बहुत-से-बहुत तो उसे नाजीवाद या फासिस्टवाद के साम्राज्यवाद को छिपानेवाला आवरण मात्र कह सकते है।" और "लोकतन्त्र और हिसा साथ-साथ रह ही नही सकते। आज जो लोकतन्त्र का नाम धारण किये हुए राज्य है, उन्हे या तो ईमानदारी के साथ खुल्लमखुल्ला सर्व-सत्ताधारी बनना होगा या उन्हे सचमुच लोकतन्त्री ही बनना है तो हिम्मत करके अहिसा का अनुगामी बनना होगा।"[2] यदि ऐसा नही हुआ तो लोकतन्त्री शासन-पद्धति केवल काल्पनिक चीज बनी रहेगी। पूजीपति समाज तो शोषण की साक्षात प्रतिमा है, और शोषण-मात्र की आत्मा है हिंसा। इसलिए शोषण को निर्मूल करने के लिए अहिसक समाज अथवा अहिसक राज्य की स्थापना जरूरी है। निश्चय ही ऐसा समाज या राज्य आर्थिक समानता और स्वतन्त्रता के आधार पर ही कायम किया जा सकता है, क्योकि बगैर आर्थिक न्याय के सच्चा राजनैतिक लोकतन्त्र सम्भव ही नही।

---

[1] 'हरिजन', १८-५-१९४०

[2] 'हरिजन', १२-११-१९३८

तो यह आर्थिक समानता और स्वतन्त्रता कैसे लाई जाय ? एक रास्ता वह है, जो सोवियत रूस ने अपनाया है, अर्थात् सारी सत्ता सर्वहारा-वर्ग के हाथ मे दे दी जाय और दूसरो की कमाई खानेवाले सभी लोगो को निर्ममता से कुचल दिया जाय। सर्वहारा-वर्ग का जीवन भी इसमे इतने कठोर अनुशासन मे जकड़ दिया जाता है कि स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र का कही अवशेष नही रह पाता। इस प्रकार बीमारी से बुरा उसका इलाज साबित होता है। जैसा कि बोरिज ब्रुतकुस ने कहा है—"मनुष्य के व्यक्तित्व को खा जानेवाला हॉब्स का बताया राक्षस न तो पुराने राजाओ का राज था, न लोकतन्त्र ही है। वह निवास करता है समाजवादी राज्य मे।"[1] मैक्स ईस्टमन शुरू-शुरू मे सोवियत रूस का बडा प्रशसक रहा है, परन्तु बाद मे उसकी भी आखे खुल गई—"अब मै इस नतीजे पर पहुचा हू कि जब एक सुसगठित अल्पसख्यक दल—सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधियो के नाम पर, रोम के वैभव की रक्षा के नाम पर, नॉर्डिक कौम की श्रेष्ठता के नाम पर या दूसरे किसी भी नाम पर हिसा के द्वारा सत्ता हथिया लेता है फिर वह सर्वसाधारण जनता के साथ अपना सम्बन्ध किसी भी तरह बनाये रहे, वह निरकुश हो ही जाता है। उसकी सत्ता समाज के अग-अग पर छा जाती है।"[2] ऐसे राज्य को आजकल लोग भले ही टोटेलिटेरियन स्टेट कहे, परन्तु उसमे अत्याचार के वे सभी तरीके है, जो कि काम मे लाये जा सकते है। यह अत्याचार भले ही युद्ध-प्रयत्न की सफलता और कार्यक्षमता के नाम पर किया जाय, वह मनुष्य के व्यक्तित्व के स्वतन्त्र और स्वाभाविक विकास का तो गला घोट ही देता है। जैसा कि जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है, "हमे नही भूलना चाहिए कि राज्य का मूल्य अन्ततोगत्वा उसके निवासियो की जीवन की स्थिति पर ही निर्भर करेगा। जो राज्य अपनी जनता को दबाकर छोटा बना देता है, इस उद्देश्य से भी कि किसी भी अच्छे काम मे वे चुपचाप उसका साथ देते रहे, वह अन्त मे पायगा कि ऐसे लोगो की मदद से वह कोई भी बडा काम नही कर सकेगा।"[3] इसलिए यह अत्यन्त जरूरी है

[1] 'इकोनामिक प्लैनिग इन सोवियत रशा', पृ० ७६

[2] 'स्टैलिन्स रशा ऐंड क्राइसिस इन सोशलिज्म', पृ० १२

[3] 'ऑन लिबर्टी'—थिकर्स लायब्रेरी, पृ० १४३

कि लोकतन्त्र का विकास अहिसा की पद्धति से ही हो।

विकेंद्रीकरण

तब अहिसक लोकतन्त्र का शास्त्र क्या है ? वह है विकेन्द्रीकरण। हिसा अनिवार्य रूप से केन्द्रीकरण की तरफ ही ले जाती है। अहिंसा की आत्मा है विकेन्द्रीकरण। गाधीजी हमेशा इस प्रकार आर्थिक और राजनैतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर जोर देते रहे है, जो न्यूनाधिक परिमाण मे स्वावलम्बी और स्वशासित हमारी ग्राम-पचायतो के रूप मे इस देश मे रहा है। वे इन सस्थाओ को अहिंसक सगठनो के नमूने मानते है। उन्होने यह कभा नही कहा कि इस प्राचीन पचायत-प्रथा को फिर उसी रूप मे पुनर्जीवित किया जाय। आज की बदली हुई परिस्थितियो के अनुरूप उनमे जरूरी फेर-बदल अवश्य ही करने होगे। फिर वे भी पूरी तरह निर्दोष थी, ऐसी बात भी नही है। परन्तु यह तो मानना ही होगा कि विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था और स्वायत्त शासन के रूप मे उनमे एक आदर्श आर्थिक और राजनैतिक सगठन के बीज जरूर थे। इसलिए गाधीजी की यह निश्चित राय है कि भारत का भावी विधान मुख्यतः इन ग्राम-पचायतो के आधार पर ही बनाया जाय, क्योकि स्थानाय शासन मे वे स्वतन्त्र है। आर्थिक दृष्टि से भी स्वाश्रयी होती है। वे एक-दूसरे से कटी हुई नही, सुसम्बद्ध है। उनमे सीधा-सच्चा प्रजातन्त्र है। ग्रामोद्योगो पर आधारित अहिसक ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था है और अपने क्षेत्र के सब मनुष्य आपस मे एक-दूसरे से पूरी तरह परिचित होते है। गाधीजी कहते है, "राज्य वह सबसे अच्छा है, जहा शासन कम-से-कम होता है।"[1]

राजनैतिक सत्ता को इस प्रकार विकेन्द्रित करके छोटी-छोटी इकाइयो मे बाटने की बात पर केवल गाधीजी ही धुन नही देते है, पश्चिम के अधिकाश प्रगतिशील विचारक भी अब इसी नतीजे पर पहुच रहे है। प्लूरालिस्ट, गिल्ड सोशलिस्ट, सिंडिकलिस्ट और अनार्किस्ट सभी प्रजातत्र मे सत्ता के विभाजन को तो आवश्यक ही मानते है। वे चाहते है कि यह विभाजन काम के आधार पर हो। आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र मे अत्यधिक केन्द्रित सत्ता को सब बुरा मानते है। प्राध्यापक जोड कहते है, "यदि आप चाहते है कि सामाजिक कार्य मे जनता की श्रद्धा हो तो राज्य को विभाजित करके

---

१ 'हरिजन' २५-८-१९४०

उसके कामो का बटवारा करना ही होगा।" हर मनुष्य के लिए यह अनुकूलता होनी चाहिए कि अनेक छोटी-छोटी सस्थाओ से उसका सम्बन्ध रहे, जो उत्पादन, प्रशासन-सम्बन्धी विविध काम करती हो, उनमे काम करते हुए उसे एक बार फिर यह भान होने लगेगा कि वह निरर्थक नही है। उसका भी कुछ महत्व है और यह कि वह समाज के लिए सचमुच कुछ कर रहा है।" तो इसका अर्थ यह होगा कि सरकार के यन्त्र का आकार छोटा करना होगा। अच्छी प्रकार से उसे चलाया जा सके, इस हेतु से उसे स्थानीय रूप देना होगा। इससे अपनी राजनैतिक हलचलो का परिणाम लोग स्वय देख सकेगे और उन्हे विश्वास हो जायगा कि जहा स्वशासन काम करता है, समाज पर उसका प्रत्यक्ष असर पड़ता है, क्योकि समाज भी तो आखिर वे ही है।"[1] प्राध्यापक कौल कहते है, "लोकतन्त्र केन्द्रीकरण के विरुद्ध है, क्योकि वह एक भावना है, जो तुरन्त और वही प्रकट होना चाहती है। जब-जब भी समाज को अपनी इच्छा प्रकट करने की जरूरत महसूस हो, उसे इसका अवसर मिलना ही चाहिए। "उसे एक बडे प्रवाह के रूप मे एकत्र करने और मोडने का प्रयत्न करने से उसकी अपनी स्वाभाविक प्रेरणा मारी जाती है।"[2] अपनी पुस्तक 'फेबियन सोशलिज्म' मे प्राध्यापक कौल आगे लिखते है—"यदि हम चाहते है कि अधिक-से-अधिक स्त्री-पुरुषो मे राजनैतिक चेतना जागे, वे हर चीज को समझने लगे और कुछ करने भी लगे तो हमे उसे कार्यकर्ताओ—मजदूरो की छोटी-छोटी इकाइयो—मे बाट देना चाहिए।" प्राध्यापक आल्डस हक्सले लिखते है—"अच्छी समाज-व्यवस्था की ओर जाना है तो उसका मार्ग लोकतन्त्र और उत्तरदायी स्वशासन ही है।" सत्ता के केन्द्रीकरण का अर्थ है व्यक्ति की स्वतन्त्रता का कम किया जाना और जनता पर फौजी अनुशासन का अधिकाधिक लादा जाना। अबतक जहापर लोकतन्त्री शासन रहा है, वहा भी यह होने लगता है। हम कभी-कभी भूल जाते है कि आखिर लोकतन्त्र मनुष्य के लिए है, लोकतन्त्र के लिए मनुष्य नही। लोकतन्त्र तो एक साध्य का साधन-मात्र है। इसलिए मनुष्य समाज की सामाजिक और मानसिक

---

[1] 'माडर्न पॉलिटिकल थ्योरी', पृ० १२०-२१

[2] 'ए गाइड टु माडर्न पालिटिक्स', ५३२

आवश्यकताओ के अनुकूल उसे अपने अन्दर फेर-बदल करते रहना चाहिए। आधुनिक समाज-शास्त्र का यह सिद्धात है कि "छोटी-छोटी इकाइयो मे मनुष्य सबसे अधिक सुखी होता है।"[1] राय-ग्लेन्डे आगे लिखते है कि "यदि हम इस 'मानव-तत्त्व' की उपेक्षा करेगे और छोटे-छोटे शातिप्रिय सघ नही बनावेगे तो नये ससार की रचना करनेवाली हमारी तमाम बडी-बडी योजनाए चूर-चूर हो जायगी।" कार्ल मानहीम कहता है, "जहा सामाजिक स्नेह-बन्धन नही होते वहा मनुष्य जी ही नही सकता—जैसे कि आइस्टर कीडा बगैर सीप के नही जी सकता।" प्राध्यापक गिन्सबर्ग के शब्दो मे वर्ग-भावना मनुष्यो को निकट लाती है और उनमे पारस्परिक बन्धु-भाव निर्माण करती है। सच्चा लोकतन्त्र वही अच्छी तरह से काम कर सकता है, जहा इस प्रकार स्नेह की भावना और पारस्परिक वफादारी होती है। परन्तु आज के लोकतन्त्रो मे सत्ता का केन्द्रीकरण इतना बढ गया है कि वहा ये भावनाए पैदा हो ही नही सकती। इसीलिए तो प्राध्यापक ऐडम्स आधुनिक प्रतिनिधित्व राज्यो के दोषो का विश्लेषण करने के बाद हमे "बुराई की जड की तरफ ले जाते है" और कहते है कि "हमे साहस के साथ विकेन्द्रीकरण का अवलम्बन करके सत्ता को बाटना चाहिए।"[2] प्राध्यापक लॉस्की विकेन्द्रीकरण की सलाह इसलिए देते है कि जहा अत्यधिक केन्द्रीकरण होता है, "वहा नीचेवालो को केवल आज्ञापालन करना पडता है। और केवल आज्ञापालन के वातावरण मे स्वतन्त्र सर्जन हो ही नही सकता। वहा मनुष्य यन्त्रवत, निष्प्राण और जड बन जाता है, क्योकि केन्द्रीकरण मे तो टकसाली समानता होती है। वहा देश-काल का भान तो होगा नही।"[3] विख्यात समाज-शास्त्री लेविस ममफोर्ड की सिफारिश है कि "देहात मे छोटी-छोटी सतुलित इकाइया हो।" इन इकाइयो मे स्वशासन का अधिक-से-अधिक अवसर मिल सकता है। तब ये सच्चे और प्राणवान प्रजातन्त्र को लानेवाली प्रशिक्षण देनेवाली शालाए बन जाती है। नौकरशाही मनोवृत्ति को दूर करनेवाली ये रामबाण औषधिया होगी। स्थानीय

---

[1] 'दि फ्यूचर ऑव इकोनामिक सोसाइटी'—राय ग्लेंडे, पृ० २५१

[2] 'माडर्न स्टेट', पृ० २३५

[3] 'एन इन्ट्रोडक्शन टु पालिटिक्स', पृ० ५३

प्रश्नो की वहा सबको जानकारी होगी। इसलिए उनपर चर्चा करके उनके सही हल ढूढने मे बडी मदद मिल सकेगी। लार्ड ब्राइस कहते है, "प्रजातन्त्र का जन्म प्रारम्भ मे इन छोटे-छोटे समाजो मे ही हुआ। प्रजातन्त्र के साहित्यकारो और पैगम्बरो ने इसके सिद्धातो को यही से पाया। जनता की इच्छा का स्थानीय शासन पर किस प्रकार असर पडता है, इसका अध्ययन यही किया गया, क्योकि वहा जो-जो भी प्रश्न विचारार्थ पेश होते थे उन सबको वे जानते थे।"[1] गावो मे और छोटे-छोटे समाजो मे स्थानीय शासन के लाभो का वर्णन करते हुए डॉ० बेनीप्रसाद लिखते है

"स्वशासन की आदर्श इकाई वह छोटा-सा समाज होगा, जहा हर आदमी दूसरो को जानता है। जैसा कि अरस्तू ने कहा है, वहा सब एक-दूसरे के चरित्र से परिचित होते है। गावो मे या छोटे-छोटे कस्बो मे या ऐसे ही समाजो के स्वायत्त शासन मे सीधे प्रजातन्त्र के सब लाभ आपको दिखाई दे सकते है। वहा नागरिको मे आपको स्वदेश-प्रेम मिलेगा, जो आदमी को आपने स्वार्थ से ऊपर उठा देता है, उसमे सहयोग की आदते पैदा करता है और ऐसे करोडो लोगो को शासन-प्रबन्ध का प्रशिक्षण देता रहता है तथा जटिल सवालो के बारे मे विचार करके निर्णय करने की शक्ति प्रदान कर देता है। ऐसा अवसर उनको अन्यथा मिल ही नही सकता, क्योकि बडी-बडी प्रतिनिधि-सभाओ के सदस्य चुने जाने की या दूर की राजधानियो मे बडी नौकरी पाने की वे आशा ही नही कर सकते। कस्बो और जिलो की स्वायत्त शासन-सस्थाए केन्द्रीय धारा-सभाओ और शासन का काम काफी हलका कर देती है। आजकल के बडे-बडे राज्यो मे चुनाव-क्षेत्र बहुत बडे होते है। साधारण आदमी तो उनमे खो ही जाता है परन्तु यह छोटी-छोटी इकाइयोवाली पद्धति मनुष्य को खो जाने से बचा लेती है। ये चुनाव-क्षेत्र मनुष्य के दिल मे एक प्रकार का भय अथवा ऐसी तुच्छता का भाव पैदा कर देते है जैसा कि विशाल प्राकृतिक शक्तियो के सामने मनुष्य अनुभव करता है। इससे सारे समाज मे जो दैवाधीनता उत्पन्न हो जाती है, उसका ये स्वायत्त-सस्थाए बहुत अच्छा इलाज है।"[2]

---

[1] 'माडर्न डेमोक्रैसीज' भाग-२, पृ० ४८६

[2] 'दि डेमोक्रैटिक प्रोसेस', पृ० २४६--५०

यूनान के नगर-राज्य

यूरोप मे यूनान के नगर राज्यो मे पूरा स्वायत्त-शासन था। सपूर्ण राजनैतिक सत्ता नगर के नागरिको के हाथो मे थी। लॉर्ड ब्राइस लिखते है, "यह सस्था ससद, सरकार, धारा-सभा, न्यायदाता और देश मे शासन करनेवाली सबकुछ स्वय थी।" लोग नित्य एक-दूसरे के सपर्क मे आते रहते थे। इसलिए अलग से किसी सगठित राजनैतिक दल की जरूरत ही नही होती थी। फिर आज की भाति धुआधार चुनाव-प्रचार की भी जरूरत नही होती थी, क्योकि मतदाता इतने थोडे होते थे कि उनकी सभा मे एक आदमी की आवाज अच्छी तरह सुनी जा सकती थी और नेतृत्व या किसी अधिकारवाले पद के लिए जो भी उम्मीदवार होता उसके बारे मे अपनी निजी जानकारी के आधार पर लोग अनुकूल या प्रतिकूल राय दे सकते थे। ये नगर-राज्य छोटे-छोटे ही होते थे, क्योकि ऐसे राज्यो मे ही सार्वजनिक जीवन सम्भव था। प्लैटो की राय मे आदर्श राज्य वह था, जो व्यक्ति के शरीर से अधिक-से-अधिक समानता रखता हो। यदि शरीर के किसी अग मे दर्द है तो सारे शरीर को पीडा होती है। ऐसी आदर्श सह-अनुभूति छोटे समाज मे ही सभव है। यूनानियो के लिए तो नगर एक प्रकार का सह-जीवन था। जैसा कि अरस्तू कहता था, "उसका सविधान एक कानूनी रचना के बजाय प्रत्यक्ष एक जीवन-पद्धति थी।"

मेरा मतलब यह नही है कि यूनान के राज्य सब तरह से परिपूर्ण थे। उनमे भी कुछ कमिया जरूर थी। उदाहरण के लिए उनकी गुलाम-प्रथा को कौन अच्छी कहेगा? परन्तु हमे स्वीकार करना पडेगा कि उनका और खासतौर पर एथेन्स का मेल-जोलभरा और शान्त सह-जीवन सारे यूरोप के चितन और सस्कृति का महान शक्तिशाली उद्‌गम-स्थान बन गया। जैसा कि प्राध्यापक डेलाइसल बर्न्स कहते है, "एथेन्स का जीवन और स्वाधीनता बडे निर्माणकारी थे। उन्होने कितनी ही चीजो को जन्म दिया है। सच तो यह है कि एथेन्स का इतिहास कलाकारो, कवियो और तत्त्वज्ञानियो के जीवन का इतिहास रहा है। ऐसा किसी दूसरे नगर के बारे मे हम नही कह सकते। थोडे समय मे स्थापत्य-कला, मूर्ति-कला, नाटक और तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी

ऐसी कृतिया कोई भी जाति संसार को प्रदान नही कर सकी है।"[1]

भारत के ग्रामीण प्रजातन्त्र

औद्योगिक क्रान्ति से पहले यूरोप के वहुत-से देशो के गांवो मे स्वायत्त-शासन प्रचलित था। प्रिन्स क्रोपाटकिन ने अपनी 'म्यूचुअल एड' नामक पुस्तक मे इन ग्रामीण समाजो का काफी अच्छा वर्णन किया है। चीन और जापान भी इन विकेंद्रित ग्रामीण सस्थाओ के पुराने-से-पुराने घर रहे है, परन्तु स्वायत्त स्थानीय शासन की इस ग्रामीण सस्था का "विकास ससार मे सबसे पहले भारत ने ही किया और अधिक-से-अधिक समय तक उसने इसकी रक्षा भी की है।"[2]

सच तो यह है कि वैदिक काल से भारत मे गाव शासन की इकाई माने जाते रहे है। ग्राम के नेता को ग्रामणी कहा जाता था। इसका ऋग्वेद मे (१०. ६२ ११, १०७.५) उल्लेख है। जातको मे भी ग्राम-सभाओ का उल्लेख पाया जाता है। व्यापारियो के सघो को श्रेणी कहा जाता था। "वेदो के बाद के समय मे भी ग्राम राजनैतिक शासन की इकाई माना जाता रहा है। विष्णु पुराण और मनुस्मृति मे शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम ही मानी गई है।[3] धर्म-सूत्रो और धर्म-शास्त्रो मे भी गण और पूग का उल्लेख बार-बार आया है। ये दोनो शब्द क्रमश ग्राम-सभा और नगर सभाओ के पर्याय प्रतीत होते है। असख्य शिलालेखो, ताम्रपत्रो आदि के रूप मे पुरातत्व साहित्य मे भी स्थानीय स्वायत्त सस्था-प्रणाली के अस्तित्व के प्रमाण मिलते है।

भारत मे यह ग्राम-पचायतो की प्रथा हिन्दू शासन-काल, मुस्लिम शासन-काल और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आगमन से पूर्व पेशवाओ के काल तक पूरी तरह काम कर रही थी। राजवशो और साम्राज्यो के उत्थान-पतनो का उनपर कोई असर नही हुआ। इन छोटी-छोटी स्वशासित स्थानीय सस्थाओ ने उन दिनो मे कछुए की ढाल की भाति समाज की रक्षा की।

---

[1] 'पॉलिटिकल आइडियल्स', पृ० ४१

[2] 'दि इकनॉमिक हिस्टरी ऑव इण्डिया'—आर सी. दत्त

[3] 'कारपोरेट लाइफ इन एन्शियेन्ट इण्डिया'—आर सी मजूमदार, पृ० १४१

जब चारो तरफ राजनैतिक उथल-पुथल मचती और अस्थिरता छा जाती तब समाज इन सस्थाओ के सरक्षण मे अपनी राष्ट्रीय सस्कृति की रक्षा करता हुआ शान्ति से रह सकता था।[1] राजा इन पचायतो से केवल जमीन का लगान और राज्य-कर वसूल कर लिया करते और तमाम स्थानीय बातो के प्रबन्ध मे ये सस्थाए स्वतन्त्र होती थी। सर जार्ज बर्डवुड ने लिखा है—"भारत जितनी धार्मिक और राजनैतिक क्रान्तियो मे से गुजरा है उतना ससार का कोई देश नही गुजरा है। परन्तु इन सबके बीच ग्राम-पचायते अपनी पूरी शक्ति से काम करती रही है। जमीन के मार्ग से सीथियन, ग्रीक, सारसेन, अफगान, मुगल और मराठो ने आकर अपने राज्य यहा कायम किये। इसी प्रकार समुद्र के मार्ग से पुर्तगीज, डच, अगरेज, फ्रासीसी और डेन एक के बाद एक आये और उन्होने भी अपने राज यहा कायम किये। परन्तु इनके आने-जाने का इन पचायतो के कार्य पर कोई असर नही हुआ। समुद्र मे आनेवाले ज्वार-भाटे से अप्रभावित चट्टानो की तरह वे अविचलित रही।"[2]

परन्तु विधि की इच्छा कुछ और ही थी। ईस्ट इडिया कम्पनी के अति और विवेकशून्य लालच ने इन ग्राम-पचायतो को धीरे-धीरे तोड दिया। पूरे गावो से इकट्ठा लगान लेने के स्थान पर उसने रैयतवारी—हर किसान से लगान लेने की पद्धति—विचारपूर्वक जारी कर दी। पचायत-प्रथा पर यह वज्राघात था। इसके साथ-साथ न्यायदान और शासन-प्रबन्ध से सम्बन्धित सारे अधिकार भी पचायतो से छीन लिये गए। फलत पचायते पूरी तरह निष्प्राण कर दी गई।

सर हेनरी मेन ने अपनी पुस्तक 'विलेज कम्यूनिटीज इन दि ईस्ट ऐंड दि वेस्ट' मे लिखा है—"भारत की ग्राम-पचायते मृत नही, जीवित सस्थाए थी।" बेडन पॉवेल ने 'इडियन विलेज कम्यूनिटी' मे इनका विस्तृत विवरण दिया है। प्राध्यापक अलतेकर ने 'हिस्ट्री ऑव विलेज कम्यूनिटीज इन वेस्टर्न इडिया' पुस्तक मे हमारी पचायतो की कार्यपद्धति का कीमती विवरण है। परन्तु इस विषय का सबसे उत्तम ग्रन्थ तो डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी

[1] 'लोकल गवर्मेंट इन एन्शियेन्ट इण्डिया'—राधाकुमुद मुकर्जी, पृ० १०
[2] 'इण्डस्ट्रियल आर्ट्स ऑव इण्डिया', पृ० ३२०

का 'डेमोक्रैसीज ऑव दि ईस्ट' कहा जायगा।

भारत के इन ग्रामीण गणतन्त्रो के सगठन का सविस्तर वर्णन करना इस पुस्तक में सम्भव नही। मै तो केवल इतना ही कहूगा कि स्वायत्त शासन की इस ग्रामीण सस्था का विनाश ब्रिटिश शासन के बुरे-से-बुरे कामो मे से एक है। अगरेजो ने यहा अपने ढग का स्वायत्त शासन स्थापित करने का यत्न जरूर किया है, परन्तु वह चीज विदेशी है,भारतीय नही। इसी कारण वह बुरी तरह असफल रही। जैसा कि डॉ० ऐनी बेसेन्ट ने लिखा है, "अधिकारी पुराने नामो को रहने देते है, परन्तु पुरानी पचायतो[1] का चुनाव तो स्वयं गावो के गृहस्थ करते थे और पचायते गाव की जनता के प्रति जिम्मेदार थी। परन्तु इन नई पचायतो के पच तो सरकारी अधिकारियो के प्रति जिम्मेदार होते है। पहले की तरह लोगो के प्रति नही। अब तो इन अफसरों को खुश रखना इनके लिए अधिक लाभदायक होता है।[2]

हम मानते है कि प्राचीन ग्राम-पचायते एकदम निर्दोष नही थी, फिर भी स्वायत्त शासन और सच्चे प्रजातन्त्र की दिशा मे वह एक अनूठा प्रयोग था। आजकल जो एक ही स्थान पर सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीकरण हो गया है, उसके कारण नीचे सामाजिक जीवन नाम की वस्तु ही नही रह गई है और इससे वहा का राजनैतिक जीवन निष्फल और यन्त्रवत जड बन गया है। फिर व्यक्ति और समाज अथवा राज्य के हित कदम-पर-कदम टकराने लग गये है। लेकिन भारत की पचायत-पद्धति मे इन परस्पर-विरोधी हितो मे सफलतापूर्वक समरसता प्रदान कर दी गई और स्थानीय सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन को मानवीय और निर्माणकारी बना दिया गया। जैसाकि आचार्य विनोबा भावे ने लिखा है, "इन ग्राम-सभाओ मे हर आदमी अपने मन का राजा था और फिर भी अपने अन्य ग्राम-भाइयो के साथ वह अटूट बन्धन मे बधा हुआ था।"[3] इसमे जहा हर व्यक्ति को अपना पूरा विकास करने की स्वतन्त्रता थी वहा वह इस छोटे-से राज्य का

---

[1] 'दि पालिटिकल इन्स्टिट्यूशन्स एण्ड थ्योरीज ऑव दि हिंदूज' में डा० बी. के. सरकार ने लिखा है कि मध्ययुग में ग्राम-सभाओं को 'पचायतें' कहा जाता था।

[2] 'इण्डिया : बॉण्ड और फ्री' पृ० २९

[3] 'स्वराज्य-शास्त्र' (हिंदी), पृ० ४७

एक जिम्मेदार और उपयोगी सदस्य भी होता था। ग्राम-पचायतो मे राजनैतिक सत्ता का जो विकेन्द्रीकरण होता था, वह स्वभावत पश्चिम के विकेन्द्रीकरण और सत्ता के विभाजन से बिल्कुल दूसरी प्रकार का था। भारतीय विकेन्द्रीकरण मे काम का तथा प्रदेश की बात का भी ख्याल होता था, जिससे समाज मे सन्तोष और राजनैतिक जीवन मे प्रेरणा बनी रहती थी।

भारत की प्राचीन ग्राम-पचायते उन बहुत-से दोषो से भी मुक्त होती थी, जो आधुनिक प्रजातन्त्री सरकारो मे पाये जाते है। आर्थिक प्रश्न पैदा ही नही हो पाया था। इसलिए रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार के लिए वहा लगभग कोई गुजाइश नही थी। सगठित और आक्रामक पूजीवाद भी पैदा नही हुआ था, इसलिए इस लोकतन्त्र के उसका गुलाम बन जाने का खतरा भी पैदा नही हुआ था। चुनाव-क्षेत्र छोटे-छोटे थे। इसलिए चुनाव प्राय सर्व-सम्मति से और बडी स्वाभाविकता से हो जाते थे। गाव के जिन बडे-बूढो के प्रति सबके हृदय मे आदर होता, वे बिना किसी परेशानी के बडी आसानी से चुन लिये जाते थे और प्रचार मे एक पाई भी खर्च करने की जरूरत नही होती थी। विकेन्द्रीकरण अत्यत व्यापक होने के कारण और शासन स्थानीय होने के कारण ग्राम-सभाओ मे काम की भीड भी अधिक नही होती थी। इस प्रकार भारत की वह प्रजातन्त्री पद्धति, प्रत्यक्ष कार्यक्रम, भावात्मक, सफल और अहिंसक थी, जबकि आधुनिक लोकतन्त्र अधिकाश मे अप्रत्यक्ष, प्रेरणाहीन, अभावात्मक, निष्फल और हिंसक है। इसलिए यह उचित होगा कि हम अपनी देशी सस्थाओ को ही पुनर्जीवित करे और उन्ही-को स्वराज्य की शासन-पद्धति का आधार बनावे। डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने ठीक ही कहा है कि पश्चिम की राजनैतिक पद्धतियो की नकल करने की अपेक्षा भारतीय पद्धति का विकेन्द्रित लोकतन्त्र न केवल हमारे लिए अधिक अनुकूल और जीवनदायी सिद्ध होगा, बल्कि वह मानव-जाति के इतिहास मे एक मूल्यवान देन होगी, जो आज पश्चिम की आक्रामक सत्ताओ के और बडे-बडे साम्राज्यो की विचित्र और उलझन-भरी हरकतो से परेशान है।" डॉ० मुकर्जी आगे लिखते है

"भारतीय पद्धति समाज के लिए एक नये प्रकार के राजनैतिक यन्त्र का

आधार बन जायगी, जो विभिन्न स्थानीय कार्यकारी दलो से अपना मेल बैठा लेगी और फिर वर्तमान ससद-पद्धति अथवा रोमानो-ट्यूटॉनिक शासन-पद्धति की अपेक्षा अधिक सतोष-जनक शासन-यन्त्र ससार को प्रदान कर सकेगी। यह सामाजिक और राजनैतिक प्रयोगो का युग है। अत पूर्वी एशिया की जातीय और समन्वयात्मक सहज बुद्धि के आधार पर की गई रचना इस युग के इन प्रयोगो के लिए सचमुच बडी समृद्ध और मूल्यवान सामग्री प्रदान करेगी। आवश्यकता इस बात की है कि एशियावासियो का यह वर्तमान बौद्धिक और नैतिक प्रयास मात्र जारी रहे। आज तो यन्त्र के समान जड़ और शोषण करनेवाले शासनतन्त्र के सस्थागत नियमो मे मानवता बदी पडी हुई है। आज सबसे अधिक जरूरत इस बात की है कि किसी नये सिद्धान्त के आधार पर शासन-विधान बनाये जाय, जिससे मनुष्य और उसके सम्बन्धो को नये स्वाभाविक और लचीले दलो की तरफ मोडा जाय ताकि वह अपनी बुद्धि और गुणो को अधिक मुक्त रूप से प्रकट कर सके।[1]

विकेन्द्रीकरण का अर्थशास्त्र

ग्रामीण समाजवाद मे बहुत लाभ है, परन्तु देश को छोटे-छोटे विकेन्द्रित सहकारी मडलो मे सगठित करने मे भी सम्पत्ति के समान-वितरण मे बडी मदद मिल सकती है। आज का पूजीवादी समाज, जिसके अन्दर उत्पादन के साधन पूजीपतियो के हाथ मे रहते है, ससार मे स्थायी शान्ति और समृद्धि लाने मे असफल सिद्ध हुआ है। दूसरी तरफ समाजवाद ने पूजीपतियो को बड़ी निर्ममता के साथ उखाड़ फेंका है। रूस के साम्यवाद ने उत्पादन के साधनों पर अधिकार करके अपनी जनता के रहन-सहन का स्तर जरूर ऊपर उठा दिया है, परन्तु वह भी कोई निर्दोष वरदान नही है। उसने सयोजन के जो महान यन्त्र खडे कर दिये हैं, उनके कारण वहा साधारण मानव या तो खो गया है या यन्त्रवत् जड बन गया है। इसके अतिरिक्त रूस ने भी आस-पास के देशो मे अपने पैर फैलाना शुरू कर दिया है। उसका उद्देश्य शायद ऊचा भी हो, परन्तु अतर्राष्ट्रीय राजनीति मे सोवियन रूस की कार्रवाइयो को देखकर हम निश्चिन्त नहीं रह सकते। साम्राज्यवाद

---

१ 'रैमोर्क्स ऑन आव दि ईस्ट', पृ० २५-२६

चाहे पूजीवादी देशो का हो या रूस का, हम उसे अच्छा नही मानते। बडे पैमाने पर सपत्ति का राष्ट्रीयकरण हो और साथ ही वहा सत्ता का केन्द्रीकरण हो, उसके आक्रमणकारी और साम्राज्यवादी वनने की बडी सभावना रहती है। उससे हम न्याय पर आधारित नई समाज-रचना की आगा नही कर सकते, जिसके अन्दर छोटे-बडे सभी देशो को शान्ति, स्वतत्रता, कल्याण का आश्वासन मिल सकता हो।

तो फिर उपाय क्या है ? विकेन्द्रित ग्रामोद्योगोवाली पद्धति ही एकमात्र रास्ता वता सकती है। भारत की ग्रामीण व्यवस्था मे एक सतुलित अर्थ-रचना का विकास हो गया था, जिसमे स्वतन्त्र व्यापार और पूरी तरह नियन्त्रित व्यापार इन दोनो छोरो को छोडकर एक मध्यम मार्ग को ग्रहण किया गया था। अनेक प्रयोगो के बाद पूजीवाद और साम्यवाद के बीच यह सुनहरा रास्ता उन्होने ढूढ निकाला था। खेती के क्षेत्र मे भी उन्होने एक ऐसी आदर्श सहकारी पद्धति ढूढ निकाली थी, जिसके अन्दर अमीरो द्वारा गरीवो के शोषण की शायद ही कोई गुजाइश रह जाती हो। जैसा कि गाधीजी कहा करते थे, उस पद्धति मे उत्पादन, वितरण और उपयोग सब साथ-साथ होते थे। कारीगरो के घरो मे या घरो के समान ही छोटे-छोटे कारखानो मे स्थानीय और तात्कालिक उपभोग के लिए ही चीजे वनाई जाती थी, दूर के बाजारो के लिए नही। इस प्रकार उत्पादन जव छोटे पैमाने पर और स्थानीय लोगो की जरूरते पूरी करने के लिए स्वावलम्वन की पद्धति पर ही किया जाता था तव स्वभावत पूजीपतियो को शोषण का मौका ही नही मिल पाता था। इससे अपने-आप एक प्रकार से आर्थिक समानता पैदा हो जाती थी। न किसीकी स्वतन्त्रता का अपहरण होता था और न किसीको दूसरे पर हावी होने का मौका मिलता था। इसलिए कहना होगा कि आज ससार मे गाधीजी को आदर्श के अनुसार गृहोद्योगो को पूजीवादी तरीको पर नही, सहकारिता के आधार पर सगठित करने की जरूरत है। यदि जापान की भाति कुछ पूजीपतियो को गृहोद्योगो के सगठन-सचालन का काम दे दिया जायगा तो कारीगरो का शोषण होता ही रहेगा। वे केवल मजदूर वने रहेगे।

पुराने ग्रामीण समाजो मे अपने कुछ दोप भी थे। उदाहरण के लिए

जात-पात की प्रथा बडी कठोर और दुखदायी थी। उन भेद-भावो मे कोई समझ की बात नही थी। तब कुछ धनपति सेठ भी होते ही थे। इन समाजों के बीच आर्थिक या राजनैतिक सम्बन्धो की बडी कमी थी। आज के स्तर को देखते हुए शायद उनका रहन-सहन भी अच्छा नही था। फिर भी ये ग्रामीण गणतन्त्र बहुत गहरे चिन्तन और अनुभव के आधार पर बनाये गए थे और इनमे ऐसी आर्थिक व्यवस्था के सिद्धान्त भरे पडे है कि यदि आज हम भी उनसे लाभ उठाना चाहे तो अनेक बुराइयो से हमे छुट्टी मिल सकती है, जो आज हमे दिन-रात परेशान करती रहती है।

आज यन्त्रो ने मनुष्य को नगण्य कर दिया है। दिन-रात भीमकाय और शोर मचानेवाले यन्त्रो के साथ कारखानो मे काम करते-करते वह अपने-आपको भूल ही जाता है कि मै भी कुछ हू। इसके विपरीत छोटे-छोटे घरो में रखने लायक और कारीगरो तथा किसानो के बोझ को हलका करने-वाले यन्त्र हो तो गाधीजी उनका जरूर स्वागत करेगे। रोजी देने की दृष्टि से भी गृहोद्योगो का विस्तार बहुत लाभदायक होगा। आज पश्चिमी देशो मे भी सयोजन का सबसे नया नारा है—सबको पूरा काम। क्या बड़े यन्त्रो-वाले कारखानो की सहायता से उत्पादन करने से हम अपने सब नागरिकों को पूरा काम दे सकते है? अमरीका और इग्लैंड मे यन्त्रो का ही राज्य है। परन्तु वे भी अपने सब नागरिको को आज पूरा काम नही दे पा रहे है। वहा लाखो—शायद करोडो आज भी बेकार है। तब चालीस करोड की आबादीवाले इस देश मे हम और अधिक मिले और कारखाने खड़े करके कैसे अपनी आबादी को पूरा काम दे सकेगे? आज देश के बडे-बडे और भारी उत्पादन करनेवाले तमाम कारखानो और मिलो मे मिलकर हम मुश्किल से बीस लाख आदमियो को काम दे पाते है। बम्बई योजनावालों की सिफारिशो के अनुसार यदि इन कारखानो की सख्या बढाकर पाच-गुनी कर दी जाय तो भी हम अधिक-से-अधिक एक करोड आदमियो को काम दे सकेगे। परन्तु जो शेष बचेगे उनका क्या होगा? आज तो भारत के किसान के पास भी पूरा काम नही है। अपनी आय को बढाने के लिए उसे स्वय किसी सहायक उद्योग की जरूरत है। इसलिए हमारे देश की वर्तमान स्थिति मे सही उपाय ग्रामोद्योग का अधिक-से-अधिक व्यापक

प्रचार ही है। उत्पादन को एक ही जगह केन्द्रित करने के बजाय देश के असख्य गावो मे उसे फैलाकर सुसगठित कर दिया जाय। हा, आधुनिक आर्थिक सयोजन मे कुछ खास-खास और महत्वपूर्ण बडे उद्योग भले ही बने रहे, परन्तु गाधीजी की यह निश्चित राय रही है कि ऐसे कारखाने सरकार के ही हो और सरकार ही उनको चलाये।

हमे यह आशका नही होनी चाहिए कि ये ग्रामीण उद्योग आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नही होगे। हेनरी फोर्ड इस युग के सबसे बडे उद्योग-पतियो मे से एक रहे है। उनकी राय है कि "आम तौर पर बडे यन्त्र लाभ-दायक नही होते।"[1] इसलिए उत्पादन को केन्द्रित करना कोई बुद्धिमानी की बात नही है। फोर्ड का कहना है कि "जिस चीज का उपयोग सारे देश मे होता है, उसे सारे देश मे बनाया जाना चाहिए। इससे परिवहन का खर्चा बचेगा और सारे देश के लोगो की खरीदने की शक्ति समान रूप से बढेगी।" फोर्ड का अब अगला आदर्श "सम्पूर्ण विकेन्द्रीकरण ही है। इसमे यन्त्र छोटे-छोटे होगे और उन्हे ऐसे स्थानो पर रखा जायगा कि उनपर किसान और उद्योगपति दोनो साथ-साथ काम कर सकेगे। इससे कर्मचारी न केवल अधिक आजादी का अनुभव करेगे, बल्कि अनाज और यन्त्रो का बना सामान भी अधिक सस्ता हो सकेगा।"[2] लेविस ममफोर्ड की भी राय यही है कि भिन्न-भिन्न चीजो का उत्पादन करनेवाले छोटे-छोटे सीधे-सादे यन्त्र बडे यन्त्रो की अपेक्षा अधिक लाभदायक होते है।[3]

पूजीवादी समाज बडे पैमाने पर केन्द्रित उत्पादन का ही पक्षपाती है। परन्तु उसने ससार को दो महासहारक महायुद्धो मे ढकेला है। इन युद्धो मे धन-जन का जो नाश हुआ है,क्या यह केन्द्रित उत्पादन के सिर नही मढा जाना चाहिए ? अगर इस व्यावहारिक ढग से सोचे तो यान्त्रिक उत्पादन सचमुच बडा महगा साबित होगा।

---

[1] 'टुडे ऐंड टुमॉरो', पृ० १०९

[2] 'मूविग फार्वर्ड', पृ १५७

[3] 'कल्चर ऑव सिटीज', पृ० ३४२

विकेन्द्रीकरण का तत्व-ज्ञान

एक बात और भी हमें समझ लेनी चाहिए। केवल आर्थिक और राजनैतिक लाभो के कारण ही गाधीजी विकेन्द्रीकरण की सलाह नही दे रहे है। विकेन्द्रीकरण मे जो सादे जीवन और उच्च विचार का आदर्श है, असल मे वह गाधीजी को बहुत प्रिय है। विख्यात विज्ञान-शास्त्री आइन्स्टीन की भी यही राय है कि "परिग्रह, बाह्य सफलता, प्रसिद्धि और ऐश मेरे लिए हमेशा तिरस्कार की वस्तुए रही है। मै तो मानता हू कि दम्भ-रहित सीधा-सादा जीवन ही हर आदमी के लिए—उसके शरीर और मन के लिए भी—उत्तम होता है।"[1]

परन्तु सादगी का अर्थ स्वेच्छापूर्ण गरीबी और सदा लगोटी लगाये रहना नही है। जरूरते और कम-से-कम आवश्यक सुख के साधनो के बारे मे गाधीजी का माप काफी ऊचा है, परन्तु उनके 'सुखी जीवन' मे ऐश के लिए कोई स्थान नही है। रहन-सहन के स्तर को नही, स्वय जीवन को ऊचा बनाने की उन्हे चिन्ता सदा रही है।

सादगी के आदर्श के साथ-ही-साथ मानवी मूल्यो का प्रश्न जुडा हुआ है, जो धातु के टुकडोवाले बाजारू मूल्यो से बिल्कुल भिन्न वस्तु है। गाधीजी के लिए तो मानव ही सबसे प्रमुख है, प्रोटोगोरस के शब्दों मे "वही सब चीजो का मापदण्ड है।" मुद्रा की अर्थ-व्यवस्था के स्थान पर वह "जीवन की अर्थ-व्यवस्था' के समर्थक है। सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण के इस मानवी पहलू पर खादी और ग्रामोद्योग की हलचल मे खास तौर पर जोर दिया गया है। "खादी-भावना का अर्थ है ससार के प्रत्येक मानव के साथ सहानुभूति।"[2] आज के व्यवसायी के लिए तो सबसे बडा भगवान पैसा है। परन्तु गाधीजी के लिए आत्मा की कीमत देकर अखिल विश्व का वैभव भी हेय है।

गाधीजी के विकेन्द्रीकरण के तत्व-ज्ञान मे दूसरी मौलिक बात है शरीर-श्रम की पवित्रता। "सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात तो यह है कि करोडों

---

[1] 'आई विलीव', पृ० ७०

[2] 'यग इण्डिया' १७-२-१९२७

लोगो ने हाथो से काम लेना ही छोड दिया है।"[1] गाधीजी के विचार मे तो श्रम ही जीवन है। वह अभिशाप नही, वरदान है।

आदमी थोडा भी विचार करेगा तो ज्ञात हो जायगा कि सादगी, मानवी मूल्य और श्रम की पवित्रता के आदर्शों की जड मे अहिसा है, जो गाधी-विचार का मूलाधार है। वह लिखते है—"जब अहिसा पर आधारित जीवन का चित्र मैं अपनी आखो के सामने खीचने लगा तो मैने देखा कि वह सादा-से-सादा हो—बेशक जहातक कि वह मनुष्यता को शोभा दे और उच्च विचारो के अनुकूल हो। अहिसा पर आधारित जीवन समाज की तो छोटी-छोटी इकाइयो या गावो मे ही सम्भव है, जहा लोग प्रेम से एक-दूसरे के साथ स्वेच्छापूर्वक सहयोग करते है और शान्ति तथा गौरव से रहते है। अहिंसा पर आधारित सभ्यता की ओर जाने का सबसे सीधा रास्ता है भारत की ग्राम-पचायते, जो अभी-अभी तक यहा काम कर रही थी। मै स्वीकार करता हू कि वे एकदम निर्दोष नही थी। मै यह भी जानता हू कि मैं जिस अहिंसा की बात करता हू और जो मेरी कल्पना मे है वह भी उनमे नही थी, परन्तु इसके बीज उसमे जरूर थे।"[2] इसलिए गाधीजो बडे जोर के साथ 'ग्राम-प्रधान' सभ्यता का समर्थन करते है। "मेरी कल्पना की ग्राम-व्यवस्था मे शोषण है ही नही और शोषण ही तो हिंसा की जड है।"[3]

गाधीजी अहिंसा को ससार की सबसे बडी शक्ति मानते है। जीवन का वह सर्वोच्च धर्म है। "गुरुत्वाकर्षण का नियम जिस प्रकार पृथ्वी को अपने मार्ग पर स्थिर रख रहा है, उसी प्रकार सामाजिक जीवन का आधार यह अहिंसा धर्म है।"[4] अथवा जैसे कि टी० एच० ग्रीन ने कहा है—"राज्य का आधार बल नही, सकल्प है।"[5] पिछले दो महायुद्धो ने पूरी तरह सिद्ध कर दिया कि मानव-जाति का उद्धार हिंसा के मार्ग से कदापि नही हो

[1] 'यग इण्डिया', २२-९-१९२७

[2] 'हरिजन', १३-१-१९४०

[3] 'हरिजन', ४-११-१९३९

[4] 'हरिजन', ११-२-१९३९

[5] 'प्रिसिपिल्स ऑव पॉलिटिकल आरगेनाइजेशन'

सकता और जैसा कि राष्ट्रपति ट्रूमन ने कहा था कि अब यदि कही और एक महायुद्ध हुआ तो मानव-जाति नही बचेगी। विज्ञान ने जो अद्‌भुत प्रगति की है, उसने इस बात को आइने की तरफ साफ बता दिया है। आज ससार को हिसा और अहिसा के बीच नही, बल्कि हिसा और विज्ञान के बीच चुनाव करना है। हम दोनो को लेकर नही चल सकते। इसका ज्वलन्त प्रमाण है एटम बम। हिसा और विज्ञान साथ-साथ चलते रहे तो उसका परिणाम क्या हो सकता है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह एटम बम है। कहा जाता है कि अमरीका ने एक और किस्म के बम का आविष्कार किया है, जिसके मुकाबले मे यह एटम बम निरी आतिशबाजी का-सा खेल होगा। इसलिए सभ्यता और मानवता के लिए अब हमारे सामने सिवा इसके कोई चारा नही रह गया है कि हिसा की नीति को पूरी तरह से छोड दिया जाय। एटम बम के द्वारा ससार का विनाश करने के बजाय हमे एक छोटे-से-छोटे कण मे सम्पूर्ण विश्व का दर्शन करने की कला सीख लेनी होगी। यदि हम ऐसी कला प्राप्त नही करेगे तो ससार का विनाश निश्चित है।

सामाजिक पहलू

सामाजिक दृष्टिकोण से देखे तो भी विकेन्द्रित ग्रामीण समाज-व्यवस्था की तरफ ही हम पहुचते है। आधुनिक शहरो के घनी जनसख्यावाले जीवन की अपेक्षा ग्रामो का खुला जीवन राष्ट्रीय स्वास्थ्य और स्वच्छता की दृष्टि से बडा जरूरी है। शहरो मे बडी गडबडी और शोर होता है। भले ही धीरे-धीरे, परन्तु मनुष्य की स्नायु-प्रणाली पर उसका विपरीत असर जरूर पडता है, जो शरीर और मस्तिष्क दोनो के लिए ही बडा हानिकर होता है। हमारा शहरी जीवन इन दिनो यत्रों के कारण बड़ा निरानन्द और जड बन गया है। इसमें आनन्द और चैतन्य तभी आ सकेगा जब सब मनुष्यो को खुले खेतो और घरो मे रक्खे हुए यन्त्रो पर स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने का अर्थात् ग्रामीण जीवन का लाभ मिलेगा।

राष्ट्र के स्वास्थ्य की दृष्टि के अलावा 'गावो को लौटो' आन्दोलन जीव-जगत मे मनुष्य-जाति को जिन्दा रखने की दृष्टि से भी आवश्यक है। पश्चिम के अनेक औद्योगिक देशों मे पाया गया है कि पिछले कुछ दशकों

मे वहा की आवादी बरावर घटती जा रही है। माल्थस को ससार की आबादी के वहुत अधिक वड जाने का भय था, परन्तु आधुनिक प्राणि-शास्त्रज्ञो को यह चिन्ता सता रही है कि ससार की आबादी कम और उत्तरोत्तर कमजोर भी होती जा रही है। समाज-विज्ञान यह तो वताता ही है कि गावो की अपेक्षा शहरो के लोगो की प्रजनन-शक्ति कम होती है। गावो मे वच्चे ऐसी परिस्थितियो मे बडे होते है कि जहा प्राणियो और पौधो मे प्रजोत्पत्ति होती रहती है। वे जानते है कि यह सृष्टि का नियम ही है और नगर-जीवन केवल पूजीवादी समाज की ही विशेषता नही है। समाजवादी राज्यो को भी, मनुष्य-जाति कैसे जिन्दा रखे, इस समस्या का मुकावला करना ही पडेगा।

ग्रामीण जीवन मे सामाजिक सुरक्षा और शान्ति भी होती है। पुराने जमाने मे गावो के लोग अपने आपको एक विशाल परिवार के रूप मे मानते थे। एक व्यक्ति की मुसीबत सारे गाव की मुसीबत मानी जाती थी। यदि किसीके यहा चोरी होती तो शेष समाज उसकी पूर्ति कर दिया करता। किसीका मकान जल जाता तो गाव के लोग, जिसके पास मकान की जो सामग्री होती वह उसे देकर उसका मकान खडा कर देते। यदि किसी परिवार का मुखिया एकाएक मर जाता तो उसके वच्चो के पालन का भार सारा गाव उठा लेता। जनम-मरण की खुशी और दु ख मे सारा गाव शामिल होता। समाज मे श्रम-विभाजन और पेशो की व्यवस्था इतनी अच्छी थी कि कोई वेकार नही रह पाता था। यह सच है कि आपस मे ईर्ष्या-द्वेष और छोटे-मोटे झगडे भी होते रहते थे, परन्तु उसका अर्थ यही था कि गाव की शान्ति श्मशान की शान्ति नही थी। वह भी जीवन की एक स्वाभाविकता थी।

जीवन का आनन्द

गावो की ओर लौट जाने से जीवन मे आनन्द भी फिर लौट आयगा। अपनी पुस्तक 'कॉरपोरेट लाइफ इन एन्शियेट इडिया' मे डॉ० मजूमदार ने अत्यन्त प्राचीन काल मे भारत के गावो मे मनोरजन के साधनो का उल्लेख किया है। वैदिक काल मे मनोरजन-मण्डलिया होती थी, जिनको लोग वाद

मे 'गोष्ठी' कहने लगे थे। दिन-भर कठिन परिश्रम करने के बाद शाम को लोग किसी जगह एकत्र होते और सगीत, नृत्य, कहानियो, विविध-चर्चाओ और नये-नये स्थानीय समाचार सुनाकर अपना दिल बहलाया करते थे। मौर्य-काल मे त्योहारो और उत्सवो के प्रसगो पर सगीत-समारोह वगैरा किये जाते। जीवन के दूसरे पहलुओ की भाति इनमे भी गावो के लोग भाईचारा और सहकारिता की वृत्ति से प्रेरित होते थे। इनमे भाग न लेना एक प्रकार से पाप-सा समझा जाता था। ये प्राचीन परम्पराए गावो मे आज भी जारी है। आज भी गावो मे मेले लगते है। उनके अपने नाच, नाटक, दगल, भजन-कीर्तन होते ही रहते है और इस प्रकार वे अपने जीवन को आनन्दमय बना लिया करते है।

इस प्रकार गावो मे कठोर परिश्रम और ईमानदारी की कमाई के साथ-साथ मनोरजन के साधन भी सीधे-सादे होते थे। इसके विपरीत बडे-बड़े शहरों मे ग्रामोफोन, सिनेमा और रेडियो जैसे मनोरजन के निर्जीव और यान्त्रिक साधन होते है। यहा काम मे सजीव स्वतन्त्रता भी नही होती। मजदूर को यत्र की गति के साथ काम करना होता है। वह भी यत्र के समान जड़ तथा निष्प्राण बन जाता है। जीवन मे कोई आनन्द नही होता। काम से छुट्टी मिली और मनोरजन करना चाहा तो वहा भी वही निर्जीव शोर और हलचले। इस प्रकार उसका दिल भी यत्र की तरह जड बन जाता है। विचारो मे कोई नवीनता नही आ पाती। वह जीवन का प्याला आकण्ठ पीना चाहता है, परन्तु मिलता है उसे मृत्यु का पान।

कला और सौन्दर्य

आजकल के शहरी अपनी कला और सौन्दर्य पर गर्व करते है, परन्तु उनका जीवन बनावटी और उनकी सभ्यता गमलो की सभ्यता है। उनकी कला टकसाली और छापेखानो की यान्त्रिक कला होती है। उसमे न जान होती है, न गहराई। धन-कुबेरो के राज मे कला और सौन्दर्य भी चादी के टुकडो पर आके जाते है। वहा मोरमुकुट के सौन्दर्य को कौन जाने। सीधे-सादे सौन्दर्य की दृष्टि से उन गगनचुम्बी भवनो मे, जिनपर आज के शहर गर्व करते है, कोई आकर्षण नही होता। वे निरे कबूतर-खाने है। गावो

के लोग खुले मैदानो और स्वास्थ्यप्रद मकानो मे रहते है। मैं उन अधेरे और पुराने खण्डहरो जैसे मकानो की बात नही कर रहा हू, जो प्राचीन वैभव के केवल अवशेष है। ग्रामीण तो प्रकृति की प्रत्यक्ष गोद मे रहते है। गावो के कारीगर समाज की प्रत्यक्ष जरूरतो के लिए काम करते है, जो कि एक महान नैतिक सिद्धान्त है। इसलिए अपने काम मे उन्हे आनन्द भी आता है। "नतीजा यह होता है कि वे अच्छी और सुन्दर चीजे वना लेते है। काम करते-करते वे गाते है।"[1] स्त्रिया भी भोर मे चक्की पर पीसते हुए गाती है। सिर पर घडे रखकर जव वे कुए पर पानी भरने जाती है तो सहेलियो के साथ अक्सर नाचने भी लग जाती है। दीवारो पर अपनी ग्रामीण कलम और रगो से जो चित्र वनाती है, उनमे कितना सौन्दर्य होता है। उनके गीतो और कविताओ मे कितना जीवन और बल होता है। उनके नाचो और नाटको मे जो वास्तविकता होती है, उनकी वनाई चीजो मे जो विविधता और अप्रतिम सौन्दर्य होता है, वह तथाकथित सभ्यो के साहित्य और काव्यो मे कही ढूढने पर भी नही मिल सकता।

भारत जैसे प्राचीन देश मे कला और सस्कृति अरण्यो, झोपडो और गावो से शहरो मे फैली है। सपूर्ण चिन्तन और भावनाओ का स्रोत ऋषियो के अन्त करण रहे है, जो ग्रामीण वातावरण मे रहते थे। रामायण और महाभारत जैसे महान ग्रन्थ विश्व-विद्यालयो के प्राध्यापको अथवा पण्डितो ने नही लिखे हे। अजन्ता के भित्ति-चित्रो जैसी अमर कला-कृतिया कला-भवनो के आचार्यो या सचालको की वनाई हुई नही है। सर्जन से उन्हे इतना गहरा और सच्चा प्रेम था कि इन सन्त कलाकारो ने भावी सतति की जानकारी के लिए अपने नामो तक का कोई चिह्न उनमे नही छोडा है। 'कला कला के लिए' और 'कला जीवन के लिए' इस प्रकार की सूक्ष्म चर्चाओ मे भी वे नही उलझे। उनके लिए तो स्वय जीवन ही सवसे वडी कला थी।

राष्ट्र की सुरक्षा

विकेन्द्रीकरण तथा ग्रामीकरण विदेशी आक्रमणो से देश की सफलतापूर्वक रक्षा के लिए भी वहुत जरूरी है। वही आधुनिक युद्धो का जवाव है।

केन्द्रित उद्योग तो हवाई हमलो के लिए बडे आसान निशान बन जाते है। थोडे-से बम सारे राष्ट्रीय जीवन को अस्त-व्यस्त कर सकते है। इस प्रकार एक देश, जिसके बडे-बडे उद्योग गिनती के खास-खास शहरो मे बटे हुए होते है, युद्ध की दृष्टि से बडा असुरक्षित रहता है। चीन, जो जापान के आक्रमणो का वर्षो तक मुकाबला कर सका, इसका मुख्य कारण उसके औद्योगिक सहकारी सगठन ही थे। इन सहकारी सस्थाओ ने चीन के लगभग सभी गावो को अपनी जरूरतो मे स्वावलम्बी बना दिया, क्योकि देश के कोने-कोने मे इनका जाल वहा फैला हुआ है। "इन दिनो युद्ध बहुत सहारक हो गये है। इनका खतरा सदा बना रहता है और एक बार छिड जाने पर उनका अन्त कब होगा, इसका कोई ठिकाना नही होता। ऐसी स्थिति मे खाने और पहनने की जरूरत की चीजे हर स्थान पर मिल जानी चाहिए। यदि इन्हे दूर से लाना पडेगा तो कठिनाई के समय मे समाज को बडा कष्ट होगा। इसलिए जब विकेन्द्रीकरण युद्ध की दृष्टि से भी बहुत जरूरी है तो देश मे विकेन्द्रित उत्पादन की जो सुन्दर प्रणाली पहले ही से चल रही है उसकी उपेक्षा करना निरा पागलपन ही होगा।"

अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द्र

विश्व-शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम के बनाये रखने के लिए अनेक योजनाए सुझाई जाती है। लीग ऑव नेशन्स के कवनैट (सविधान) मे अन्तर्राष्ट्रीय झगडो को बातचीत अथवा पच-फैसले के द्वारा निपटाने की बात कही गई है, परन्तु फासिज्म के आक्रमण के सामने वह सारी इमारत ढह गई। सान फ्रासिसको की परिषद् ने अब विश्व-शान्ति के लिए एक नया चार्टर बनाया है। परन्तु उसका सार है शेष ससार पर तीन बडो का प्रभुत्व। अमरीका, सोवियत रूस और ब्रिटेन अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस दल के मुखिया होगे और यदि इन मित्रो का ही आपस मे झगडा हो गया तो यह पुलिस दल क्या करेगा ?

कई प्रसिद्ध विचारको का सुझाव है कि अतर्राष्ट्रीय अराजकता को मिटाने के लिए सपूर्ण ससार का एक ही राज्य बना दिया जाना चाहिए। एलीकलवर्स्टन ने हाल ही मे सयुक्त राष्ट्रसघ से अपील की है कि जल्दी-

से-जल्दी एक ऐसा व्यावहारिक अतर्राष्ट्रीय सगठन बना लिया जाय कि जो प्रभुसत्ता-सपन्न राज्यो से अलग हो। वह एक ऊचे कानून पर आधारित हो। सारे राज्य समान रूप से उसके अधीन हो। विश्व-पुलिस उसकी अपनी हो, ताकि सामूहिक रक्षा-व्यवस्था के द्वारा सब सुरक्षित रहे और सभी राष्ट्र-विरोधी हो जाय तो भी अकेले राष्ट्र को खतरा न रहे।[1] सर विलियम बीवरिज अपनी पुस्तक 'दि प्राइस फॉर पीस' मे किसी ऐसी सत्ता की स्थापना का समर्थन करते है, जो सब राष्ट्रो से ऊपर हो और उसे बडे तीन राष्ट्रो का सैनिक समर्थन हो। सुमनर वेल्स चाहते है कि भौगोलिक आधार पर[2] एक विश्व-सगठन बनाया जाना चाहिए। इन सारी योजनाओ मे दो बाते पहले से ही मान ली गई है—सामूहिक सुरक्षा और नि शस्त्रीकरण। परन्तु इनमे समस्या के हल का प्रारम्भ सही जगह से नही होता।

यह बताने के लिए शायद किसी तर्क की जरूरत नही है कि तमाम युद्धो का बुनियादी कारण आर्थिक शोषण और ससार के बाजारो पर अधिकार करने का अत्यधिक लालच है। पिछले महायुद्ध के बाद अब मित्र-राष्ट्र अपना निर्यात-व्यापार बढाने की योजनाए बडी तेजी से बना रहे है, ताकि उनके घर मे रहन-सहन का स्तर गिरने न पावे। बाजारो के लिए की जा रही यह साम्राज्यवादी दौड निश्चय ही उनमे ईर्ष्या और झगडे पैदा करेगी, जिसका परिणाम होगा एक नया विश्वयुद्ध। यह कितना भयकर और सहारक होगा, इसकी तो कल्पना करते भी डर लगता है। इसलिए ससार से युद्धो को मिटाना है तो पूजीवाद को और उसके परिणाम—साम्राज्यवाद को समाप्त करना ही होगा। प्राध्यापक लास्की कहते है, "राष्ट्रो के बीच शान्ति कायम करना है तो पहले एक राष्ट्र के अन्दर शान्ति स्थापित होनी चाहिए,"[3] और राष्ट्रो के अन्दर तबतक शान्ति स्थापित नही हो सकती जबतक कि वितरण की पद्धति पूर्ण नही होगी। ऐसी पद्धति केवल सहकारी सिद्धान्तो पर सचालित विकेन्द्रित औद्योगीकरण

---

[1] 'टोटल पीस', पृ० १९३

[2] 'टाइम फॉर डिसीजन'

[3] 'व्हेयर डु वी गो फ्रोम हीयर'

मे ही अच्छी तरह काम कर सकती है। लालची साम्राज्यवाद पर प्रभावकारी प्रहार तो गृहोद्योग ही कर सकते है, और अतर्राष्ट्रीय शाति का यही उपाय है। इसलिए आज ससार को सैनिक नि शस्त्रीकरण की नहीं, आर्थिक नि·शस्त्रीकरण की जरूरत है। "राज्यो के अन्दर स्थानीय और प्रादेशिक चीजो के प्रति जितना भी अधिक प्रेम बढेगा उतना ही ससार को छिन्न-भिन्न करनेवाली आक्रमणकारी राष्ट्रीयता को बढने का अवसर कम मिलेगा।"[1]

पहले अपनी संभालें

विधि की यह एक विचित्र विडम्बना है कि मित्रराष्ट्रो ने पराजित जर्मनी के लिए विकेन्द्राकरण का नुस्खा बताया है। पॉटसडम की बैठक मे 'तीन बडो' ने निश्चय किया कि सारे जर्मनी मे प्रजातत्री सिद्धान्तो पर स्थानीय स्वायत्त शासन की पद्धति जारी कर दी जाय और खेती तथा शातिपूर्ण गृहोद्योगो पर खास तौर पर जोर दिया जाय।

दूसरो के विचार जो कुछ भी हो, मै तो मानता हू कि आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रो मे यदि यह विकेन्द्रित शासन-पद्धति स्थापित कर दी जायगी तो हिटलर के देशो मे जरूर वह शाति और स्थायी समृद्धि ले आयेगी। ध्यान देने की बात है कि शातिपूर्ण गृहोद्योगो की स्थापना उस भूमि मे स्थापित की जा रही है, जिसने हिंसा को उसकी तर्कशुद्ध परमावधि को पहुचा दिया जाय ? परन्तु दु ख की बात यही है कि यह विकेन्द्रीकरण जर्मनी मे अन्दर से पैदा नही हुआ। वह दूसरो ने उसपर लादा है। फिर भी विजेता बहुत खुशिया न मनाये। मै तो मित्रराष्ट्रो से कहूगा, "वैद्यराज, पहले अपना इलाज तो कर लीजिये।" बडे अहकार के साथ जो इलाज उन्होने जर्मनी के लिए बताया है, यदि उसपर स्वय् मित्रराष्ट्र भी अमल करने लग जाय तो ससार मे निश्चित रूप से स्थायी शाति की स्थापना हो जाय, क्योकि इससे आक्रमण की वृत्ति ही चली जायगी, नही तो ससार फिर ऐसे सकट की ओर चल पड़ेगा, जैसा पहले कभी उसने नही देखा है।

---

[1] 'ए गाइड टु माडर्न पॉलिटिक्स'—प्रो० कोल, पृ० ३७०

हमारे आलोचक शायद पूछे कि "आप भारत को वह उपाय क्यो बता रहे है, जो जर्मनी को अनत काल तक गुलाम बनाये रखने के लिए उसपर लादा गया है ?" इस प्रश्न का मेरा सीधा जवाब यह है कि यदि स्वतत्र भारत इस पद्धति को अपने यहा स्वेच्छा से शुरू कर देगा तो न केवल वह अपने यहा शाति स्थापित कर लेगा, वल्कि सारे ससार मे शान्ति फैला देगा। जर्मनी पराजित, पद-दलित और अपमानित देश है। छिपे-छिपे वह कोशिश करता रहेगा कि वह खूब सारी शक्ति का सचय कर ले और फिर से ससार पर छा जाय। भारत की स्थिति भिन्न है। वह एक दीप-स्तम्भ के समान होगा, जो शोषण और साम्राज्यवाद के अधेरे मे भटकनेवाले राष्ट्रो का सदा मार्ग-दर्शन करता रहेगा। वह न दूसरे देशो का शोषण करेगा, न दूसरो को अपना शोषण करने देगा।

क्या इसमें पुरानापन है ?

गाधीवाद की सबसे अधिक घिसी-पिटी आलोचना यह है कि यह तो घडी के काटे को पीछे हटाता है और हमे मध्ययुग मे ले जाता है। परन्तु ऐसे आक्षेप वे ही लोग करते है, जिन्होने उनकी वात को समझा ही नही है। गाधीजी यह जरा भी नही चाहते कि ये ग्रामीण समाज आपस मे एक-दूसरे से अथवा शेष देश और ससार से कोई सम्वन्ध ही नही रक्खे। यह न तो सम्भव है और न इष्ट ही। गाधीजी चाहते है कि ग्राम-राज्य स्वराज्य शासन की प्राथमिक इकाइया हो और सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक मामलो मे उन्हे अधिक-से-अधिक स्वतत्रता रहे। वे तहसील, जिला, प्रान्त और समस्त देश की लोक-सभा से समुचित शाति से सम्बद्ध रहे।

यदि किसीका यह ख्याल है कि प्राचीन काल मे या मध्ययुग मे भी ग्राम-पचायते एक-दूसरे से विल्कुल भिन्न-भिन्न रहती थी, उनका आपस मे कोई सम्वन्ध नही होता था तो यह गलत है। मनुस्मृति,महाभारत, कौटिल्य का अर्थशास्त्र और सस्कृत के अन्य अनेक ग्रन्थो मे हम देखते हे कि हर गाव मे, इसी प्रकार दस-दस, सौ-सौ, हजार-हजार गाव पर एक-एक अधिकारी होता था, जो अपने नीचेवाले प्रदेश के काम-काज की देख-भाल करता रहता था। यह सच है कि प्रत्येक गाव अपने आतरिक प्रवन्ध मे अधिक-से-अधिक

स्वाधीन होता था, वशर्ते कि वह राष्ट्र की सुरक्षा और कार्यक्षमता मे बाधक नही होता हो। ये ग्रामराज्य धीरे-धीरे अपने ऊपर के सघटनो मे सघ-पद्धति से विलीन हो जाते। इस प्रकार एक के ऊपर एक स्वायत्त लोक-शासन के स्तर बिल्कुल ऊपर तक बनते जाते। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने इन विविध शासकीय स्तरो की सस्थाओ के नाम बताये है, जिन्हे सभा, महासभा तथा नात्तर कहा जाता था। इस शासन-व्यवस्था का सबसे उत्तम वर्णन चोल-साम्राज्य के शासकीय सगठनों के रूप मे पाया जाता है, जिनका अधिक उल्लेख राजाओं के अनेक शिला-लेखो मे आया है। सबसे छोटी बुनियादी इकाई था गाव और नगर जिन्हे क्रमश उरु और नगर कहते थे। ऊपरवाले सगठन को नाडु अथवा कुरम कहते थे। कुरम के ऊपरवाले स्तर के सगठन का नाम था कोट्टम अथवा विसाया और उससे ऊपर या प्रान्त का सगठन, जिसे मण्डल अथवा राष्ट्र कहा जाता था, साम्राज्य का सबसे बडा भाग होता था। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने भी अपनी पुस्तक 'हिन्दू पॉलिटी' मे जनपद-व्यवस्था का वर्णन दिया है, जिसके अधीन अनेक छोटी-छोटी प्रादेशिक सभाए होती थी। इन सारे प्रमाणो से साफ सिद्ध होता है कि हमारी ग्राम-पंचायतो की पद्धति कही किसी असभ्य और जगली जातियो के सगठन का अवशेष नही थी, बल्कि वह सघ-पद्धति पर बनाया गया एक सुव्यवस्थित शासकीय सगठन था। आज यदि हम इस पद्धति को ग्रहण करना चाहे तो स्वभावत वह बहुत अधिक व्यवस्थित और सुसगठित होगा। परन्तु इसमे मूल चीज है सत्ता का विकेन्द्रीकरण और व्यवस्थित वितरण। हमारी भावी शासन-व्यवस्था मे इसका हमे सबसे अधिक ध्यान रखना होगा, क्योकि सैकडो वर्षों से अनेक उथल-पुथलो का सामना उसने किया है और अभी-अभी तक टिकी रही है। यह सगठन मध्ययुगीन नही, आनेवाले युग के आदर्श राज्य के लिए एक नमूने की आदर्श-व्यवस्था होगी। डॉ० राधाकृष्णन कहते है कि "ग्रामो की तरफ लौट चलो का मतलब फिर से जगली अवस्था मे लौट चलने से नही है। भारत की प्रकृति के अनुकूल जीवन बनाने का एकमात्र तरीका यही है, जिसने उसे जीवन का हेतु और श्रद्धा प्रदान करके उसे सार्थक बनाया। मानव-जाति को सभ्य बनाये रखने का भी वही एक मार्ग है। भारत किसानो और मजदूरो का, ग्रामीण समाज

का, वनो मे बसे आश्रमो का और तपोवनो का देश है। इसने ससार को बहुत-सी अच्छी और महान् बाते दी है। किसी मनुष्य या देश का बुरा नही किया और न किसीपर अपनी सत्ता लादनी चाही।"[१]

इतने पर भी यदि कोई हठी आलोचक गाधीजी के विचारो को पिछडे हुए और मध्ययुगीन कहता रहेगा तो मै साफ-साफ कह दूगा कि जनाब, यह पिछडापन हमारी आज की सभ्यता और आधुनिकता से हजार गुना अच्छा है, जो शोषण, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और आत्मा का नाश करनेवाले बडे-बडे युद्धो को लाई है। अगर इन्ही सब चीजो का नाम प्रगति है तो ऐसी प्रगति को दूर से ही नमस्कार है।

अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व-बन्धुत्व

हम बडी शान से अन्तर्राष्ट्रीयता की बाते करते है और गाधीजी के ग्रामवाद की खिल्ली उडाते है, परन्तु क्या हमने कभी यह भी समझने का यत्न किया है कि गाधीजी का यह ग्रामवाद हमारे तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीयता से कही आगे बढा हुआ है? वह केवल अन्तर्राष्ट्रीयता नही, विश्व-बन्धुत्व भी चाहते है। अपने गाव, प्रान्त, देश और ससार के केवल मानव मात्र से नही, बल्कि इस अनत विश्व के साथ तादात्म्य अनुभव करने की वे हमसे अपील करते है, परन्तु यह तादात्म्य सिद्ध करने के लिए जमीन और आसमान के बीच निरतर उडते रहने की जरूरत नही है। अपनी छोटी-सी झोपडी मे शाति से बैठकर भी हम विश्व के साथ तादात्म्य सिद्ध कर सकते है। अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व-बन्धुत्व मन की अवस्थाए है। इनका सम्बन्ध देश और काल से नही। ग्राम और विश्व के साथ मनुष्य एकसाथ एकता अनुभव कर सकता है। गाधीजी का मत है कि हमारे भौतिक जीवन का आधार गाव हो और विश्व-बन्धुत्व हमारा सास्कृतिक अथवा आध्यात्मिक धाम हो। उनके स्वदेशी-धर्म का यह सार है। गाधीजी मानवता और विश्व की सेवा करना चाहते है, परन्तु अपने निकटतम पडोसी और देश की सेवा के द्वारा। वह कहते है, "मेरा स्वदेश-प्रेम सीमित भी है और व्यापक भी।" "सीमित इस प्रकार कि अत्यत नम्रता के साथ मैं अपना ध्यान अपनी जन्म-

[१] 'महात्मा गाधी—एस्सेज ऐंड रिफ्लेक्शन ऑन हिज लाइफ एण्ड वर्क'

भूमि पर केन्द्रित कर देता हू और व्यापक इस अर्थ में कि मेरी सेवा मे दूसरो के साथ होड अथवा विरोध का भाव नही है। इस ससार मे जो कुछ भी है उसके साथ मे अपने-आपको एकरूप कर देना चाहता हू।"[1]

नई सभ्यता

असल बात यह है कि गाधीजी का मार्ग कोई मध्ययुगीन जीवन की पद्धति नही, बल्कि एक नई सभ्यता है। वर्तमान सभ्यता की बुराइयो को दूर करने के लिए बहुत-से 'अचूक' उपाय सुझाये गए है, परन्तु अन्त मे जाकर सभी एक बात—हिसा या जबरदस्ती—पर जोर देते है। वाल्टर लिपमन कहते है—"आधुनिक ससार पर अपना आधिपत्य स्थापित करने की अभिलाषा से झगडनेवाले सब दलो का रूप यद्यपि अलग-अलग है तथापि शस्त्रो का खजाना तो सबका एक-सा ही है। उनके सिद्धान्तो मे कोई भेद नही और सबके युद्ध-गीतो की तान समान है, केवल शब्द कही-कही दूसरे है। सब मनुष्य के श्रम और जीवन पर जबरदस्ती करना चाहते है। उनका सिद्धान्त यह है कि मनुष्य का दु:ख और अव्यवस्था दूर करने का उपाय यही है कि उन्हे अधिकाधिक बलपूर्वक सगठित किया जाय।" वह कहते है कि "राज्य-सत्ता की मदद से ही मनुष्य को सुखी बनाया जा सकता है।"[2] यह राज्य-सत्ता आज मुख्य वस्तु बन गई है, यही प्रबल प्रवाह है और जो इस बात को नही मानता—सर्वग्राही सत्ता और सर्वव्यापी सगठन मे विश्वास नही करता—"वह दब्बू और प्रतिक्रियावादी है या उसे एक ऐसा मूर्ख समझ लीजिये, जो प्रवाह के विरुद्ध तैरने की बेकार बेवकूफी करता है।" महात्मा गाधी अकेले एक पुरुष है, जो पिछले कुछ दशको से लगातार अहिंसा और विकेन्द्रीकरण का उपदेश दे रहे है। पूर्व के सन्तो की बातों मे जो सादगी, सजीवता और वास्तविकता होती है, वह उनमे है। डॉ० राधाकमल मुकर्जी लिखते है—

"राजनैतिक भविष्य के बारे मे हमारी दृष्टि पूर्व की परम्परा का

---

[1] 'विज्डम ऑव गाधी'—रॉय वॉकर, पृ० ३५

[2] 'दि गुड सोसाइटी'—वाल्टर लिपमन्न, पृ० ३

अनुसरण करती है। इसमे मूक जनता पर बुद्धिजीवियो, धनपतियो, राजाओ या सर्वहारा सत्ता द्वारा कोई बात जबरदस्ती से नही लादी जायगी। यह होगा किसानो का जनतन्त्र। पुराने समय से कर्म अर्थात् धन्धो और पेशो के आधार पर जो स्थानीय समाज बने हुए है, उनको लेकर ग्राम, जिला और प्रान्तो के स्तर पर उत्तरोत्तर व्यापक वनते जायगे और इन सबका मिलकर राष्ट्र का एक सर्वोच्च सघ बन जायगा। यह एक ऐसा प्रजातन्त्र होगा, जिसके अन्दर गावो के मन्दिरो और तरुतल-वास की प्राणवान पवित्र सस्कृति फिर से जी उठेगी और फिर भी उसमे आधुनिक नागरिकता और सामाजिकता का नवजीवन भी होगा।"[1]

अपने एक वक्तव्य मे इस नई सभ्यता की कल्पना गाधीजी ने दी है, जिसे वह अपनी भाषा मे रामराज्य कहते है

"धार्मिक भाषा मे आप उसे पृथ्वी पर भगवान का राज्य कह सकते है। राजनैतिक भाषा मे वह पूरा प्रजातन्त्र होगा। उसमे गरीब, अमीर, वर्ण, जाति और लिग का कोई भेद नही होगा। वहा जमीन और राज्य-सत्ता पर समाज का अधिकार होगा। न्याय तुरन्त दिया जायगा, न्याय सच्चा और सस्ता होगा, इसलिए आराधना (धर्म), वाणी और लेखनी की स्वतन्त्रता होगी। इस सवका आधार होगा नैतिक सयम, जिसका पालन लोग समझ-बूझकर करे। ऐसे राज्य का आधार सत्य और अहिंसा ही हो सकते हैं और उसमे सुखी, स्वावलम्वी और समृद्ध ग्राम-समाज ही होगे।"[2]

मैं मानता हू कि वैधानिक शासन-सम्वन्धी गाधीजी की यह कल्पना निरा सपना नही है, वल्कि देश के अन्दर चल रहे आर्थिक सघर्षो और अन्तर्राष्ट्रीय युद्धो से वचने का एक व्यावहारिक और स्थायी हल है। जो इन कल्पनाओ को अव्यावहारिक सपने कहकर इनकी हँसी उडाते है वे जरा आधुनिक सर्वग्रासी युद्धो से होनेवाले अवर्णनीय विनाश की कल्पना ता करे। यदि हम सचमुच चाहते है कि ऐसे सर्वग्रासी महायुद्ध किसी भी हालत मे फिर नही हो तो हमे अपने आर्थिक और राजनैतिक सस्थानो और सगठनो को नीचे से ऊपर तक पूरी तरह से वदलने का निश्चय

---

[1] 'डेमोक्रैसीज ऑव दि ईस्ट', पृ० ३६३-६४

[2] 'दि हिन्दू', २२ जून, १९४५

करना होगा। ये तथाकथित प्रगतिशील योजनाएं हमे कि[illegible] परिणाम पर नही ले जा सकती। जैसा कि सर विलियम बीवरिज ने कहा है, "अब सपने के सुवर्ण-युग और वर्तमान ससार के बीच नही, बल्कि सुवर्ण-युग और ठेठ नरक के बीच चुनाव करने का क्षण हमारे सामने आज उपस्थित है।"[१] हम नरक को पसन्द करना चाहते है या गाधीजी के रामराज्य को? श्रद्धा और दृढता के साथ हमे तुरन्त चुनाव कर लेना चाहिए, नही तो इस सर्वनाश के ज्वार को हम किसी प्रकार रोक नही सकेगे।

खण्ड ४

सर्वोदय और समाजवादी नमूना

१

समाज का समाजवादी स्वरूप

अखिल भारत राष्ट्रीय काग्रेस ने अपने आवडी-अधिवेशन मे समाज के समाजवादी नमूने के बारे मे महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत किया, तबसे काग्रेस के कार्यकर्त्ता और दूसरे कई लोग, जिन्हे आर्थिक सयोजन मे दिलचस्पी है, स्वभावत पूछते रहते है कि इस 'समाजवादी नमूने' का असली अर्थ क्या है ? इसलिए इस प्रस्ताव का पूरा अर्थ समझने के लिए हमे उसका जरा विस्तारपूर्वक अध्ययन करना होगा। प्रस्ताव इस प्रकार है

"विधान की धारा मे लिखित काग्रेस के उद्देश्य को पूरा करने के लिए तथा भारतीय सविधान की प्रस्तावना मे बताये उद्देश्यो और राज्य के नीति-सम्बन्धी मार्ग-दर्शक सिद्धान्तो के परिपालन के लिए यह जरूरी है कि सारा सयोजन समाजवादी स्वरूप के समाज की स्थापना के हेतु से हो, जिसमे उत्पादन के साधनो का स्वामित्व और सचालन समाज के हाथो मे हो, उत्पादन उत्तरोत्तर तेजी से बढता जाय और राष्ट्र की सपत्ति का वितरण न्यायपूर्वक समानता के आधार पर हो।"

काग्रेस का उद्देश्य है—"भारत मे समान अवसर और समान राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारो पर आधारित सहकारी सम्मिलित राज्य (कोआपरेटिव कामनवेल्थ) की स्थापना।" भारतीय सविधान की प्रस्तावना मे बताये उद्देश्यो मे एक यह भी है कि सबके साथ "'सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक न्याय' हो तथा सबको समान दर्जा और अवसर मिले।" राज्य का नीति-सम्बन्धी मार्ग-दर्शक सिद्धात भी यह है कि राष्ट्र

की सरकार हर प्रकार से जनता के कल्याण की साधना करेगी अर्थात् ऐसी समाज-रचना की स्थापना और शक्ति-भर रक्षा करेगी, जिसमे राष्ट्र के जीवन से सम्बन्धित सभी सस्थाओ और अगो में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय का पालन हो।" (धारा ३८)। धारा ३९ मे लिखा है, "राज्य ऐसी नीति का अवलबन करे, जिसमे राज्य के समस्त नागरिको को—पुरुषो और स्त्रियो को भी—समान रूप से अधिकार होगा कि उन्हे जीविकोपार्जन के पर्याप्त साधन उपलब्ध हो। समाज की साधन-सपत्ति के स्वामित्व और विनिमय के अधिकार का वितरण भी इस प्रकार हो कि वह सपूर्ण समाज के लिए हितकर हो।" मार्ग-दर्शक सिद्धान्तो मे यह भी लिखा है कि "राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था ऐसी न हो, जिसके परिणाम-स्वरूप सपत्ति का केन्द्रीकरण हो और उत्पादन के साधनो का उपयोग कोई समाज के अहित मे कर सके।" धारा ४० राज्य को आदेश देती है कि वह "ग्राम-पचायतो के सगठन का प्रबन्ध करे और उन्हे ऐसे सब अधिकार और सत्ता प्रदान करे, जिससे वे स्वशासित इकाइयो के रूप मे अपना काम कर सके।" आगे चलकर धारा ४३ शासन को आदेश देती है कि "वह समुचित कानून बनाकर या उपयुक्त आर्थिक व्यवस्था की स्थापना द्वारा या अन्य उपायो द्वारा ऐसा प्रबन्ध करे कि खेती मे, उद्योगो मे या अन्यत्र काम करनेवाले कर्मचारी अथवा मजदूर को अपने निर्वाह के योग्य वेतन मिले और काम करने की वे सब सुविधाए हो, जिनसे वह अपनी रहन-सहन का स्तर ठीक रख सके, उसे पर्याप्त विश्राम और अवकाश मिल सके और सामाजिक तथा सास्कृतिक कार्य करने के अवसर भी मिलते रहे।" खासतौर पर "ग्रामीण क्षेत्रो मे राज्य व्यक्तिगत तौर पर या सहकारिता की पद्धति पर चलनेवाले ग्रामोद्योगो को प्रोत्साहन देगा।" धारा ४६ मे "समाज के पिछड़े हुए और कमजोर अगो अर्थात् जन-जातियों या अनुसूचित जातियो की शिक्षा-दीक्षा की विशेष रूप से चिन्ता रखने का राज्य को आदेश है। काग्रेस और भारतीय सविधान मे लिखित इन उद्देश्यो को पूरा करने के लिए आवडी-अधिवेशन मे पारित समाजवादी समाज के नमूनेवाले प्रस्ताव मे कहा गया है कि देश मे आर्थिक सयोजन के द्वारा ऐसे समाज की स्थापना की जाय, जिसमे उत्पादन के सभी मुख्य साधनो पर समाज का ही स्वामित्व

हो। वही उनका सचालन भी करे, उत्पादन तेजी से हो और उत्तरोत्तर वढता रहे और राष्ट्रीय सपत्ति का वितरण भी न्याययुक्त हो।"

समाजवादी नमूनेवाले प्रस्ताव के अर्थ को ठीक तरह से समझने के लिए यह जरूरी है कि उसी अधिवेशन मे पारित आर्थिक नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव पर भी हम विचार करे। इस प्रस्ताव मे आर्थिक और सामाजिक स्तर पर पर्याप्त प्रगति करने के लिए कहा गया है। हमारा उद्देश्य स्पष्ट रूप से यह हो कि उत्पादन खूब बढे, रहन-सहन का स्तर ऊचा हो जाय, वेकारी उत्तरोत्तर घटती रहे और अत मे देश से वह एकदम मिट जाय। यह सब दस वर्ष मे हो जाना चाहिए। प्रस्ताव मे आगे कहा गया है कि "राष्ट्र का लक्ष्य है कल्याण-राज्य की स्थापना और समाज का ढाचा समाजवादी बनाना। यह तो राष्ट्रीय आय मे काफी वृद्धि करने से और चीजो के खूब उत्पादन तथा रोजी के साधनो और सेवाओ, समाजोपयोगी प्रवृत्तियो के पर्याप्त विस्तार से ही सम्भव होगा। इसलिए शासन की अर्थनीति का लक्ष्य हर चीज की विपुलता और उसका न्यायपूर्ण वितरण होना चाहिए।" इन उद्देश्यो की सिद्धि के लिए प्रस्ताव "भारी उद्योगो की स्थापना और छोटे तथा गृहोद्योगो के व्यापक विस्तार पर जोर देता है।" प्रस्ताव मे आगे कहा गया है कि "समाजवादी नमूनेवाले समाज मे सयोजन और विकास के कार्यों मे शासन को महत्वपूर्ण योग देना होगा। राज्य को खास तौर पर विजली, परिवहन इत्यादि सम्बन्धी वडी-वडी योजनाओ के प्रारम्भ और सचालन का काम करना होगा, सामाजिक प्रवृत्तियो, वृत्तियो और साधनो का नियन्त्रण करना होगा, उद्योगो की स्थापना और विकास मे अराजकता पैदा न होने पावे, इस हेतु से उसमे महत्वपूर्ण जगहो पर नियन्त्रण कायम करने होगे। निजी व्यापारिक कोठियो और सस्थानो की स्थापनाओ पर प्रतिबन्ध लगाने होगे और श्रम तथा उत्पादन के मानदण्ड कायम करके उनकी रक्षा करनी होगी।" प्रस्ताव मे यह भी साफ कर दिया गया है कि सरकारी क्षेत्र को उत्तरोत्तर अधिक काम करना होगा—खास तौर पर बुनियादी उद्योगो की स्थापना मे। गैर-सरकारी अर्थात् स्वतन्त्र सस्था मे—उदाहरणार्थ सहकारी समितिया, छोटे-छोटे उद्योग-सस्थान, आदि का भी महत्व होगा ही।

यह भी याद दिलाई गई है कि हमे "शातिपूर्ण और लोकतन्त्री तरीको से दूरगामी परिणाम लानेवाले सामाजिक, आर्थिक और औद्योगिक परिवर्तन तेजी से और सफलतापूर्वक लाने है।" इस प्रकार जब हम आवडी-प्रस्ताव का, काग्रेस के विधान के उद्देश्यो का और भारतीय सविधान के निर्देशक सिद्धान्तो का सूक्ष्म अध्ययन करते है तो हमे पूरी तरह से ज्ञात हो जाता है कि समाजवादी नमूने के समाज की स्थापना का असली अर्थ क्या है। इस समाजवादी नमूने मे जिन-जिन बातो का समावेश होता है, सक्षेप मे वे इस प्रकार है

१. समाजवादी नमूनेवाले समाज का बुनियादी उद्देश्य है ऐसे समाज और अर्थ-व्यवस्था की स्थापना, जो समान अवसर और सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय के सिद्धान्त पर आधारित है।

२ इस समाज मे जात-पात, धर्म, लिग और आर्थिक, सामाजिक प्रतिष्ठा-सम्बन्धी कोई भेद-भाव नही होगा, हर आदमी को काम दिया जायगा और काम करने लायक हर नागरिक—पुरुष या स्त्री—को जीवन-वेतन मिलेगा। दूसरे शब्दो मे समाजवादी समाज-रचना मे बेकारी नही रहेगी। सबको रोजी मिलेगी।

३ देश की साधन-सम्पत्ति और उत्पादन के साधनो पर राज्य का सम्पूर्ण स्वामित्व होगा या उसका पूरा नियन्त्रण होगा। इनका उपयोग वह राष्ट्र के अधिक-से-अधिक हित के कामो मे करेगा।

४ समाज ऐसी अर्थ-रचना का निर्माण करेगा, जिससे कही सम्पत्ति और उत्पादन के साधनो का केन्द्रीकरण और उनका उपयोग समाज के अहित मे नही हो सकेगा।

५ देश की सम्पूर्ण सम्पत्ति को और उत्पादन को वढाने के व्यवस्थित और तीव्र उपाय किये जायगे।

६ यह भी जरूरी है कि राष्ट्र की सम्पत्ति का वितरण न्यायपूर्वक हो और वर्तमान आर्थिक विषमताए कम-से-कम कर दी जाय।

(७) यह सामाजिक और आर्थिक परिवर्त्तन शातिपूर्ण और प्रजातान्त्रिक तरीको से लाया जाना चाहिए।

(८) समाजवादी समाज-रचना मे आर्थिक और राजनैतिक सत्ता का

दृढता के साथ विकेन्द्रीकरण करना होगा, अर्थात् सारे देश मे अपना प्रबन्ध खुद करनेवाली ग्राम-पचायतो की स्थापना करनी होगी और गृहोद्योगो का व्यापक रूप से विस्तार करना होगा।

इस दृष्टि से देखे तो काग्रेस की अर्थ-नीति का हम मात्र कट्टरपथी और सख्त अर्थ करेगे तो वह उचित नही होगा। हम सारे प्रश्न की तरफ शुष्क सैद्धान्तिक दृष्टि से नही, वल्कि मूलत यथार्थ दृष्टि से देखते है। हमारा उद्देश्य एकदम साफ है। उसमे भूल के लिए गुजाइश नही है। वह कोई स्थिर और अपरिवर्तनीय नही, विकासशील नीति है। वर्तमान स्थिति मे हमारे देश के अन्दर सबको रोजी देने, अधिकतम उत्पादन बढाने और आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय स्थापित करने का एक निश्चित तरीका होगा। लोगो की माली हालत को यदि हम सुधारना चाहते है तो हमे अपने कार्यक्रम को और अपने तरीको को भी वदलना होगा। यह नीति न्यूनाधिक परिमाण मे महात्मा गाधी के सिद्धान्तो पर ही आधारित है और समाजवादी समाज-रचना का आधार मोटे तौर पर सर्वोदय ही है। परन्तु काग्रेस ने सर्वोदय शब्द का प्रयोग इसलिए नही किया है कि वह इस उच्च शब्द को राजनीति मे घसीटना नही चाहती, परन्तु यह तो स्पष्ट है कि देश की वर्तमान स्थिति मे जहातक भी सम्भव है, वह सर्वोदय के आदर्श का ही अनुगमन करना चाहती है। समाजवादी समाज-रचना का अर्थ अत्यधिक केन्द्रित सत्तावाली और फौजी अनुशासन मे जकडी हुई समाज-रचना कदापि नही है। पश्चिम मे समाजवाद का जो अर्थ किया जाता है वह हमारा अभिलषित लक्ष्य नही है। बडे पैमाने के उत्पादन पर आधारित केन्द्रित सत्तावाली अर्थ-व्यवस्था हिसा-शक्ति और वर्ग-सघर्ष को जन्म देती है, जवकि काग्रेस शान्ति, लोकतन्त्र और अहिंसा को मानती है और वह इस देश मे अधिनायक-तन्त्री और केन्द्रित सत्तावाली समाज-रचना की स्थापना का दृढता के साथ विरोध करती है।

· २

समाजवादी समाज-रचना और औद्योगीकरण

आवडी-अधिवेशन के समाजवादी समाज-रचना-सम्बन्धी प्रस्ताव को ध्यान मे रखते हुए यह समझ लेना जरूरी है कि आनेवाले वर्षों मे कांग्रेस देश मे किस प्रकार उद्योगो का विस्तार करना चाहती है। आर्थिक नीति-सम्बन्धी हमारे प्रस्ताव मे कहा गया है कि हम दस वर्ष के अन्दर-अन्दर देश से बेकारी बिल्कुल मिटा देना चाहते है, इस उद्देश्य की हम तभी पूर्ति कर सकेगे जब समाजवादी समाज-रचना की स्थापना के लिए हम किस प्रकार का औद्योगिक सगठन बनाना चाहते है। उसका सही नक्शा हमारे सामने हो। यह मानना होगा कि अभी तक हम अपनी अर्थ-नीति को साफ और निश्चित नही कर सके है, यहातक कि पहली पचवर्षीय योजनाओ मे लिखी योजना-आयोग की सिफारिशो को भी हम पूरी तरह कार्यान्वित नही कर सके। एक तरफ तो औद्योगिक उत्पादन के जो लक्ष्य हमने निर्धारित किये थे, उनसे हम कई उद्योगो मे आगे बढ गये है, परन्तु देश मे बेकारी तो बढ ही रही है। इसलिए औद्योगीकरण के बारे मे हमारे जो बुनियादी सिद्धान्त है, उनको फिर से असदिग्ध भाषा मे रख देना जरूरी है।

सन् १९४८ मे भारत सरकार ने अपनी अर्थ-नीति पर एक वक्तव्य प्रकाशित किया था। फिर राष्ट्रीय सयोजन पर कांग्रेस के प्रस्ताव है और पचवर्षीय योजनाओं मे भी कई बाते कही गई है। इन सबको एक साथ पढने से उद्योगो के सम्बन्ध मे हमारी नीति का एक स्पष्ट चित्र हमारी आखो के सामने खडा हो जाता है। सक्षेप मे वह इस प्रकार है

१. हमारी औद्योगिक नीति के मूल उद्देश्य ये है .

(अ) अधिक-से-अधिक उत्पादन,

(आ) सबको रोजी देना,

(इ) आर्थिक और सामाजिक न्याय।

२ कुछ उद्योग, जैसे लोहा और इस्पात, यन्त्र और पुरजे, बिजली, परिवहन, सचार इत्यादि राष्ट्र के लिए कुजी है। इनको जल्दी-से-जल्दी बनाना जरूरी है; परन्तु इनपर स्वामित्व राज्य का होगा और वही इनका

सचालन करेगा। निजी व्यापारियो के हाथो मे इन बुनियादी उद्योगो को देना सुरक्षित नही। इन उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के लिए यदि आज हमारे पास आवश्यक पूजी नही है तो कम-से-कम इनका नियन्त्रण राज्य को पूरी तरह से अपने हाथ मे ले ही लेना चाहिए और आधुनिकतम नमूने की यन्त्र-सामग्रीवाले नये उद्योगो को बनाने के लिए राज्य को अपने सारे साधन लगा देने चाहिए।

३ जहातक उपभोग्य चीजो के अर्थात् कपडा, चीनी, कागज, तेल, चावल आदि के उद्योगो से सम्बन्ध है, इन्हे सहकारी समितियो के रूप मे विकेन्द्रित करने का पूरा प्रयत्न किया जाय। उद्देश्य यह नही है कि उप-भोग्य सामग्री के जो उद्योग अभी चालू है उन्हे एकदम बन्द कर दिया जाय, बल्कि बडे पैमाने के उत्पादनवाले उद्योगो मे, छोटे उद्योगो मे तथा गृहोद्योगो मे अलग-अलग क्या-क्या उत्पादन हो, इसका पूरा निश्चय हो जाना चाहिए ताकि इनके बीच प्रतिस्पर्धा और सघर्ष न होने पावे। निजी क्षेत्र मे काम करनेवालो को अवश्य ही राष्ट्रीय सयोजन की मर्यादाओ के अन्दर आवश्यक स्वतन्त्रता और अवकाश मिलते रहने चाहिए।

४ जैसी कि योजना-आयोग की सिफारिश है, अधिक-से-अधिक उत्पादन करने और वेकारी को मिटाने के उद्देश्य से हमे उत्पादन की नीति निश्चित करके उसका कार्यक्रम भी बना लेना चाहिए। उदाहरण के लिए कुछ प्रकार के कपडो का उत्पादन पूरी तरह से खादी और हाथ-करघो के क्षेत्र मे ही हो। इसी प्रकार तमाम खाद्य तेल गावो मे घानियो मे ही निकले। चावलो की हाथकुटाई के उद्योग को प्रोत्साहन और सरक्षण देने के लिए चावल की मिलो को सगठित रूप से कम किया जाय, वल्कि उनकी एकदम वन्दी भी की जाय। दफ्तरो मे लगनेवाला सब प्रकार का कागज हाथकागज के उद्योग के लिए सुरक्षित कर दिया जाय। चमडे के सामान मे हिन्दुस्तानी पद्धति के चप्पल बाटा के जैसे वडे कारखानो मे न बनाये जाय। जबतक वडे पैमाने पर उपभोग्य वस्तुए पैदा करनेवाले कारखानो पर हम इस प्रकार के कठोर प्रतिवन्ध नही लगावेगे, तबतक छोटे उद्योगो को और ग्रामोद्योगो को विकास का मौका नही मिल सकेगा और हम पूरी तरह के वेकारो और आशिक वेकारो की समस्या को हल नही कर सकेगे।

भारत सरकार का अनुमान है कि अगली पचवर्षीय योजना मे हमको लगभग सवा करोड आदमियो को रोजी देनी होगी, जिसके लिए पाच-छ हजार करोड रुपये व्यय करने होगे। राष्ट्र के लिए इतनी वडी रकम हम यदि कही से प्राप्त कर भी सके तो भी जवतक छोटे-छोटे उद्योगो और ग्रामोद्योगो का सहारा नही लेगे, इतने आदमियो के लिए काम मिलना असम्भव होगा।

५ समाज मे आर्थिक न्याय और समानता को वढाने के लिए निजी क्षेत्र के कारखानो के प्रवन्ध मे क्रान्तिकारी परिवर्तन करने होगे। जमीन के प्रवन्ध मे जो सामन्त-पद्धति के विचौलिये थे, उनको तो हमने हटा दिया। इसी प्रकार का जो सामन्तवाद उद्योग के क्षेत्र मे है, उसे भी हमे हटाना होगा। कम्पनियो-सम्वन्धी कानून का सशोधित मसविदा ससद मे पेश हुआ और वह स्वीकार भी हो गया। हम आशा करे कि शहरी क्षेत्र मे वडी आयवालो की आय को घटाने मे वहुत वडी हद तक वह मददगार होगा और इससे आर्थिक विषमताए घटेगी।

६ समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन के प्रमुख साधनो पर समाज का ही स्वामित्व होगा और सचालन भी उसीके हाथो मे होगा। इसलिए वुनियादी उद्योगो की स्थापना मे सरकारी क्षेत्र उत्तरोत्तर अधिकाधिक भाग लेता रहेगा। फिर भी राष्ट्र की अर्थ-रचना मे निजी क्षेत्र का भी महत्व वरावर वना रहेगा, जिसमे औद्योगिक सहकारी सस्थाए, ग्रामोद्योग तथा गृहोद्योग भी रहेगे। इनको आवश्यक और उचित स्वतन्त्रता तथा अवसर मिलेगा, परन्तु राष्ट्र के व्यापक हितो की रक्षा के हेतु इनपर राष्ट्र का सुनियोजित नियन्त्रण भी रहेगा।

७ पश्चिम मे समाजवाद का अर्थ है अत्यधिक केन्द्रित उद्योग। इनपर स्वामित्व राष्ट्र का होता है, परन्तु भारत मे हम इस प्रकार की सैनिक ढग के आधिपत्यवाली व्यवस्था नही चाहते। इसके विपरीत हम तो अपने आर्थिक और सामाजिक लक्ष्यो को शातिपूर्ण और लोकतान्त्रिक तरीको से हल करना चाहते है। यह उद्योगो को दृढतापूर्वक और व्यवस्था के साथ विकेन्द्रित करके उन्हे देश के विभिन्नि भागो मे फैला देने से होगा। हम अपने उद्योगो की रचना ठेठ नीचे से गांवो और शहरो मे छोटे-छोटे उद्योगो

और गृहोद्योगो की स्थापना द्वारा करना चाहते है, जिससे अधिक-से-अधिक जनता उत्पादन मे भाग ले सके।

८ भारत अपने उद्योगो की रचना इस आधार पर करना चाहता है, जिससे राष्ट्र मे अधिक-से-अधिक स्वावलबन आये। आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से भी विदेशी बाजारो और बाहरी आर्थिक सहायता का मोहताज रहना देश के लिए किसी भी प्रकार लाभदायक नही है। हमारी अपनी जरूरते भी अवश्य ही खूब वढनेवाली है। उन्हीको ध्यान मे रखते हुए हम अपना औद्योगिक विकास करे। बाहर से केवल वे ही चीजे हम मगाये, जो अनिवार्य रूप से आवश्यक है। हमारी सारी उद्योग-नीति स्वदेशी के सिद्धान्त पर आधारित हो।

३

समाजवादी स्वरूप और सामाजिक क्रांति

समाजवादी समाज-रचनावाले काग्रेस के प्रस्ताव ने देश मे और विदेशो मे भी बहुत-से लोगो का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित किया है। इस प्रस्ताव ने लोगो मे उत्साह और स्फूर्ति की एक नई लहर पैदा कर दी है, परन्तु हमे यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि केवल आर्थिक प्रगति से समाजवादी समाज की स्थापना नही हो सकेगी। उसके लिए पहले समाज के वर्तमान ढाचे मे क्रातिकारी परिवर्तन करने होगे। उसे उन तमाम बुराइयो से मुक्त करना होगा, जो समाज मे अनेक प्रकार के भेद और असमानताए पैदा कर रही है। समाजवादी समाज-रचना की कल्पना भारतीय सविधान की प्रस्तावना और राज्यनीति-सम्बन्धी निर्देशक सिद्धान्तो पर आधारित की गई है। इस प्रस्तावना मे सामाजिक न्याय और सबके लिए समान दर्जा तथा अवसर हो, इसपर बडा जोर दिया गया है। निर्देशक सिद्धान्तो मे स्त्रियो और पुरुषो को समान माना गया है और बच्चो के हितो का भी पूरा-पूरा ख्याल रखने पर बडा जोर दिया गया है। सविधान मे राज्य को आदेश है कि उसके प्रदेशो मे समस्त नागरिको के लिए समान कानून होगे और चौदह वर्ष के अन्दरवाले बच्चो के लिए शिक्षा नि शुल्क तथा अनिवार्य होगी। राज्य को यह भी आदेश है कि पिछडी हुई तथा अनुसूचित जातियो

की शिक्षा तथा आर्थिक स्थिति के सुधार पर राज्य खास तौर पर अधिक ध्यान दे और इस बात का ख्याल रक्खे कि उनके हितो की पूरी तरह रक्षा हो, समाज मे उनके साथ अन्याय तथा उनका शोषण न होने पावे। निर्देशक सिद्धान्तो मे "शराब तथा स्वास्थ्य के लिए हानिकर मादक द्रव्यो—दवा की बात अलग है—के उपभोग पर प्रतिबन्ध लगा देने का भी उल्लेख है।"

आवडी-अधिवेशन के उपर्युक्त समाजवादी समाज-रचनावाले प्रस्ताव का हेतु काग्रेस के उद्देश्य को पूरा करना तथा "भारतीय सविधान की प्रस्तावना और निर्देशक सिद्धान्तो मे लिखित उद्देश्यो की पूर्ति करना है।" इन निर्देशक सिद्धान्तो से यह एकदम साफ है कि समाज के वर्तमान ढाचे को, जितना तेजी से सम्भव हो, हमे बदलना होगा। श्री उच्छगरायजी ढेवर ने काग्रेस के साठवे अधिवेशन मे अपने अध्यक्षीय भाषण मे राष्ट्र के नवनिर्माण के काम मे समाज-सुधार के लक्ष्यो को प्राप्त करने पर बडा जोर दिया। उन्होने कहा कि "जबतक स्वय समाज के अन्दर लोकतत्री सिद्धान्तो का आदर और अमल नही होगा तबतक राजनैतिक लोकतत्र असम्भव ही है।" उन्होने साफ-साफ कहा कि जबतक भारत के प्रत्येक नागरिक को समान अवसर नही मिलेगे तबतक सच्ची समानता की हम कल्पना भी नही कर सकते। "जात-पात के प्रति निष्ठा और राष्ट्र-निष्ठा साथ-साथ चल नही सकती।" जात-पात के भेद-भाव राष्ट्र-निष्ठा और राष्ट्रीयता के लिए घातक है, इसलिए हमे एक बार दृढ निश्चय करके इन भेदभावो को मिटा ही देना चाहिए।

काग्रेस मे पेश किये गए अपने प्रतिवेदन मे श्री नेहरू ने आवडी मे बडे जोर के साथ कहा था कि हम भारत को एक महान सम्मिलित सहकारी राज्य बनाने जा रहे है। उसका अर्थ यही है कि "सबको समान अवसर मिलेगा और सामाजिक न्याय की स्थापना होगी। इसलिए सकीर्ण प्रातीयता या जातीयता को दबाया जाना चाहिए और जात-पात की बुराई को जडमूल से उखाड फेकना चाहिए।"

आवडी-अधिवेशन मे स्त्रियो और बच्चो के कल्याण पर एक विशेष प्रस्ताव स्वीकृत किया गया था। उसके अन्दर उन तमाम प्रतिगामी रूढियो,

रिवाजो और व दिशो की निन्दा की गई है, जो स्त्रियो के विकास मे वाधा पहुचाती है और राष्ट्र की सेवा के विविध कार्यक्रमो मे भाग लेने से उन्हे रोकती है। प्रस्ताव मे कहा गया है कि राष्ट्र के हित मे यह आवश्यक है कि स्त्रियो को अपना विकास करने और राष्ट्र की सेवा करने का पूरा अवकाश मिले। उन्हे उत्तराधिकार का अधिकार भी दिया जाय ताकि कानून तथा समाज मे वे किसी प्रकार घाटे मे न रहे। विभिन्न राज्यो की सरकारो ने स्त्रियो और वच्चो की भलाई के जो अनेक काम किये है, काग्रेस ने उनकी सराहना की और हिन्दुओ मे सुधार के वारे मे ससद मे जो विधेयक पेश किया गया है, उसका स्वागत किया है। आवडी-अधिवेशन ने वुनियादी शिक्षा पर भी एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत किया है और स्वतत्र भारत के राष्ट्रीय लक्ष्य और सामाजिक उद्देश्यो की सिद्धि के लिए वर्तमान शिक्षा-पद्धति मे दूरगामी परिवर्तन करने की आवश्यकता वताई है। काग्रेस ने वुनियादी शिक्षा को भारत मे प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा का भावी नमूना वताया है। उसने तमाम राज्य-सरकारो से अनुरोध किया है कि वे जितनी भी जल्दी सम्भव हो, इस नीति पर अमल शुरू कर दे, ताकि दस वर्ष के अन्दर-अन्दर देश के ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रो मे वह पूरे जोर के साथ व्यवस्थापूर्वक काम करने लग जाय। काग्रेस ने आचार्य विनोवा भावे के भूदान और सम्पत्ति-दान-आन्दोलन का भी स्वागत किया और इसे "एक नैतिक प्रवृत्ति माना है, जिसके द्वारा वह शान्ति के साथ समाज मे स्वेच्छापूर्वक आर्थिक तथा सामाजिक क्रान्ति करना चाहते है।" एकता और एकीकरणवाले प्रस्ताव मे समाज-सुधार पर जोर दिया गया है ताकि व्यक्ति और समाज की प्रगति और विकास मे वाधा पहुचानेवाली रुकावटो को हराया जा सके। "भारत मे जो महान विविधता है और सास्कृतिक समृद्धि है, उसकी तो रक्षा की जाय, परन्तु सस्कृति की दृष्टि से यह जरूरी है कि भारत मन और वुद्धि से एक होकर रहो।" प्रस्ताव मे जात-पात के और साम्प्रदायिक भेद-भावो को मिटाने पर वहुत जोर दिया गया है। "इससे न केवल देश मे फूट फैलती है, वल्कि समानता के आदर्श की ओर वढने मे भी रुकावटे पैदा होती है।"

जात-पात तथा साम्प्रदायिकता ऐसी गहरी सामाजिक वुराइया है,

जिनका मुकाबला हमे हर मोर्चे पर करना होगा। छुआछूत और जात-पात के प्रश्न को हल करना उतना आसान नही है। देश की जनता के हृदय से इस बुराई को निर्मूल करने के लिए राष्ट्रपिता ने दो बार अपनी जान की बाजी लगा दी। भारत के सविधान से हर तरह की छुआछूत को एकदम हटा दिया गया है। "छुआछूत को लेकर यदि किसीपर कोई असमर्थता लादी गई तो कानून मे वह एक अपराध माना जायगा और उसपर सजा है।" ससद मे छुआछूत पर इस आशय का एक कानून बन गया है कि जो लोग इस सामाजिक बुराई को किसी प्रकार भी दरगुजर करेगे वे भी अपराधी माने जायगे। फिर भी हमे यह याद रखना होगा कि जबतक हम दृढ निश्चय के साथ छुआछूत और जात-पात की बुराइयो के पीछे नही पड़ जायगे, वे मिटनेवाली नही है। भारत मे जातीयता और साम्प्रदायिकता के मूलभूत कारणो का हम विश्लेषण करे तो ज्ञात होगा कि हमारे जीवन के अनेक अगो मे इनके लक्षण मौजूद है। हम जिन उपनामो का उपयोग करते है वे जातियो और उपजातियो के ही सूचक है। हमारे उत्तराधिकार-सबधी कानून भी जाति-सम्बन्धी विचारो पर आधारित है। हमने बालिग मताधिकार शुरू किया है, परन्तु देश मे जातीयता और साम्प्रदायिकता के भेदभावो की आग को इसने बढाया ही है। शिक्षा के क्षेत्र मे अभीतक जातियो की अलग-अलग सस्थाए है ही। अब तो ये नाम हट जाने चाहिए। सरकार न तो इन सस्थाओ को मान्यता ही दे और न आर्थिक मदद ही। आज भी ऐसे कई प्रपत्र (फॉर्म) है, जिनमे उम्मीदवार से जात-पात का उल्लेख मागा जाता है। बहुत-से लोगो को ये बाते गौण लगेगी, परन्तु देश मे समाजवादी समाज-रचना करने की बात जब हम सोचते है तो उसमे ये उपेक्षणीय नही है। जात-पात के भेदभाव को बढानेवाले जितने भी कारण है उन सबका हमे परीक्षण करना होगा। राजनैतिक नेताओ तथा समाजसुधारको का कर्तव्य है कि वे इन सबको जडमूल से उखाड़कर फेक दे। इस सुधार के काम मे शिक्षा-सस्थाए बडा काम कर सकती है। उदाहरण के लिए कोई स्कूल या कॉलेज अपने विद्यार्थी को अपने नाम के साथ जात-पांतसूचक चिह्न न लगाने दे। इसी प्रकार जातीय या साम्प्रदायिक शिक्षासस्थाए समय की जरूरत के प्रतिकूल है। अत उन्हे अब नही रहना चाहिए।

फिर समाजवादी समाज-रचना का प्रारम्भ स्वय हमे अपने जीवन मे करना चाहिए। जबतक हम अपने दैनिक जीवन और सोचने के तरीको मे भी आवश्यक परिवर्तन नही कर लेगे, अभीष्ट नये समाज की रचना मे हम सफल नही हो सकेंगे।

४

समाजवादी समाज : सात सिद्धांत

मेरा ख्याल है, समाजवादी समाज के सात बुनियादी सिद्धान्त है। पहला सिद्धान्त है—प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है कि उसे रोजी अर्थात् रोजी कमाने का साधन—काम—दिया जाय और देश मे कोई बेकार न रहे। जबतक काम करने योग्य हर आदमी को पर्याप्त रोजी कमाने के लिए काम नही दिया जाता तबतक समाजवादी समाज की स्थापना असम्भव है। बेकारी और समाजवाद साथ-साथ रह ही नही सकते। जो हो, भारत मे आज हम ऐसे समाजवादी समाज की कल्पना नही कर सकते, जिसके अन्दर किसी भी बेकार मनुष्य को अपना नाम दर्ज करा देने पर बगैर काम किये घर बैठे बेकारी का मासिक भत्ता मिलता रहे। बेकारी के भत्तेवाली समाज-व्यवस्था को हम ठीक नही मानते। महात्मा गाधी ने हमे सिखाया है कि बेकारी अर्थात् निष्क्रियता से मनुष्य का केवल मानसिक और शारीरिक ह्रास ही नही होता, बल्कि नैतिक पतन भी होता है। इसलिए भारत अपने यहा ऐसे समाजवाद की स्थापना करना चाहता है, जिसके अन्दर हर पुरुष और स्त्री अपने खरे पसीने की कमाई ही खाना पसन्द करेगा। गीता ने भी कहा है कि जो मनुष्य बगैर परिश्रम किये खाता है वह चोर है और जो समाज इस दुरवस्था को बरदाश्त कर लेता है, वह असभ्य और अनैतिक है।

समाजवादी समाज का मूलभूत दूसरा सिद्धान्त है राष्ट्रीय सम्पत्ति का अधिक-से-अधिक निर्माण। समाजवादी समाज की स्थापना के लिए केवल इतना काफी नही है कि आप काम करने-योग्य लोगो को रोजी दे। इसके साथ-साथ यह भी जरूरी है कि समाज के आर्थिक जीवन का सगठन हम इस प्रकार करे कि उपभोग्य सामग्री के कुल उत्पादन मे भी काफी

वृद्धि हो ताकि लोगो के रहन-सहन का स्तर ऊचा उठ सके। यह सोचना गलत है कि लोगो को पूरा काम देने के लिए यदि छोटे-छोटे उद्योगो और ग्रामोद्योगो की स्थापना की जायगी तो उससे लोगो के रहन-सहन का स्तर गिर जायगा, क्योकि प्रति व्यक्ति उत्पादन बढाने के लिए कारीगर बिजली, बल्कि अणु-शक्ति का भी उपभोग कर सकेगे। उत्पादन को यदि औद्योगिक सहकारी सगठनो मे विकेन्द्रित कर दिया जायगा तो केन्द्रित उत्पादनवाले बड़े कारखानो की अपेक्षा महगा नही पडेगा। दूसरी बातो मे यदि कही पक्षपात नही किया जाय तो कुल मिलाकर छोटे-छोटे उद्योगो मे पैदा की जानेवाली चीजे बडे कारखानो के उत्पादन की अपेक्षा सस्ती ही पडनी चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि समाजवादी समाज-रचना तभी सफल हो सकेगी जब सबको रोजी देने के फलस्वरूप राष्ट्रीय सम्पत्ति के उत्पादन मे अधिकाधिक वृद्धि भी हो। केवल गरीबी के वितरण से कल्याण-राज्य कायम नही हो सकता।

समाजवादी समाज-रचना का तीसरा सिद्धान्त है राष्ट्र मे अधिकतम स्वावलम्बन। एक राष्ट्र अपने उत्पादन को बढाकर दूसरे अविकसित पड़ोसी देशो को अपना माल बेचकर भी अपने लोगो को पूरा काम दे सकता है। किन्तु ऐसी सकीर्ण राष्ट्रीयता को और पिछड़े राष्ट्रो के शोषण को हमारा समाजवाद अच्छा नही मानता। अतर्राष्ट्रीय व्यापार हम जरूर चाहते है, परन्तु वह स्वच्छ और निर्दोष हो। पडोसी देशो को हानि पहुचाकर हम अपना निर्यात-व्यापार नही बढाना चाहते। हमारे आर्थिक संयोजन का आधार ऐसा न हो। जो समाज अपने देश के बाहर दूसरो का योजना-पूर्वक शोषण करके अपने देश मे समाजवाद की स्थापना करने का ढोग करता है, वह सही अर्थो मे समाजवादी नही कहा जा सकता।

समाजवादी समाज का चौथा मूल-भूत सिद्धान्त है सामाजिक और आर्थिक न्याय। कोई भी राष्ट्र तबतक समाजवादी नही कहा जा सकता, जबतक कि उसके सगठन के अन्दर समानता और न्याय नही होगा। उदाहरण के लिए भारत मे जबतक हम छुआछूत को पूरी तरह नही मिटा देते तबतक समाजवादी राज्य की स्थापना की बाते करना भी व्यर्थ है। यह सामाजिक बुराई भारत की सस्कृति और सभ्यता पर सबसे बड़ा कलक है।

जो समाज-रचना मनुष्य मनुष्य के बीच भेद-भाव बरतती है और अपने ही एक अग को जानवरो से भी बुरी हालत मे डाल देती है, उसमे जडमूल से क्रान्ति होनी ही चाहिए। इसी प्रकार हमारे समाज को समाजवादी रूप देने के लिए स्त्रियो को भी ऊपर उठाना होगा। शराबखोरी और वेश्यावृत्ति को भी मिटाना ही होगा। अन्य जितनी भी प्रकार की सामाजिक असमानताए और अन्याय है, उनको हटाने के बाद भारतीय समाज मे आर्थिक समता को भी बढाना होगा। कहने की जरूरत नही कि इस समय हमारे समाज मे गरीबो और अमीरो के बीच वहुत बडा अतर है। समाजवादी समाज की नीव डालने से पहले इस गहरी और चौडी खाई को पाटना बहुत जरूरी है। कर-जाच-आयोग (टॅक्सेशन इन्क्वायरी कमीशन) ने सुझाया है कि समाज मे १ ३० से अधिक विषमता नही होनी चाहिए। इस विषमता को घटाकर शायद १ २० तक ले आना अधिक उचित होगा। मृत्यु-कर, भारतीय सविधान की धारा ३१ को बदलना, जो जायदाद से सम्बन्ध रखती है, कारखानो की व्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाले कम्पनी लॉ मे बुनियादी परिवर्त्तन करना, इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण और आय-कर की ऊची दरो को बढाना, ये सब समाजवादी समाज की दिशा मे ले जानेवाले कदम है। ग्रामीण और शहरी क्षेत्रो के बीचवाली इन असमानताओ को भी बगैर किसी भेद-भाव के मिटाना ही होगा। आचार्य विनोबा भावे द्वारा जारी किये गए भूदान और सपत्तिदानवाले आन्दोलन केवल भारत मे ही नही, बल्कि समस्त ससार मे समानता पैदा करने के लिए आवश्यक वातावरण तैयार करने मे बहुत सहायक हो रहे है।

समाजवादी समाज की पाचवी बुनियादी कल्पना यह है कि हमारे सारे तरीके शान्तिपूर्ण, अहिसक और लोकतान्त्रिक हो। समाजवादी और साम्यवादी देशो ने समाजवाद लाने के लिए वर्ग-सघर्ष, हिंसा और सत्ता के केन्द्रीकरण से काम लिया है। भारत इस मार्ग का अनुसरण नही करना चाहता। महात्मा गाधी हमेशा कहा करते थे कि साधनो की शुद्धि उतनी ही महत्व की चीज है, जितनी साध्यो की शुद्धि। अच्छे लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए यदि गलत साधनो का प्रयोग किया जाता है तो अच्छे लक्ष्य स्वय अपवित्र और अशुद्ध हो जाते है। भारत की स्वाधीनता भी वह द्वेष और मारकाट के

द्वारा नही लाना चाहते थे। बहुत सोच-विचार के बाद ही भारत ने शान्ति और लोकतन्त्र के मार्ग को पसन्द किया है। इसलिए उसने लोकतान्त्रिक तरीको से ही अपने सब नागरिकों को रोजी देने का तथा अधिक-से-अधिक उत्पादन करने की योजना करने का निश्चय किया है। यह सचमुच एक महान और शायद सबसे बडी चुनौती है। हमारी पहली और दूसरी पचवर्षीय योजनाए इसीलिए खास तौर पर लोकतान्त्रिक और वैधानिक प्रगति पर आधारित की गई है। भारत ने निश्चय कर लिया है कि हर हालत मे वह इन आदर्शों पर ही चलेगा। हिसा और मारकाट का रास्ता नही अपनायेगा। हमे निश्चय है कि अपने करोडो श्रमजीवियो को खुशहाल बनाने के इस महान् और शानदार कार्य मे उसे सफलता अवश्य मिलेगी।

समाजवादी समाज का छठा सिद्धान्त है सत्ता और सम्पत्ति का विकेन्द्रीकरण। यह विकेन्द्रीकरण भारत औद्योगिक सहकारी समितियों और ग्राम-पचायतो की स्थापना द्वारा करना चाहता है। अहिसक और लोकतान्त्रिक समाज के लिए यन्त्रो पर आधारित और अत्यधिक केन्द्रित उत्पादन की पद्धति का सयोजन सम्भव ही नही है। अत्यधिक केन्द्रित उत्पादन के लिए मुट्ठीभर आदमियो के हाथों मे सत्ता और सम्पत्ति का केन्द्रीकरण अनिवार्य हो जाता है। भारत को ऐसी हिसा पर आधारित कठोर सैनिक अनुशासनवाली पद्धति कतई पसन्द नही। भारत मे ग्राम-पचायते बहुत प्राचीन काल से काम करती आई है। उसकी सस्कृति और सभ्यता का वे एक अभिन्न अग रही है। हमारे पूर्वजो ने अत्यन्त सोच-विचार और अनुभव के बाद उनको कायम किया है। पश्चिम के भी बहुत-से महान विचारक अब इसी नतीजे पर पहुच रहे है कि यदि लोकतन्त्र को सफल बनाना है तो उसकी इकाइया छोटी-छोटी ही होनी चाहिए। इस-लिए यदि भारत मे हमे समाजवादी समाज-रचना की योज़ना बनानी है तो लोकतन्त्र को छोटी-छोटी इकाइयो मे बाटना परम आवश्यक है। व्यक्ति और समाज के हितो का सबसे उत्तम सामजस्य ऐसी छोटी-छोटी सामा-जिक इकाइयो मे ही हो सकता है। हम न तो यह चाहते कि समाज की वेदी पर व्यक्ति के हितो का बलिदान हो और न हम यह बरदाश्त कर सकते है कि व्यक्ति अपने स्वार्थों के लिए समाज के हितो की हत्या करे। हम

ऐसे समाज की रचना करना चाहते है, जिसमे किसी प्रकार का शोषण न हो और जिसके अन्दर व्यक्ति और समाज के हितो का सफल समन्वय हो। जाहिर है कि विकेन्द्रित लोकतन्त्र मे ही ये उद्देश्य सिद्ध हो सकते है। भारत अपने समाजवाद की इमारत नीचे से उठाना चाहता है। वह मानता है कि यह चीज ऊपर से लादी नही जा सकती।

हमारे समाजवादी राज्य का सातवा सिद्धान्त 'सर्वोदय' (अन्टू दिस लास्ट) का आदर्श है। गाधीजी यह कहते हुए कभी थकते ही नही थे कि आखिरी अर्थात् सबसे नीचेवाले आदमी की तरफ हमे सबसे पहले ध्यान देना चाहिए। शहरो की सडको को चौडी करने और उन्हे डामर की बनाने के लिए तो हम वडी अधीरता दिखाते हैं, परन्तु गावो मे सादी सडके भी वनाने की हमे चिन्ता नही होती। शहरो मे बडे-बडे मकान और दफ्तरो की इमारते वनाना हमे जरूरी मालूम होता है, परन्तु गावो के लोगो के लिए सीधे-सादे सुन्दर मकान वनाने की वात भी हम नही करते। आजाद हुए हमे इतने वर्ष हो गये, परन्तु देश मे आज भी ऐसे अनेक भाग है, जिनका विकास नही हो पाया है। आज भी इतनी पिछडी हुई आवादिया है, जिनकी तरफ हमारा ध्यान अभीतक नही गया है। समाजवादी समाज-रचना मे उन लोगो की जरूरतो की तरफ सवसे पहले ध्यान देना होगा, जो सवसे अधिक गरीब और गिरे हुए है।

भारत मे समाजवादी समाज की स्थापना के लिए ये सात सिद्धान्त जरूरी हैं। ये राष्ट्र-पिता गाधीजी का सिखावन के अनुरूप ही हैं। सर्वोदय मे इन सबका समावेश हो जाता है और भारत इनपर चलने का निश्चय कर चुका है। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी पूरी शान्ति और वुद्धि से इनके अनुसार चलने का यत्न करे। यदि हम दूसरे देशो के समाज-वादी या पूजीवादी सिद्धान्तो की नकल करने का प्रयत्न करेगे तो हम सही रास्ते को छोडकर भटक जायगे। भगवान की दया से हमे एक अत्यन्त महान सास्कृतिक विरासत मिली है। इस पुण्य-पुरातन देश मे उन्ही मानवी आदर्शों के आधार पर हम अपने समाजवाद की इमारत खडी करना चाहते हैं।

: ५ :

समाजवादी राज्य की ओर

पूर्व या पश्चिम के किसी देश मे प्रचलित समाजवाद की हम नकल करना नही चाहते। दूसरे देशो के जीवन के तरीकों की इस प्रकार नकल करना कभी लाभदायक नही हो सकता। प्रत्येक देश को अपनी निजी प्रकृति, विशेषता और परिस्थितियो के अनुसार ही अपने जीवन का तरीका बनाना होता है। भारत अधिनायकतंत्री—अथॉरिटेरियन—तरीको से नही, लोकतन्त्री तरीको को अपनाना चाहता है। प्रधान मत्री ने स्वय कई बार कहा है कि "मेरा विचार है कि कुल मिलाकर शान्तिपूर्ण लोकतन्त्र का तरीका अधिक फलदायी होता है। समय की दृष्टि से तो उसमे लाभ है ही, परन्तु परिणाम की दृष्टि से वह और भी अधिक लाभदायी होती है।" महात्मा गाधी ने भी तो हमे तथा ससार को यही पाठ पढाया था। गलत साधन अत मे जाकर सही साध्यो को भी अशुद्ध बना देते है और आर्थिक तथा सामाजिक क्रान्तियो मे जल्दबाजी और अधीरता के कारण जब-जब भी हिंसा से काम लिया गया है, अन्त मे वह हानिकर ही सिद्ध हुआ है। पिछले वर्षो मे सयोजन की लोकतान्त्रिक पद्धति के द्वारा भारत ने आर्थिक क्षेत्र मे आश्चर्यजनक प्रगति की है। अपनी इस प्रगति की तुलना हम सयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत रूस सहित ससार के किसी भी देश के साथ कर सकते है। हमे भूलना नही चाहिए कि अमरीका के पास विशाल भू-प्रदेश और अपार प्राकृतिक साधन पडे थे। फिर भी उसे प्रथम श्रेणी का औद्योगिक राष्ट्र बनने मे पूरे सौ वर्ष लग गये। इसी प्रकार सन् १९१७ की अक्तूबर की क्रान्ति के बाद अपनी पहली पचवर्षीय योजना रूस ग्यारह वर्ष बाद बना सका था। चीन की नई साम्यवादी सरकार भी आशा कर रही है कि साम्यवाद की नीव को मजबूत करने मे उसे अभी पन्द्रह-बीस वर्ष और लग जायेगे। इसलिए यह सोचना गलत है कि अधिनायक-तन्त्र के सयोजन लोकतान्त्रिक सयोजन की अपेक्षा अधिक जल्दी फलदायक होता है। हमे तो अब निश्चय है कि अधिनायक-तन्त्री तरीको की अपेक्षा शान्ति का मार्ग ही जल्दी और स्थायी फल देता है।

परन्तु भारत जिस प्रकार का समाजवादी राज्य चाहता है, उसका रूप क्या होगा, यह समझ लेना बडा जरूरी है। अपनी योजना का साफ-साफ चित्र हमे हमेशा अपनी आखो के सामने रखना चाहिए। हमारी आर्थिक नीति के बुनियादी उद्देश्य ये है—१ अधिक-से-अधिक उत्पादन, २ बेकारी का निर्मूलन ३ और सामाजिक तथा आर्थिक न्याय। हम भारी उद्योगो के—खास तौरपर बुनियादी भारी उद्योगो के—विरोधी नही है, परन्तु ऐसे उद्योगो पर यथा-सम्भव स्वामित्व राज्य का ही हो। सचालन भी उनका राज्य ही करे। यदि ऐसे उद्योगो का निकट भविष्य मे राष्ट्रीयकरण नही हो सकता है तो उनपर राज्य का पूरा नियन्त्रण तो अवश्य हो। राज्य अपने साधनो का उपयोग पुराने यन्त्रोवाले वर्तमान उद्योगो को खरीदने मे नही, नये उद्योग खडे करने मे ही करे। हा, पुराने उद्योगो का राष्ट्रीयकरण राष्ट्र की दृष्टि से हितकर हो तो बात दूसरी है। जहातक उपभोग्य वस्तुओ के उद्योगो से सम्बन्ध है, इन्हे औद्योगिक सह-कारी समितियो के रूप मे विकेंद्रित कर देने का हर प्रकार से प्रयत्न कर दिया जाय। राष्ट्रीय विकास परिषद् की एक बैठक मे प्रधान मन्त्री ने कहा था कि बडे उत्पादनवाले कारखानो मे अधिक मजदूरो को काम नही दिया जा सकता। यदि हम चाहे कि हम अपने तमाम बेकारो को बडे कार-खानो मे ही काम दे तो ऐसे कारखाने खडे करने के लिए इतनी अधिक पूजी की आवश्यकता होगी, जिसकी गिनती "खगोल् विद्या के अको मे ही हो सकती है।" इसीलिए उन्होने कहा कि "मुझे जरा भी शका नही है कि बेकारी की समस्या को हम छोटे और गृहोद्योगो के द्वारा ही हल कर सकते है।" उद्योगो के क्षेत्र मे यन्त्रो के उपयोग के भी हम विरोधी नही है, परन्तु विज्ञान के आविष्कारो का उपयोग इस प्रकार किया जाना चाहिए कि जिससे हम अधिकतम उत्पादन, बेकारी-निवारण और आर्थिक तथा सामा-जिक न्याय इन तीनो प्रश्नो को एक साथ हल कर सके। दूसरे शब्दो मे हम जैसे-तैसे नही, इस प्रकार उत्पादन बढाना चाहते है, जिससे राष्ट्र को लाभ हो। प्रसन्नता की बात है कि अवर अर्थात् नये ढग का सुधरा हुआ चरखा एक करोड आदमियो को काम देने की क्षमता रखता है, जिसके लिए केवल डेढसौ करोड रुपये की पूजी लगानी होगी। इस चरखे की मदद से हर मनुष्य

साधारणत बारह आने रोज घर बैठे कमा सकेगा। पूरी और आशिक बेकारी की समस्या को हल करने के लिए हमे इस प्रकार के यन्त्रो की जरूरत है, जिनमे अधिक-से-अधिक मनुष्यो को काम दिया जा सकता है।

आचार्य विनोबा भावे ने कहा था कि बिहार और देश के अन्य भागों मे बाढो ने जो बरबादी की है, उससे उन्हे इतना दु ख नही हुआ जितना गृहोद्योगो और ग्रामोद्योगो के विनाश से होता है। आज भी कितने ही ग्रामोद्योगो की हत्या हमारी आखो के सामने हो रही है। खादी और हाथ-करघों पर काम करनेवालो की हालत बडी शोचनाय हो रही है, यद्यपि पिछले कुछ महीनो मे उसमे कुछ सुधार हुआ है। चावलो की हाथकुटाई के उद्योग की हत्या मिले कर रही है। तेल की मिले तेलघानी उद्योग का खून कर रही है और चीनी की मिले गुड और खण्डसारी के ग्रामोद्योग का प्राण ले रही है। हमारा मतलब यह नही है कि कपडा, तेल, चावल और चीनी की वर्त्तमान मिलो को एकदम बन्द कर दिया जाय, परन्तु ग्रामोद्योग, छोटे उद्योग और बडे उद्योगो के क्षेत्र निश्चित कर दिये जाय, उदाहरणार्थ जैसा कि योजना-आयोग का सुझाव है, खाद्य तेलो का क्षेत्र पूरी तरह से घानियो के लिए सुरक्षित रहे और मिलो मे केवल अखाद्य तेल उत्पन्न किये जाय। इसी प्रकार पोषण की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि चावलो की कुटाई का काम पूरी तरह से हाथ से ही हो। कपडे के क्षेत्र मे भी कुछ किस्मे खादी और हाथकरघो पर ही बने। हम यह निश्चय कर ले कि अन्त मे हाथ-करघों पर केवल सादा या अम्बर चरखे पर कता सूत ही काम मे लिया जाय। हमे विश्वास है कि इन प्रश्नो को अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड अपने हाथ मे लेगा और भारत सरकार भी इस बोर्ड की सिफारिशो के प्रकाश मे ही अपने अतिम निर्णय करेगी।

समाजवादी समाज के आदर्श को कार्यान्वित करने के लिए वर्तमान शिक्षा-पद्धति मे भी हमको आमूल परिवर्तन करना होगा, क्योकि आज एक तरफ तो शिक्षितो मे लगातार बेकारी बढ रही है और दूसरी तरफ हमारी पचवर्षीय योजना के अतर्गत कई महत्वपूर्ण योजनाओ के लिए हम प्रशिक्षित व्यक्तियो की कमी बहुत अनुभव कर रहे है। उदाहरणार्थ ग्रामीण क्षेत्रो के लिए हमे डॉक्टरो और इजीनियरो की पूरी फौज की जरूरत है। प्रधान

मत्री ने राष्ट्रीय विकास परिषद् के सामने ठीक ही कहा था कि हमारी ग्रामीण योजनाओ को पूरी करने के लिए हम इतना नही ठहर सकते कि डॉक्टरो और इजीनियरो को पूरी शिक्षा देने मे वर्षो लगा दे। थोडे और लम्बे समय के प्रशिक्षण वर्ग साथ-साथ चलाये जा सकते है। प्रधानमत्री ने तो यहातक कहा कि "इन लोगो को आधी और चौथाई शिक्षा देकर भी गावो मे भेजा जा सके तो इसे मै पसन्द करूगा, क्योकि इससे इस सक्रमण काल मे ग्रामो की कुछ तो सहायता हो सकेगी।" मतलब यही है कि जरूरत बहुत भारी है और उसको जल्दी-से-जल्दी पूरी करने का ध्यान हमे रखना है।

६

समाजवादी संयोजन मे लोकतन्त्र की दृष्टि

योजना-आयोग ने अपनी सलाह के लिए कुछ वैज्ञानिको का एक मडल नियुक्त किया है। इनकी बैठक का समारम्भ करते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू ने पचवर्षीय योजना के अमल मे लोकतन्त्र की दृष्टि हो, इसपर बडा जोर देते हुए कहा कि इसके लिए हमे किसानो, मजदूरो, बुद्धिजीवियो और समस्त जनता का दिली सहयोग प्राप्त करना चाहिए। उन्होने कहा कि आप यह तो आशा नही कर सकते कि खेतो मे काम करनेवाले किसानो और मजदूरो को आपकी योजना की तफसीलो की जानकारी होगी। फिर भी यह जरूरी है कि हम जो कुछ कर रहे है उसे वे समझे और पसन्द करे, और हमे बतावे कि हम ठीक कर रहे है या नही। श्री नेहरू ने वैज्ञानिको से कहा, "लोकतन्त्री देशो मे लोग किन बातो को चाहते है, इसका वे ध्यान रक्खे। इसका यदि आप ध्यान नही रक्खेगे तो आपको सफलता नही मिलेगी और योजना का सारा प्रयास बेकार होगा। वह समाप्त हो जायगी।" उन्होने यह भी कहा कि सयोजन के सिद्धात प्रत्येक देश की जरूरतो और उसके निवासियो की पूर्व-परम्पराओ, परिस्थितियो और प्रकृति तथा आकाक्षाओ को देखकर ही कायम किये जाने चाहिए।

लोग अक्सर पूछते है कि क्या आर्थिक सयोजन लोकतन्त्र मे सम्भव है। कुछ अर्थशास्त्रियो और राजनीतिज्ञो का यह पक्का विश्वास है कि सयो-

जन मे कड़े नियन्त्रण वगैर सम्भव नही और ऐसा कडा नियन्त्रण लोगो की आजादी छीन लेता है, वे गुलाम बन जाते है। दूसरे विचारको का ख्याल है कि आर्थिक सयोजन सही मानो मे सफल तभी होगा जब वहा लोकतन्त्र का—आजादी का—वातावरण होगा। सोवियत रूस का सयोजन डिक्टेटर शाही का, जोर-जबरदस्ती का, सयोजन है। ऐसे कड़े नियन्त्रणवाले केन्द्रित सयोजन मे व्यक्ति आजादी नही अनुभव करता। उत्पादन के लक्ष्यो को पूरा करने, वितरण का प्रबन्ध करने और सब लोगो को पूरा काम देने की सारी जिम्मेदारी और सत्ता शासन अपने हाथ मे ले लेता है। वहा व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए कोई स्थान ही नही होता। वह राज्य-सयोजन के महान यन्त्र का एक पुर्जा-मात्र बन जाता है। इसी प्रकार का सयोजन चीन जैसे दूसरे साम्यवादी देशो मे भी चल रहा है। बेशक, स्थानीय परिस्थितियो के अनुसार, छोटे-बड़े मामूली फेर-फार अवश्य होते है। उधर सयुक्त राज्य अमरीका, फ्रान्स और यूरोप के दूसरे देशो मे खेती और उद्योगो के उत्पादन, मजदूरी देने और सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्रो मे जब जहा जैसी जरूरत हुई, टुकडो मे सयोजन से काम लिया गया है। उदाहरणार्थ सयुक्त राज्य अमरीका मे जब बहुत बडी मन्दी आई तो उसका मुकाबला करने के लिए राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने राष्ट्रीय राहत अधिनियम—नेशनल रिकवरी एक्ट—बनाया। इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन मे बीवरिज समाज-सुरक्षा योजना बनी थी। दूसरे कई देशो मे भी राष्ट्रीय जीवन के सीमित क्षेत्रो मे सयोजन के प्रयोग किये गए है, परन्तु लोकतन्त्र मे देश-व्यापी रूप मे संयोजन का विशाल प्रयोग करने का साहस ससार मे एकमात्र भारत ही कर रहा है। जब पहली पचवर्षीय योजना बनी तो लोगो को उसकी सफलता के बारे मे बडी शंकाए थी, परन्तु उसने अनेक क्षेत्रो मे अपने निर्धारित लक्ष्यो से भी अधिक सफलता प्राप्त करके दिखा दी और जनता के हृदय मे एक प्रकार के आत्म-विश्वास और स्वावलम्बन की भावना भर दी।

दूसरी पचवर्षीय योजना भी काफी आगे बढ गई है और समाजवादी स्वरूप के समाज की नीव डालने की आशा दिला रही है। उसपर ठीक प्रकार से अमल होने से वह राष्ट्रीय आय को २५ प्रतिशत बढा देगी और शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रो मे कुल मिलाकर करोड सवा करोड़ अधिक

मनुष्यो को रोजी दिला सकेगी। वह कई भारी और महत्वपूर्ण उद्योग खडे कर देगी, जो भावी आर्थिक विकास के सुदृढ आधार का काम करेगे। इसके अलावा सारे देश मे वह छोटे-छोटे और गृहोद्योग भी फैला देगी। औद्योगिक विकास के अलावा दूसरी पचवर्षीय योजना मे खेती की उपज को वढाने पर भी वहुत ज़ोर दिया गया है। इससे जहा एक तरफ देश के निवासियो के लिए भरपूर अन्न हो जायगा, वहा दूसरी ओर अन्नो के अलावा उपज बेचकर विदेशी मुद्रा भी कमाई जा सकेगी, जिससे वाहर से यन्त्र-सामग्री और अन्य प्रकार का कच्चा माल मगाया जा सकेगा। दूसरी पचवर्षीय योजना के अतर्गत हमारी अनेक नदी-घाटी योजनाए पूरी हो जायगी और वे हमारे कारखानो के लिए अधिकाधिक विजली देने लग जायगी। ये सारी सफलताए, खासतौर पर भारत जैसे अविकसित देश के लिए, वडी आनन्ददायक होगी। प्रधान मन्त्री लोगो से हमेशा अपील करते रहते है कि वे नवीन भारत के निर्माण के महान पुरुषार्थ मे शरीक हो। इस महान साहसिक कार्य की विशेषता यह है कि यह लोकतन्त्र के शान्तिपूर्ण तरीको से किया जा रहा है।

यह सोचना भूल है कि डिक्टेटरशाहीवाले देशो मे जितनी तेजी से प्रगति होती है, उसकी तुलना मे यह लोकतन्त्री पद्धति धीमी है। उदाहरणार्थ हमसे प्राय कहा जाता है कि चीन मे आर्थिक विकास की गति भारत की अपेक्षा कही तेज है। यह सच भी है कि कुछ वातो मे चीन हमसे आगे है, परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि कई अनेक वातो मे चीन से भारत आगे है। चीनी गणराज्य के प्रधानमन्त्री श्री चाऊ एन लाई ने अपने वम्वई के एक भाषण मे कहा था कि "राष्ट्रीय विकास के अनेक क्षेत्रो मे भारत ने वहुत काम किया है।" उन्होने कहा था कि कई वातो मे भारत चीन से आगे है और चीन के लोगो को चाहिए कि वे अपने भारतीय मित्रो से नम्रतापूर्वक ये वाते सीख ले। इन दो देशो के बीच पिछले दो हजार वर्षो से दोस्ती चली आई है। इन दो महान् देशो को परस्पर के साथ आर्थिक, सास्कृतिक और दार्शनिक सम्वन्ध स्थापित करने के अनेक अवसर मिले है। परन्तु आज ये दोनो देश भिन्न आर्थिक और राजनैतिक विचार-धाराओ को मानते है। भारत दृढता के साथ लोकतन्त्र और अहिंसक क्रान्ति की

राह पर चल रहा है। और चीन डिक्टेटरशाही के मातहत अपने मार्ग पर जा रहा है। फिर भी दोनो देश एक-दूसरे से काफी नई-नई बाते सीख सकते है, परन्तु भारतवासियो को जरा भी यह आशका नही होनी चाहिए कि लोक-तन्त्री सयोजन डिक्टेटरशाही सयोजन की अपेक्षा धीरे-धीरे काम करता है।

फिर भी यह अति आवश्यक है कि लोकतन्त्र मे सयोजन खेती तथा उद्योगो के विकेन्द्रीकरण की पद्धति से हो। बडे-बडे बुनियादी उद्योग राष्ट्र के ही हो और वही उनका सचालन भी करे, परन्तु उपभोग्य वस्तुओ के उद्योग सहकारिता के आधार पर, जितना भी सम्भव हो, व्यापक रूप से विकेन्द्रित कर दिये जाय। राष्ट्र का निर्माण बिल्कुल नीचे से हो, इस दृष्टि से प्रत्येक गाव या कुछ गाव मिलकर अपनी जरूरतो के बारे मे स्वाश्रयी बनने और अपनी बुद्धि से ही हर काम को करने की कोशिश करे। इस दृष्टि से राष्ट्र-निर्माण मे पचायतो और सहकारी समितियो का भाग अत्यन्त महत्व-पूर्ण होगा। यदि ऐसा नही किया गया तो लोकतन्त्र मे भी सयोजन अत्या-चार और सैनिक ढग की जबरदस्ती का एक कारण बन सकता है। हमे सदा यह ध्यान रखना है कि लोकतन्त्र मे सयोजन वही सफल माना जा सकेगा, जिसमे खासकर ग्रामीण क्षेत्र के लोगो को अपनी शक्ति का भान होने लग जाय और वे अपनी निजी सूझ-बूझ से हर काम करे। अभी तक शासकीय कार्यक्रमो मे लोग सहयोग देते रहे है। अब सामुदायिक विकास-योजनाए ऐसा प्रयत्न कर रही है कि लोगो की योजनाओ मे सरकार सहयोग दे। देश मे समाजवादी स्वरूप के समाज का निर्माण करने का यही एकमात्र लोकतात्रिक तरीका है। केन्द्रीकरण से और नौकरशाही तरीको से बचने का हमे हमेशा ध्यान रखना होगा। यदि ऐसा नही करेगे तो हमारे मार्ग मे वडी कठिनाइया आयगी और वडी-वडी मुसीवतों का सामना करना होगा।

: ७ :

नीचे से संयोजन

भारत के सविधान के निर्देशक सिद्धान्तो मे से एक यह है कि "स्वशासन की इकाइयो के रूप मे राज्य ग्राम-पचायतो का संगठन करेगा।"

गाधीजी ने भी आर्थिक और राजनैतिक सत्ता को विकेन्द्रित करना लाभ-दायक माना और इस हेतु से ग्राम-पचायतो को पुनर्जीवित करने की सलाह दी है। उनका तो सच्चे स्वराज्य का सपना यह है कि "सारे देश मे स्वावलम्बी स्वशासित छोटे-छोटे ग्राम-राज्य कायम हो जाय।" सौभाग्य से सारे राज्यो ने अपने-अपने यहा ग्राम-पचायतो की स्थापना के सम्बन्ध मे कानून वना दिये है। इनकी रचना और अधिकार अवश्य हर राज्य मे अलग-अलग प्रकार के है, परन्तु उन सवमे ऐसे वीज है, जिनके द्वारा हम विल्कुल नीचे से छोटी-छोटी स्वायत्त ग्राम-सभाओ के आधार पर अपने नवीन लोकतन्त्र की इमारत खडी कर सकते है।

आज पश्चिम के तमाम अग्रगामी राजनीतिज्ञ और समाज-सुधारक भी मानने लग गये है कि यदि लोकतन्त्र को आज एक सामाजिक और आर्थिक सगठन के रूप मे सफलतापूर्वक काम करना है तो उसे विकेन्द्रित रूप मे ही काम करना होगा। अध्यापक जोड ने कहा है कि "यदि समाज की कर्तृत्व शक्ति मे मनुष्य की श्रद्धा फिर से जगानी है तो राज्य के छोटे-छोटे टुकडे करने होगे और उसके अधिकारो को भी वाट देना होगा।" डॉ० ब्रूडिग भी मानते है कि "छोटे-छोटे सुगठित गणराज्यो मे ही सच्ची सभ्यता की रक्षा हो सकती है।" आधुनिक समाज-शास्त्र भी इस सिद्धान्त को मानता है कि "छोटी-छोटी इकाइयो मे मनुष्य वडा सुखी रहता है।" आधुनिक समाज के दोषो का विश्लेषण करते हुए प्राध्यापक एडम्स कहते है कि "वुराई की जड मे जाकर देखिये और साहस के साथ विकेन्द्रीकरण और सत्ता के बटवारे का मार्ग ग्रहण कीजिये। अमरीका का प्रसिद्ध समाज-शास्त्री लेविस ममफोर्ड भी "गावो मे छोटी-छोटी सामाजिक इकाइया ही वनाने की सलाह देता है। आज भी अमरीका मे ग्रामीण और सहकारी जीवन के निर्माण मे छोटी-छोटी इकाइया बडा काम कर रही है। प्रगति के पथ पर 'केन्टुकी ऑन दि मार्च' सर्वोदय के मार्ग पर चलनेवाले स्त्री-पुरुषो की वडी दिलचस्प कहानी है। 'छोटे कस्वो का पुनरुज्जीवन'[1] मे वडे ज़ोर के साथ कहा गया है कि

---

[1] 'स्माल टाउन रिनेसा'

"प्राणवान लोकतन्त्र के पनपने और एक शक्ति के रूप मे बढाने के लिए आवश्यक वातावरण केवल छोटी-छोटी इकाइयो मे ही मिल सकता है।" न्यूयार्क के पास अपने 'जीवन-विद्यालय' मे डॉ० बोरसोदी छोटी इकाइयो मे विकेन्द्रित जीवन के विकास का प्रयोग कर रहे है। ओहियो मे यलो स्प्रिंग्स मे डॉ० मॉर्गन का सामाजिक जीवन के निर्माण का प्रयत्न भी लोकतन्त्री जीवन की रक्षा का और उसे स्थायित्व प्रदान करने का एक साहसभरा प्रयत्न है।

इस प्रकार ग्राम-पचायतो की कल्पना कोई मध्ययुग की पिछडी हुई कल्पना या कबाइली जीवन का अवशेष नही है। जैसा कि डॉ० राधाकृष्णन ने कहा है, "ग्रामीण जीवन को अपनाने का अर्थ जगली अवस्था को लौट जाना नही है, भारत की प्रकृति के अनुकूल जो जीवन है उसकी रक्षा करने का वह एकमात्र तरीका है।" डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने अपने 'डेमोक्रैसीज इन दि ईस्ट' मे लिखा है कि किस प्रकार "ग्राम-पचायते नवीन समाज का सुन्दर नमूना पेश कर सकती है। इनमे अलग-अलग धन्धो मे लगे हुए ग्रामीणजन हिल-मिलकर प्रेम से रहेगे और भावी राज्य के निर्माण मे इस केन्द्रित ससदीय लोकतन्त्र की अपेक्षा कही अधिक और सन्तोषजनक योग देगे।" ग्रामीण जीवन का यह तरीका पुराना, बेकार तथा त्याज्य नही है। शासन और आर्थिक सगठन की बुनियादी इकाई के रूप मे वह विज्ञान के इस युग के अनुरूप ही है। इतनी सारी वैज्ञानिक प्रगति के बावजूद केन्द्रीकरण की अपेक्षा विकेन्द्रीकरण का आश्रय लेने मे ही समाज का कल्याण है। यह सोचना भी गलत है कि ग्राम-पचायतो का जीवन अकेला तथा एकातिक होगा। प्राचीन काल मे भी लोगो का जीवन ऐसा नही था। सारे स्तरो पर समाज की कडिया बराबर एक-दूसरे से जुडी हुई थी। सच तो यह है कि विज्ञान और लोकतन्त्र की प्रगति का स्वाभाविक परिणाम यही होना चाहिए कि आर्थिक और राजनैतिक सत्ता का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण और वितरण हो।

लोकतन्त्र मे राष्ट्रीय सयोजन तभी सफल होगा जब योजनाओ का निर्माण और अमल लोगो पर ऊपर से लादने के बजाय ठेठ नीचे से लोग स्वय शुरू करेगे। इसलिए सच्चे आर्थिक संयोजन का मार्ग यही है कि नीचे

से सुसगठित व्यवस्थित छोटी-छोटी इकाइया गावो और छोटे-छोटे कस्वो मे भी वनाई जाय। प्रसन्नता की वात तो यह है कि हमारे देश की पचवर्षीय योजनाओ मे इस वात का अर्थात् आर्थिक क्षेत्र मे विकेन्द्रीकरण का ध्यान रक्खा गया है। सामुदायिक विकास योजनाए और राष्ट्रीय विकास-खण्डो की योजनाए इसी दिशा मे लिये गए सही कदम है। इनकी छोटी-छोटी वातो मे भले ही थोडा-वहुत मतभेद हो। स्थानीय योजनाओवाले भाग हमारी राय मे इस राष्ट्रीय योजना का मूल है। परन्तु ये स्थानीय योजनाए तभी सफल होगी जव इनपर अमल करने के लिए सक्षम और सुगठित पचायते देश-भर मे होगी। यदि इस प्रकार अपने राष्ट्रीय जीवन के निर्माण का काम हम नीचे से ग्राम-पचायतो के निर्माण से लेकर सच्चे दिल से करेगे तो हमारे देश के नागरिक जीवन और न्याय-प्रशासन मे भी प्रत्यक्ष लाभ दिखाई देगा।

ग्राम-पचायतो की प्राचीन परपरा इस देश मे आजकल की तरह दल-पद्धति की नही, सपूर्ण समाज को एक मानकर चलनेवाली सुगठित लोक-तत्र की थी। पचो को प्रत्यक्ष परमेश्वर के समान माना जाता था। पचायतो के चुनाव प्राय सर्वसम्मति से होते थे। जहापर सव एकमत नही हो पाते थे वहा पर्चिया डालकर छोटे वच्चे से एक पर्ची उठवा ली जाती थी। लोकतत्र की स्वस्थ परम्पराओ के आधार पर यदि हम देश का निर्माण करना चाहते हैं तो हमे अपनी पचायतो को फिर से जीवित करना होगा और उनके निर्माण और सचालन मे सर्वसम्मति से काम करने की पद्धति शुरू करनी होगी। आशा है, देश के राजनैतिक दल इस प्रश्न पर गभीरतापूर्वक विचार करेगे और ग्रामपचायतो को दलगत राजनीति के अखाडे नही वनायगे। हम सवको चाहिए कि अपनी पुरानी पचायत-सस्था को पुनरुज्जीवित करे और उसेदल और सप्रदायो के विचारो से अलग और ऊपर रखकर सस्कारशील, उदार पद्धति से पचायतो को चलाये, तभी हम भारत का उसकी सच्ची प्रकृति के अनुरूप निर्माण कर सकेंगे।

लगभग सभी राज्य-सरकारो ने ग्राम-पचायतो और न्याय-पचायतो की स्थापना के वारे मे आवश्यक कानून भी वना दिये है। हा, प्रत्येक स्थान की विशेष परिस्थिति और परम्पराओ के अनुसार इन कानूनो मे विविधता

काफी है। अब यह जरूरी है कि इन पचायतों के काम के अनुभव को एकत्र किया जाय और प्रशासन, न्यायदान और राष्ट्र के आर्थिक सयोजन की दृष्टि से इन्हे सबसे उत्तम साधन किस प्रकार बनाया जा सकता है, इसका प्रयत्न किया जाय। ग्राम-पचायतो और न्याय-पचायतो के पारस्परिक सम्बन्ध अलग-अलग राज्यो मे अलग-अलग प्रकार के है। कुछ राज्यो मे न्याय-पचायते ग्राम-पचायतो की उपसमितियो के रूप मे काम कर रही है। दूसरे कई राज्यो मे ये स्वतत्र रूप से अलग-अलग काम कर रही है और दोनो मे शायद ही कोई सम्बन्ध है। इसी प्रकार प्रशासन और कर लगाने सम्बन्धी पचायतो के अधिकार भी अलग-अलग राज्यो मे अलग-अलग है।

भारत सदियो से पचायतो का घर रहा है। वेदों, जातको, धर्म-सूत्रो, महाभारत, मनुस्मृति, शुक्र-नीतिसार, कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मुस्लिम शासको तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कागजो मे उनके विस्तृत उल्लेख पाये जाते है। कितने ही राजवशो और साम्राज्यो का उत्थान और पतन हुआ, परन्तु ये छोटे-छोटे गणराज्य निर्बाध रूप से अपना काम करते रहे। हा, ब्रिटिश राज्य मे जरूर इनको बहुत बड़ा धक्का लगा। इसका कारण अग्रेजो का अत्यधिक लोभ था। वे सत्ता को पूरी तरह से अपने हाथो मे रखना चाहते थे, इसलिए लगान की बसूली भी अपने ही हाथो मे उन्होने ले ली। परन्तु अब पुराने धागो को फिर से एकत्र किया जा रहा है और हमे निश्चय है कि गाधीजी के सपने के नवीन भारत के निर्माण मे पचायते बड़ा महत्वपूर्ण काम करेगी। पिछले कुछ दशको मे पचायते बड़ी दुर्दशा मे पहुच गई थी और लोग उनकी क्षमता और प्रतिष्ठा मे विश्वास खो चुके थे। इसलिए ग्रामीण समाज मे इनकी शक्ति और उपयोगिता के बारे मे पूरा विश्वास उत्पन्न होने मे स्वभावत कुछ समय लगेगा। फिर भी निराशा का रत्तीभर भी कारण नही है।

पश्चिम के लोकतत्र मे अनेक खामिया है। उसमे यान्त्रिक जडता और सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीकरण हो गया है। अपनी इस प्राचीन विरासत को यदि हम फिर से अपना ले तो भारत अपना और दूसरे अनेक राष्ट्रो का भी अपने उदाहरण द्वारा काफी भला कर सकेगा। सत्ता और सपत्ति की

विकेन्द्रित व्यवस्था और वर्ग-पक्ष-मुक्त (सारे समाज को एक मानकर) प्रबन्ध मे इस पद्धति के दो वडे गुण है। गाधीजी ने कहा है, "केन्द्र मे बीस आदमी बैठ जाय और शासन-प्रबन्ध करे यह लोकतत्र नही है। सच्चे लोक-तत्र मे तो गावो मे बैठकर लोग नीचे से काम करते है।" गावो मे स्वस्थ और शक्तिशाली ग्राम-पचायतो की स्थापना होगी और वे सूझ-बूझ से काम करने लगेगी। तब लोकतत्र की पद्धति का आर्थिक सयोजन सफल होगा।

८

संयोजन और सर्वोदय

"विनोबाजी के सर्वोदय की कल्पना हममे से बहुतो को कुछ अजीव-सी भले ही लग रही हो, परन्तु मूलत देखा जाय तो आज हम इस बारे मे जितने भी शब्दो का प्रयोग करते है उन सवसे यह शब्द और कल्पना भी दोनो अधिक अच्छे है। सच तो यह है कि मैं उसका उपयोग केवल इस-लिए जान-बूझकर नही कर रहा हू कि हम अभी अपनेको उस योग्य नही पाते और हमे सकोच होता है कि उस उच्च कल्पना और पवित्र शब्द का कही दुरुपयोग न हो जाय: आज सारे भारत मे एक मथन-सा चल रहा है। कही पचवर्षीय योजना को सफल बनाने की धुन है तो कही खेती को सुधारने की चिन्ता है, कही छोटे-बडे उद्योग कहा-कहा खोले जाय इसकी चिन्ता है तो कही समाज-सुधार और समाज-कल्याण की भाग-दौड चल रही है। कही भाषा के विवाद जोर-जोर से चल रहे है, तो कही राजनैतिक और आर्थिक प्रश्नो की गरमा-गरम चर्चाए चल रही है। कही फूट है तो कही एकता की कोशिशे और अपीले जारी हो रही है। मतलव यह कि आज देश मे इस प्रकार एक तूफान-सा आया हुआ है, परन्तु इन सवके वीच विनोवा की दुर्वल मूर्ति चट्टान की भाति दृढता के साथ खडी है। यो दीखने मे वह सौम्य और शान्त है, परन्तु अपने अन्दर वह लम्वे अतीत की सारी शक्ति समेटे हुए है और उनकी आखो मे भविष्य का स्वप्न भी मानो साकार खडा है।"[१]

---

[१] पढरपुर सर्वोदय-सम्मेलन के लिए प्रधानमन्त्री नेहरूजी का सन्देश।

पढरपुर सर्वोदय सम्मेलन के समक्ष भाषण देते हुए विनोबा ने बडा ज़ोर देकर कहा कि सयोजन ठेठ नीचे से गाव से ऊपर की ओर होना चाहिए। दिल्ली मे बैठकर देश के लाखो गावो के लिए जो योजना बनेगी, वह सही नही होगी। इसी बात का समर्थन करते हुए नेहरूजी ने दिल्ली की एक पत्रकार-परिषद मे कहा था—"सच्चा सयोजन सरकार के किसी अग के द्वारा हो ही नही सकता।" अगर सच्चा और व्यावहारिक सयोजन व्यापक तौर पर करना है तो उसमे लोगो का—ठेठ गावो के लोगो का—सहयोग होना चाहिए। "जाहिर है कि यदि आपकी योजनाए ठेठ गावों तक पहुचना चाहती है तो यह काम नौकरशाही ढग से केवल ऊपर बैठकर नही बन सकता। खैर, नौकर तो रहेगे ही। हर राष्ट्र मे होते है, उनकी निन्दा करने मे कोई लाभ नही। केवल वे ही अपने मनमाने ढग से काम करते रहे तो वह बुरा—खतरनाक—होता है। परन्तु वे जनता की इच्छा के अनुसार और उसके अनुकूल काम करेगे अर्थात् दोनो सहयोग से काम करते है और एक-दूसरे की मदद करते है तब काम अच्छा होता है।"

आबू मे सामुदायिक विकास योजनाओ के बारे मे हुई परिषद ने भी गावो की विभिन्न सस्थाओ अर्थात् ग्राम-पचायतो, सहकारी समितियों और शालाओ का सहयोग लेने पर बडा जोर दिया गया था। श्री बलवत राय मेहता के सभापतित्व मे योजना-कार्यो के बारे मे जो समिति बनाई गई है, उसने भी विकास-खण्डो की पचायतो तक शासन को विकेन्द्रित करने पर जोर दिया है और कहा है कि ग्राम-पचायतो को काफी अधिकार दिये जाने चाहिए। व्यावहारिक दृष्टि से भी हमको इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। भारत एक बहुत विशाल और कम विकसित देश है। इसकी आबादी और क्षेत्र भी बहुत है। केन्द्रित सत्तावाले शासन या योजना-आयोग के लिए यह असम्भव है कि वह एक-एक गाव की हालत और जरूरतो को जानकर उसके सर्वागीण विकास की पूर्ति कर सके। शक्ति, सिचाई, परिवहन, सचार और बडे-बडे भारी उद्योगो की योजनाओं मे भी लोगो को अवश्य दिलचस्पी है। परन्तु इनसे कही अधिक दिलचस्पी उन्हे उन योजनाओ मे होती है, जो उनकी प्रत्यक्ष जरूरतो से सम्बन्ध रखती

है और जो उनकी आखो के सामने चलती हैं। इसलिए इस प्रकार की योजनाओ के क्षेत्र को अधिक बढाना चाहिए और लोगो को प्रोत्साहन और अनुकूलताए प्रदान करनी चाहिए कि वे स्वय अपनी योजनाए बनावे और प्राथमिकता के अनुसार उन्हे कार्यान्वित भी करे। प्रसन्नता की बात है कि लगभग तमाम राज्य-सरकारे अब यह प्रयत्न कर रही है कि स्थानीय योजनाए ग्राम-पचायते ही बनावे और वे ही उन्हे पूरी भी करे।

परन्तु हम अपने सही उद्देश्य को तभी पा सकेंगे जब राष्ट्र के सयोजको की वृत्ति नौकरशाही से भिन्न होगी। हम सबको यह पक्की गाठ बाध लेनी चाहिए कि लोकतन्त्र मे सयोजन तभी सफल होगा जब लोग अपना सयोजन खुद अपने लिए करेंगे। फिर लोकतन्त्र का मुख्य तत्व यही है कि लोगो का आदर हो। जबतक उनके हाथो मे काफी अधिकार नही होंगे और उन्हे अपनी जिम्मेदारिया पूरी करने का अवसर नही दिया जायगा। तबतक उनमे नागरिक कर्तव्यो का भाव, उसके लिए आवश्यक सूझ-बूझ और अभिक्रम नही जागेगा। लोकतत्र मे सयोजको का सबसे पहला कर्तव्य यह है कि वे मानव का विकास करे। जैसा कि प्रधान मन्त्री ने कहा था, सबसे महत्व की बात तो यह है कि आप मानव की तरफ कितना ध्यान देते है। यदि लोकतन्त्र मे मनुष्य को अपने विकास का अवसर नही मिलता, उसके व्यक्तित्व को दबा दिया जाता है तो वहा सयोजन मे सफलता की अधिक आशा नही की जा सकती।"

इसका मतलब यह नही कि हम गावो को अलग-अलग रहने दे और देश के शेष भाग से उनका कोई सम्बन्ध न हो। प्राचीन काल मे भी ऐसा नही था। उनका आपस मे तथा ऊपर की बडी अर्थात् जिले और प्रान्त के स्तर की सस्थाओ से बराबर सम्बन्ध था। ग्राम-पचायत के ऊपर खण्ड पंचायत, जिला पचायत और राज्य-सरकार होगी। परन्तु ऊपर की पचायत का मुख्य काम देख-भाल, मार्ग-दर्शन और समन्वय का ही होगा। ग्रामो और कस्बो को यह समझा दिया जाय कि अपने विकास-कार्यो के लिए उन्हे अपने ही धन-जन के साधनो पर निर्भर रहना चाहिए। उदाहरणार्थ, आशिक या पूरी बेकारी की समस्या को प्रत्येक स्थान के लोग खुद ही हल करे।

दिल्ली के योजना-आयोग से यह आशा न करे। अगर लोगो से कह दिया जाय कि अपने-अपने गावो की बेकारी को मिटाने की योजना और उसका अमल उन्हे खुद करना होगा तो लोग अपनी स्थानीय योजनाओ मे अपने बेकार मनुष्यो के लिए काम पैदा कर लेगे और उन्हे पूरा भी करवा लेगे। बहुत हुआ तो इसके लिए जिले को एक इकाई मान लिया जाय। गावो का पूरा विकास केन्द्रीय सत्ता करे यह आशा करना व्यर्थ है।

इसलिए सर्वोदय का आदर्श आर्थिक और राजनैतिक सत्ता के अधिक-से-अधिक विकेन्द्रीकरण द्वारा सबका कल्याण साधन है। गाधीजी हमेशा कहा करते थे कि वह स्वराज्य निकम्मा होगा, जो हर गाव मे स्वतन्त्रता का तेज नही जगा सके। प्रधान मन्त्री और सामुदायिक विकास-योजनाओं के मन्त्री भी यही मानते है। यद्यपि हम 'सर्वोदय' शब्द का प्रयोग नही करते है फिर भी हमारी सारी विकास-योजनाओ का लक्ष्य तो उसी आदर्श को जल्दी-से-जल्दी प्राप्त करना है। यह भी माना कि सर्वोदय के नमूने की समाज-रचना हम जल्दी नही कर सकेगे, परन्तु हमारे लक्ष्य के बारे मे कोई भ्रम नही होना चाहिए। भारत सर्वोदय के नमूने के लोकतन्त्र की स्थापना करना चाहता है और उसका संयोजन विकेन्द्रीकरण, सहकारिता और शाति के सिद्धान्तो पर होगा। इस विषय मे किसीको भ्रम न रहे। इसलिए विकेन्द्रीकरण, हिसा और अन्त सघर्ष की दिशा मे जहा-कही भी काम होता दिखाई दे, उसे दृढता के साथ रोक दिया जाना चाहिए।

पश्चिम के देशो मे अथवा अधिराज्यवाले (टोटलिटेरियन) देशो मे सयोजन की जिन पद्धतियो से काम लिया जा रहा है, उनकी नकल यहा भारत मे करने की जरा भी जरूरत नही है। अनादि काल से हमारी अपनी निराली सस्कृति रही है। हमे अपना सयोजन उसीके अनुकूल करना चाहिए। बेशक हम दूसरे देशो से भी ग्रहण करने लायक बाते जरूर लेगे और उनके अनुभव से लाभ उठावेगे, परन्तु हम अपने मूल आधार को छोडकर बाहर की हवा मे नही उडेगे और अपने-आपको नही खोयेगे। यदि हम अपने घर को ही देखेगे और साथ ही दूसरो की अच्छी बातो के लिए अपने दिमाग को खुला भी रख सकेगे तो आशा है, हम कोई राजनैतिक और आर्थिक पद्धति भी ढूढ निकाले, जो हमारे लिए उपयोगी हो और

दूसरो के लिए भी मार्ग-दर्शक हो सके ।

९

नैतिक मूल्यों की आवश्यकता

कारखाने, उत्पादन की वृद्धि और उसका उपयोग ये सब देश की प्रगति के लिए आवश्यक है, परन्तु प्रगति केवल यही समाप्त नही हो जाती। "हरेक सभ्यता की जड मे कुछ नैतिक सिद्धान्त होते है और प्रत्येक राष्ट्र को अपने जीवन-व्यवहार मे कुछ नैतिक पैमानो का मानदण्डो पालन करना होता है। यदि किसी राष्ट्र मे या उसके निवासियो मे इनकी कमी है तो विज्ञान और यन्त्र-शास्त्र की सारी प्रगति—उसे भी हम अवश्य चाहते है—कोई मूल्य नही रखती। अन्त मे जाकर किसी भी राष्ट्र या उसके निवासियो की प्रतिष्ठा का नाप उनकी नीतिमत्ता और आचार-व्यवहार से ही होती है।"

देश मे इस समय जो हिसा और अनुशासनहीनता बढती जा रही है और व्यवहार मे आचार का स्तर गिरता जा रहा है, उसकी यदि हम उपेक्षा करेगे तो भारी हानि उठावेगे। अपने उद्देश्यो की सिद्धि मे साधन-शुद्धि पर गाधीजी बडा जोर देते थे। हम साधनो की शुद्धि का जितना आग्रह रक्खेगे उतने ही हम अच्छे उद्देश्यो की प्राप्ति मे सफलता पा सकेगे। दूसरे मार्ग गलत होगे और उनसे राष्ट्र की केवल हानि ही होगी। वे राष्ट्र की नैतिक प्रतिष्ठा और पैमानो को गिराने के अतिरिक्त देश मे फूट और कलह ही फैलावेगे।

भारत ने आर्थिक सयोजन का एक साहसभरा प्रयोग बडे पैमाने पर इस लोकतन्त्र मे शुरू किया है। यह कदम अत्यन्त महत्वपूर्ण है—न केवल भारत के लिए, बल्कि समस्त ससार के लिए। अत स्वभावत इसकी सफलता पर सबकी आखे लगी हुई है, परन्तु इसका स्थायी प्रभाव केवल हमारी भौतिक सफलताओ पर नही, बल्कि इसपर भी निर्भर करेगा कि हमने इसके साथ-साथ अपना नैतिक और आध्यात्मिक बल कितना बढाया। सयोजन मुख्यत मनुष्यो के पारस्परिक व्यवहार से सम्बन्ध रखता है। इसलिए सयोजन की सफलता मानवी अर्थात् नैतिक और आध्यात्मिक गुणो

की वृद्धि से नापी जायगी। यदि समाज मे ये मानवी गुण नही बढे है, यदि मनुष्यो के दिल बडे नही हुए है, उनकी दृष्टि व्यापक नही हुई है और चरित्र अधिक शुद्ध और उच्च नही हुए है तो सयोजन का सारा आधार ही चला जाता है। दूसरे शब्दो मे भारत को केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार मे ही नही, अपने घर मे भी मनुष्य मनुष्य और समाज के व्यवहारो मे भी पचशीलो का पालन करना होगा, अर्थात् अपने महान् उद्देश्यो की सिद्धि के लिए हमे नैतिक मूल्यो और साधन-शुद्धि का आग्रह रखना होगा।

ससार के राष्ट्रो मे भारत को लोग आज निश्चित रूप से आदर और प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते है। यह आदर उसे इसी कारण प्राप्त हुआ है कि ससार के प्रश्नो की तरफ देखने और उनको हल करने मे उसकी दृष्टि न्याय और निष्पक्षता की रही है। यह प्रतिष्ठा और आदर बाहर तभी बना रह सकता है जब हम अपने घर मे भी उन्ही सिद्धान्तो पर अमल करेगे। यदि हमारी करनी और कथनी मे अन्तर होगा तो हमारा आदर करने के बदले बाहर के लोग हमारी हँसी उडायेगे। तमाम धर्मो के बडे-बडे नेताओ ने हिंसा, द्वेष और लडाई-झगडो को बुरा बताया है और यही कहा है कि कठिन-से-कठिन समस्याओं को स्थायी रूप से हल करने का मार्ग सद्भाव, मित्रता और सहयोग ही है। भगवान बुद्ध के उपदेशो का सार भी यही है कि हिसा और द्वेष का जवाब अहिंसा और प्रेम से दो। हिन्दू धर्म, इस्लाम और ईसाइयत मे भी सहिष्णुता, भ्रातृभाव और दूसरे के विचारो का आदर आदि गुणो पर बहुत जोर दिया गया है। अपनी आजादी प्राप्त कर लेने के बाद आज यदि भारत इन आदर्शो और शाश्वत सत्यो को भुला देगा तो आज ससार उसकी तरफ जिस आदर की दृष्टि से देखता है, निश्चित रूप से उसे वह खो देगा। इसलिए परिस्थिति के इन खतरो को हमे खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। साम्प्रदायिक दल आज देश मे आग से खेल रहे है। वे देश मे फासिस्ट वृत्तिया पैदा कर रहे है, जो भारत के लोकतत्री जीवन और प्रत्यक्ष आजादी के लिए भी अत्यन्त खतरनाक है। इस खतरे का हम सबको दृढ श्रद्धा और निश्चय से सामना करना चाहिए।

शान्ति और अहिसा के लिए हम अपने-आपको अर्पित कर दे और इसके जो भी परिणाम हो उन्हे सहने को तैयार रहे। हमे तो निश्चय है कि

यह द्वेष और हिसा बहुत अधिक देर तक नही टिकेगी। वह स्वय नष्ट हो जायगी। ईसा ने कहा था, "जो तलवार के बल पर आगे बढना चाहेगे उनका नाश तलवार ही करेगी।" इस बुनियादी सिद्धान्त को हम याद रक्खे और सम्प्रदायवाद तथा हिंसा का पूरी ताकत के साथ मुकाबला करे। हम यह भी याद रक्खे कि लोगो के हृदय मे हम जितना प्रवेश करेगे और उनके विश्वास का जितना सपादन करेगे उतनी ही हमारी सच्ची ताकत बढेगी।

·१० ·

भौतिक और नैतिक संयोजन

बुद्ध-जयन्ती के अवसर पर राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने चेतावनी देते हुए कहा था, "यदि मानव-जाति ने अध्यात्म की तरफ ध्यान नही दिया और सत्य, अहिसा और प्रेम के बुनियादी गुणो का विकास नही किया तो वह अपनी सारी सुख-समृद्धि से हाथ धो बैठेगी।" प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने भी आकाश मे उमडनेवाले अशान्ति के काले-काले बादलो की ओर इशारा करते हुए कहा कि यदि हमने इनपर काबू नही किया तो वे अनर्थ ढा देगे और यह काबू पाने का मार्ग भगवान् बुद्ध ने बता दिया है। हमे अपने हृदयो मे और दिमाग मे एक सच्ची क्रान्ति करनी होगी। डॉ० राधाकृष्णन बुद्ध-जयन्ती समारोह-समिति के सभापति थे। उन्होने कहा—"यदि हमने अपने तौर-तरीके नही बदले तो आध्यात्मिक अन्धकार की रात हमपर छा जायगी और विज्ञान को सारी देनो को तथा सास्कृतिक वैभव को हम खो बैठेगे। मनुष्य का घोर पतन होगा और वह फिर जगली अवस्था मे पहुच जायगा।" ब्रह्मदेश के प्रधान मन्त्री श्री नू ने कटक मे दिये अपने एक भाषण मे आनेवाले सकटो से बचने के लिए मानव-जाति से अपने नैतिक मानदण्डो को ऊचा उठाने की बडे जोरो से अपील की। आज तो उसने अपने सारे व्यक्तिगत, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नीति के सिद्धान्तो को पूरी तरह भुला दिया है। इसकी श्री नू ने बडी निन्दा की।

नि सन्देह करोडो मानव आज अपनी प्राथमिक और मामूली जरूरते भी नही पूरी कर पाते है। अत उनका जीवन-स्तर ऊपर उठाना परम आवश्यक है। प्रत्येक स्वतन्त्र और लोकतन्त्री देश के नागरिक को कम-से-

कम ये चीजे तो अवश्य ही मिल जानी चाहिए, परन्तु हमे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि केवल इन भौतिक जरूरतो की पूर्ति कर देने से ही शान्तिपूर्ण और प्रगतिशील समाज की स्थापना नही हो सकेगी। जबतक लोगो के दिलो और दिमागो मे सच्चा परिवर्तन नही होगा तबतक मनुष्य-जाति को भौतिक समृद्धि भी नसीब नही होगी।

आखिर मनुष्य केवल रोटी खाकर ही नही जीता और न भौतिक सुख-सामग्री से मनुष्य को सच्चा मानसिक और आत्मिक सुख ही मिल सकता है। हमारे देश की संस्कृति मे तो अनादिकाल से नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यो को ही सबसे अधिक महत्व दिया गया है। इस देश मे तो मनुष्य के धन-वैभव को देखकर नही, उसकी सेवा और त्याग को देखकर उसका आदर होता है। यह सच है कि दरिद्रता अच्छी चीज नही है और आधुनिक समाज को चाहिए कि वह एक निश्चित मात्रा मे कम-से-कम भौतिक सुख-सुविधा तो सबको मिले, ऐसा प्रबन्ध कर दे। परन्तु सादगी का अर्थ दरिद्रता नही है और न जरूरते बढा लेना प्रगति की निशानी है। हमे भौतिक और नैतिक कल्याण और विकास के बीच एक सन्तुलन कायम कर लेना चाहिए। हमे सदा यह ध्यान रखना होगा कि अपने आर्थिक सयोजन मे लक्ष्यो को पूरा करने के साथ-साथ नैतिक पुनरुत्थान के लिए अनुकूल परिस्थितिया निर्माण करने का काम भी हमे करते रहना है, नही तो हम ऐसे मार्ग पर चल पडेगे, जो हमारी सस्कृति और राष्ट्र की आत्मा के प्रतिकूल होगा। जबतक देश के निवासी—स्त्रिया और पुरुष—नेक और ईमानदार नही होगे, हम राष्ट्र की नीव को मजबूत नही कर सकेगे। राष्ट्र की असली सम्पत्ति बडी-बडी योजनाए, कारखाने या विशाल इमारते नही है। राष्ट्र की सच्ची सम्पत्ति और सुख का कारण तो वास्तव मे समझदार और जिम्मेदार नागरिक है, जिन्हे अपने कर्तव्यो और अधिकारो का पूरा-पूरा भान है। डॉ० राधाकृष्णन ने हाल ही मे कहा था—"बुद्ध भगवान के असली स्मारक उनकी याद मे खडे किये गए स्तूप नही, बल्कि उनके सिद्धान्तो पर—धर्म-पथ पर—अमल करनेवाले सत्पुरुष है।" भारतीय लोक-राज्य का चिह्न भी धर्मचक्र है, जिसका अर्थ है सच्ची प्रगति धर्म के अर्थात् कर्तव्य और सन्मार्ग के अनुसरण मे ही है। यदि इस चिह्न को हम भुला देगे तो

हमारा कभी कल्याण नही हो सकता।

· ११

चौथा नाप

अपने एक भाषण मे प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने कहा था कि "संसार को अब अपने मन का चौथा नाप विकसित करने की जरूरत है। अब यान्त्रिक और वैज्ञानिक प्रगति इतनी अधिक हो गई है कि युद्ध एक पिछडी हुई पुरानी चीज बन गया है और ससार के सामने नई-नई समस्याए खडी हो गई है। उस चौथे नाप की जरूरत इन समस्याओ को सुलझाने के लिए है। यह चौथा नाप होगा नैतिक। वैज्ञानिक प्रगति और मानव के बनाये अन्तरिक्षयान समस्याओ के नैतिक पहलू को नही बदल सकते। "यह सारी वैज्ञानिक प्रगति अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा नही बना सकती। हम आशा करे कि ससार धीरे-धीरे सभ्य हो जायगा। आज वह सच्चे माने मे सभ्य नही है। बेशक, उसने विज्ञान मे और यन्त्रो मे काफी प्रगति कर ली है, परन्तु अभी वह सभ्य नही बन पाया, उसमे समझ नही आई है। समझ आना तब कहा जा सकेगा जब इस सारी यान्त्रिक और वैज्ञानिक प्रगति का उपयोग वह मनुष्य के विनाश के लिए नही, भलाई के लिए करने लगेगा। विज्ञान और यन्त्र के साथ दौड मे हमारी मानसिक शक्तिया पीछे रह जाती है। हमे अपने मस्तिष्को को इस नये अणु युग, अन्तरिक्ष की और ग्रह-नक्षत्रो की यात्रा के युग के अनुरूप विचार करने के योग्य बनाना चाहिए। अगर हम ऐसा नही करते है तो सिवा सम्पूर्ण विनाश के दूसरा कोई चारा नही है।"

ये शब्द भविष्य-सूचक है। न केवल भारत के बल्कि ससार के समस्त देशो के नेताओ को भी इनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

इसीलिए गाधीजी सदा जीवन के नैतिक मूल्यो पर सबसे अधिक जोर दिया करते थे। उनके लिए भौतिक, वैज्ञानिक प्रगति—यदि उसके पीछे नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य नही है तो—कोई अर्थ नही रखती थी। वह चाहते थे कि हम समस्त मनुष्य-जाति के साथ, बल्कि समस्त विश्व के साथ, एक हो जाय, परन्तु विश्व के साथ हमारे सम्पर्क का आधार स्वार्थ और

शोषण की वृत्ति नही, सहयोग और सेवा हो। "हमारा राष्ट्र-प्रेम किसी दूसरे देश के लिए खतरनाक नही होगा, क्योकि हम किसीका शोषण नही करना चाहते। इसी प्रकार हम किसीको अपना शोषण भी नही करने देगे।" वह कहते कि सस्कृति और सभ्यता ऊची तभी होगी जब राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक अपने चरित्र को और नैतिक जीवन को ऊचा उठायगा और उसके फलस्वरूप समाज मे व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्ध शुद्ध होगे। वह हमेशा कहते कि मनुष्य को सदा अपने अन्दर देखते रहना चाहिए। सन् १९२८ मे उन्होने 'यग इण्डिया' मे लिखा था—"हमारी बाहरी आजादी—जब कभी हम उसे प्राप्त करेगे—ठीक उस समय की हमारी भीतरी आजादी का प्रतिविम्ब होगी और यदि आजादी के बारे मे यह विचार सही है तो हमारी सारी शक्ति अपने भीतरी सुधार मे ही लग जानी चाहिए।"

इस युग मे सर्वोदय के सबसे बडे व्याख्याकार आचार्य विनोवा है। वह भी हमसे यही कहा करते है कि "अब आधुनिक विज्ञान तभी आगे बढ सकेगा जब वह शान्ति और अहिसा का सहारा लेगा। यदि उसने हिंसा से नाता जोडा तो उसका परिणाम होगा मनुष्य-जाति का सम्पूर्ण नाश। परन्तु यदि वह अहिसा के साथ हो जाय तो मानव की भलाई और प्रगति की कोई सीमा ही नही होगी। इसीलिए वह अपने भूदान और ग्रामदान-आन्दोलन के द्वारा पारस्परिक सहयोग और नैतिक पुनरुज्जीवन पर इतना अधिक जोर दे रहे है। उनकी शान्ति-सेना की योजना इसी विचार की परिणति है। जबतक हम अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रश्नो को पुलिस और फौज की बिना मदद लिये अहिसा और शान्ति से हल करना नही सीखेगे तबतक हम भारत मे अथवा ससार मे शान्तिप्रिय अहिंसक समाज-रचना स्थापित करने की आशा नही कर सकते। शान्ति-सेना की स्थापना मामूली पुलिस या सेना के समान नही की जा सकती। उसके लिए जीवन का समग्र दर्शन और मूल्यो के बदलने की जरूरत होती है। आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र मे लगातार सेवा और त्याग से ही वह सफल हो सकती है। मतलब यह कि मनुष्य-जाति स्वार्थ और भौतिक लाभ की दृष्टि छोड़ देगी और जीवन के सब प्रश्नो को नीति और सदाचार के मार्ग से हल करने

की कोशिश करेगी तब शान्ति-सेना सख्या मे कम होने पर भी अणुबम का भी मुकावला कर सकेगी।

इस दृष्टि से देखे तो भारत के सिर पर एक महान जिम्मेदारी है। उसकी सारी सस्कृति जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यो पर आधारित है। यहा के ऋषि, चिन्तक और नेता अनादिकाल से अहिसा, शान्ति और आध्यात्मिक शक्ति पर सबसे अधिक ज़ोर देते आये है। जैसा कि हमारे प्रधान मन्त्री ने पत्रकारो की एक परिषद मे कहा था, तटस्थतावाली हमारी वैदेशिक नीति इन्ही बुनियादी सिद्धान्तो पर आधारित है। उसके मूल मे आर्थिक परिस्थितिया नही है। बुद्ध और अशोक के समय की परम्पराए उसकी बुनियाद मे है। इस विचार को हमारे प्रधान मन्त्री ने अपने हागकागवाले चिरस्मरणीय भाषण मे बहुत सुन्दर ढग से रक्खा है। उन्होने कहा था—"मैं यह कहने की हिम्मत करता हू कि सम्राट अशोक की आवाज भारत की आवाज है और युगो से आकाश मे गूज रही है। वही भारत को बल देती है। यद्यपि भारत अनेक बार गिरा, परन्तु आत्मा की यह अद्भुत शक्ति सदा हाथ पकडकर उसे ऊपर उठाती रही है और आज यदि इस पीढी के हम भारतवासियो ने इस आवाज को भुला दिया, जो हमारे सामने महात्मा गाधी की वाणी के रूप मे प्रकट हुई है, यदि किसी बाहरी लाभ के लोभ मे पडकर हमने इस आवाज को भुला दिया और दूसरे रास्ते पर हम चल पडे तो समझ लेना हमारे बुरे दिन आ गये।

· १२

साध्य और साधन

ससार मे स्वभावत. लोगो के विचारो और आदर्शों मे भेद होता ही है। यही राष्ट्रो मे भी होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नही होना चाहिए कि इन मतभेदो को दूर करने के लिए मनुष्य और राष्ट्र एक-दूसरे से द्वेष करे, लडे-झगडे और हिंसा-काण्ड या युद्ध करे। जो राष्ट्र भिन्न-भिन्न प्रकार की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक पद्धतियो मे विश्वास करते हैं, वे अपने पारस्परिक व्यवहार मे शान्ति, परस्पर आदर, से काम ले सकते हैं।

इसी प्रकार यदि व्यक्तियो के बीच मतभेद है तो वे भी परस्पर आदर और सहिष्णुता से काम लेकर सहयोग कर सकते है। सभी जानते है कि हिसा और द्वेष से मतभेद कभी दूर नही किये जा सकते। वे तो शान्ति के साथ मित्रतापूर्वक बातचीत कर, एक-दूसरे को समझने का यत्न करने और सहयोग से ही दूर हो सकते है। इसीलिए गाधीजी हमेशा इस बात पर बडा जोर दिया करते कि उच्च आदर्श केवल शुद्ध और पवित्र साधनो से ही साध्य हो सकते है। वह कहते थे कि साधन बीज है और साध्य वृक्ष। जैसा बीज होगा वैसा वृक्ष होगा। इसी प्रकार जैसा साधन होगा वैसा साध्य होगा। यह सम्बन्ध अटूट है। वे यह भी कहते थे कि हमारा साधन जितना शुद्ध होगा, सफलता उतनी ही जल्दी मिलेगी। यह ख्याल गलत है कि इससे सफलता देरी से मिलती है। उन्होने लिखा है—"यह मार्ग शायद लम्बा—बहुत लम्बा—मालूम हो, परन्तु मुझे निश्चय है कि यही सबसे सीधा और नजदीक का रास्ता है।" प्राध्यापक आल्डस हक्सले ने अपनी पुस्तक 'एण्ड्स एण्ड मीन्स' मे इसी सिद्धान्त पर—अर्थात् महान और उच्च आदर्श पवित्र साधनो से ही प्राप्त हो सकते है—बडा जोर दिया है। परन्तु कितने दु ख की बात है कि इस प्रकार के विचार रखने के कारण ही इमरे नेगी को अपने प्राणो का मूल्य चुकाना पडा। वह मानते थे कि साम्य-वादी आदर्शो की प्राप्ति हिसा और जोर-जबरदस्ती से नही हो सकती। हगरी के वर्तमान प्रधान मत्री ने कम्यूनिज्म पर एक पुस्तक लिखी है, जिसमे उसने कहा है—"समाजवादी समाज के निर्माण मे हम बडे-बडे हत्याकाडो से प्रगति नही कर सकते। उसके लिए तो समाज के अन्दर से वर्तमान मतभेदो को दूर करने के लिए पहले क्रमश हिसा का उपयोग कम करना चाहिए। फिर लोकतत्र की पद्धति से जनता मे व्यापक रूप से सहकारिता की प्रवृत्तिया चलानी चाहिए। तब समाजवादी समाज की स्थापना हो सकेगी।"

श्री नेगी का यह भी मत था कि आगे चलकर मार्क्स के सिद्धान्त और निदान बदलेगे, क्योकि "जैसे-जैसे सामाजिक राजनैतिक और सास्कृतिक परिस्थितियां बदलती जाती है वैसे-वैसे मनुष्य को भी अपनी कार्य-पद्धति बदलनी ही होगी?" सारी बात का सार इतने मे आ गया। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने अनेक बार कहा है कि आजकल ससार मे यदि कोई सबसे

अधिक दकियानूस लोग है तो वे है साम्यवादी। वे उन्ही नारो और सिद्धान्तो को लेकर अभी तक बैठे है, जो बीसो वर्ष पहले भले ही उपयोगी रहे हो, परन्तु वर्तमान परिस्थितियो मे तो वे एकदम गैरमौजू है। आचार्य विनोबा भावे भी कम्यूनिस्ट मित्रो से कहते रहते है कि वे समय के साथ अपनी कार्य-पद्धति को बदले और "आखे मूदकर" मार्क्स का अनुगमन न करे। वह कहते है, "स्वय मार्क्स भी मार्क्सवादी नही था।" इसलिए यह जरूरी है कि साम्यवादी भाई मार्क्स के सिद्धान्तो मे समय के अनुसार सशोधन और सुधार करे। अब एटम बम और अतरिक्ष की उडानो का युग आ गया है। इसमे कोई सन्देह नही कि आज का ससार शाति और अहिसा के मार्ग से उत्तरोत्तर पारस्परिक सहयोग और सहिष्णुता की तरफ बढ रहा है। द्वेष, सघर्ष और युद्ध की शक्तिया अब हटती जा रही है और उनका स्थान शान्ति, भ्रातृभाव और मानवता की शक्तिया ले रही है। पिछले दो महा-युद्धो ने और इस युग के शीत युद्ध ने यह सिद्ध कर दिया है कि एक-दूसरे के प्रति अविश्वास, भय और दुश्मनी पैदा करके शस्त्रास्त्रो के ढेर लगाने से समस्याए हल नही होगी। यह सब व्यर्थ है। स्थायी शान्ति और सुख दिलो और दिमागो को बडा बनाने से ही आनेवाली है। इसके लिए हमे अपने मतभेद जोर-जबरदस्ती से नही, शान्ति से बैठकर बातचीत के द्वारा दूर करने होगे और परस्पर एक-दूसरे का आदर करना होगा।

नि सन्देह कार्ल मार्क्स एक सच्चा विचारक और तत्वज्ञानी था। मनुष्य मनुष्य का शोषण न करे, इसका उपाय खोजने का उसने सच्चे दिल से यत्न किया, परन्तु पिछले कई वर्षो मे आर्थिक सगठनो के रूप और आकारो मे जो महान् परिवर्तन हो गये है, इनकी कल्पना भला उसे कैसे हो सकती थी। इसी प्रकार लोकतन्त्र के तरीको मे उसके बाद जो विकास हुआ है इनका भी वह अनुमान नही कर सकता था। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का उसका सिद्धान्त, उन दिनो फ्रान्स और जर्मनी मे जो तत्वज्ञान प्रचलित था, उसी पर आधारित है। यदि आज वह होता और इस युग मे शान्ति तथा लोकतत्री तरीको से कितनी जबरदस्त सामाजिक और आर्थिक क्रान्तिया हो सकती है यह वह देखता तो अपना प्रबन्ध नि सन्देह दूसरे प्रकार से लिखता। महात्मा गाधी के सत्याग्रह ने मानव की प्रगति का कितना अनत

क्षेत्र खुला कर दिया है। इसका अध्ययन और खोज करने की जरूरत है। आचार्य विनोबा भावे के भूदान और ग्रामदान-आन्दोलन ने सिद्ध कर दिया है कि हिंसा की अपेक्षा अहिसक क्रान्ति कही अधिक परिणामकारक होती है। इसलिए आधुनिक अनुभव और वैज्ञानिक प्रगति को ध्यान मे रखकर मार्क्स के बताये सिद्धान्तो मे अब मूलगामी फेरफार करना आवश्यक हो गया है। ऐसे समय पुराने विचारो को पकडकर बैठे रहना मूर्खतापूर्ण और आत्मघात के समान है। सही तरीका तो यह है कि आज कम्यूनिज्म के अन्दर जो अतरविरोध पैदा हो गया है उसपर शाति के साथ विचार करके नये मार्ग और नये तरीके ढूढे जाय।

जहातक भारत के राजनैतिक और सार्वजनिक जीवन का सम्बन्ध है, हम बहुत प्रेम से स्वागत करेगे, यदि देश मे सार्वजनिक जीवन के मार्ग-दर्शक सिद्धात क्या हो, इसपर सब दल आपस मे मित्रभाव से चर्चा करे। भारत अहिसा, शाति और पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्तो का सदा समर्थक रहा है। उसने साधन-शुद्धि और स्वच्छ व्यवहार पर भी हमेशा जोर दिया है। इसलिए सभी दलो को अपने उद्देश्यो की प्राप्ति में शुद्ध साधन और शाति के मार्गो से ही काम करने मे क्यो आपत्ति हो, हम समझ नही पा रहे है। उदाहरण के लिए हम सब यह निर्णय कर सकते है कि अपने राजनैतिक उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए हम हिसा से काम नही लेगे। यदि किसी दल के कोई सदस्य इस नियम को भग करे और कभी हिसा का अवलम्बन करे तो उस दल का यह कर्तव्य होगा कि वह अपने इन सदस्यो की खुलेआम निन्दा करे और उनके विरुद्ध अनुशासन की कार्रवाही करे। शासक दल को भी चाहिए कि देश मे जो उचित राजनैतिक हलचले हो उनका सामना करने के लिए हिसा का प्रयोग न करे। मान लीजिये कि कही असाधारण परिस्थिति खडी हो गई है और वहा गोली चलानी पडी है तो शासन स्वय ही उसकी न्यायिक जाच की आज्ञा भी दे दे। यदि शासक दल तथा विरोधी दल इस प्रकार की स्वस्थ परिपाटिया डाल देगे तो देश मे लोकतत्र की जडे मजबूत हो जायगी और वह प्रगति भी कर सकेगा।

१३

पहली वफादारी

"हमारे अनेक कर्तव्य है। अपने परिवार, जाति, समाज, भाषा, प्रदेश, इनके प्रति भी हमारी वफादारी और कर्तव्य है और यदि मनुष्य विवेक से काम ले तो इनमे से प्रत्येक के स्थान का निर्णय वह कर सकता है, परन्तु यदि किसीके मन मे इन वफादारियो के बीच सघर्ष पैदा हो जाय तो प्रत्येक नागरिक को सबसे पहले और अधिक वफादार रहना है अपने देश के प्रति और सब वफादारियो का स्थान इसके बाद मे होगा। याद रहे कि हमारा सारा भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि हम भारत के प्रति अपनी इस वफादारी का जवाब क्या देते है। यह समय बडा नाजुक है। इस युग मे कमजोर और जिनमे फूट है, ऐसे देश जी नही सकते। उनका नाश निश्चित है।"

—जवाहरलाल नेहरू

इस देश की सबसे बडी कमजोरी युगो से यही रही है कि यहा अनेक रूपो मे फूट और अलगाव की वृत्तिया पनपती रही है। यह पुराना इतिहास अब नही दोहराया जाना चाहिए। दुर्भाग्य से पिछले कुछ समय से ऐसी कई वृत्तिया अपना सिर फिर उठाती नजर आ रही है। भारत की एकता के लिए वे बहुत खतरनाक है। इधर-उधर भाषा-सम्बन्धी जो झगडे, विद्यार्थियो की अनुशासनहीनता, पजाबी सूबे का प्रश्न और शासकीय कर्मचारियो ने अपने वेतन बढाने के लिए शासन को मजबूर करने का जो मार्ग ग्रहण किया ये उसी—फूट की—बीमारी के भिन्न-भिन्न रूप है।

देश मे लोकमत इतना जागृत और शिक्षित हो कि समाज मे फूट फैलानेवाली और हिंसक प्रवृत्तिया आगे बढे ही नही। जहा भी कही वे सर उठाये, जागृत नागरिक उन्हे वही दबा दे। यदि ऐसा हो जाय तो सरकार को पुलिस या फौज से काम लेने की जरूरत ही नही होगी।

विभाजन का होना दुर्भाग्यपूर्ण बात थी। फिर भी भारत एक विशाल देश है। परन्तु किसी देश का बडा होना एक वरदान अथवा अभिशाप भी हो सकता है। वरदान वह तब होता है जब बडे देश के निवासियो

के दिल और दिमाग भी बड़े हो और वे छोटी-छोटी वातो और झगडो मे अपने-आपको भूल न जाय। किन्तु वही बडप्पन उस देश के लिए अवश्य ही बहुत बडा अभिशाप भी वन जाता है जव वहा के निवासी दिलो को छोटा वना लेते है, छोटे-छोटे झगडो मे उलझ जाते है और आपस मे कडवाहट पैदा कर लेते है। अत युवको को चाहिए कि वे इस वात को बहुत अच्छी तरह समझ ले, क्योकि कल उन्हे देश का नेतृत्व करना होगा। स्वाधीन भारत के झण्डे को वे तभी अपनी पूरी शान के साथ ऊचा रख सकेगे जब महात्मा गाधी के सिद्धान्तो के अनुसार अपने राष्ट्र के निर्माण का प्रयत्न करेगे और अपने दिलो और दिमागो को जिम्मेदार लोकतन्त्र और सहकारिता के वातावरण मे बढने का मौका देगे। इसके विपरीत यदि वे भटक जायगे और जान मे या अनजान मे फूट और हिसा के मार्ग पर कदम रख देगे तो देश मे अशान्ति, द्वेष, जाति-जाति और वर्ग-वर्ग के बीच झगडे खडे हो जायगे और फिर उज्ज्वल भविष्य के हमारे सारे-के-सारे सपने सपने ही रह जायगे।

१४

सर्वोदय और मार्क्सवाद

गाधीजी के एक आदरणीय साथी और भक्त ने एक बार कहा था, "गाधीजी के आदर्शों का अमल रूस मे कुछ हद तक बहुत पहले से हो रहा है।" और यह कि "यद्यपि रूस का आदर्श पूरी तरह 'सर्वोदय' नही है, फिर भी रूस का समाज कुछ वातो मे गाधीजी के आदर्शों के बहुत अधिक नजदीक है।"

नि सन्देह यह सच है कि पूजीवादी विचारधारा से हम सव असन्तुष्ट है और पूजीवादी व्यवस्था सिद्धान्त के रूप मे अव एक गई-गुजरी चीज है। हम यह भी मानते है कि भारत की वर्तमान आर्थिक रचना भी वडी असन्तोषजनक है और दरिद्रता, वेकारी तथा आर्थिक असमानताओ की समस्याओ ने यहा इतना भयावना रूप धारण कर लिया है कि उनका इलाज तुरन्त होना चाहिए। भिन्न-भिन्न राजनैतिक विचारधारा के लोग धीरे-धीरे यह अनुभव करने लगे हैं कि हमारी अनेक आर्थिक बुराइयो का

उपाय गाधीजी की विचार-पद्धति ही है और व्यवहार-बुद्धिवाले समझदार लोग मानने लगे है कि सर्वोदय की विकासशील विचारधारा हमारा सही तरणोपाय है, परन्तु यह आभास भी पैदा करना गलत है कि सर्वोदय और मार्क्सवाद एक-से है और रूस मे गाधीजी के सिद्धान्तो पर अमल किया जा रहा है। इसमे न सर्वोदय की सेवा है, न मार्क्सवाद की। इन दोनो विचार-धाराओ मे उत्तर और दक्षिण ध्रुव के जितना अन्तर है और इनके बुनियादी सिद्धान्त भी एक-दूसरे के विरोधी है। स्वर्गीय श्री किशोरलाल मशरूवाला गाधीजी के विचारो के बारे मे एक अधिकारी व्यक्ति माने जाते है। उन्होने गाधीवाद और साम्यवाद पर एक लेखमाला लिखकर इस भ्रम को दूर करने का यत्न किया था कि "गाधीवाद हिसारहित मार्क्सवाद ही है।" यह लेख-माला अलग-से पुस्तक के रूप मे भी 'गाधीवाद और साम्यवाद' के नाम से छप गई है। श्री मशरूवाला ने लिखा है—"गाधीवाद और साम्यवाद मे इतना ही अन्तर है जितना हरे और लाल रग मे है—यद्यपि जिन आखो को रगो की पहचान ही नही है, उन्हे तो वे दोनो रग एक-से ही दीखेगे।

आचार्य विनोबा भावे भी हमसे बार-बार कह रहे है, "इन दोनो विचारधाराओ मे कोई मेल नही हो सकता। इन दोनो के बीच आधारभूत अन्तर है।" विनोबा ने कहा, "दो आदमी एक-दूसरे से इतने मिलते-जुलते थे कि लोगो को बडी आसानी से एक-दूसरे के बारे मे भ्रम हो जाता था, परन्तु उनमे अन्तर केवल इतना था कि एक सास ले सकता था और दूसरे की सास गायब थी।" इन्होने अनेक बार कहा है कि "अन्त मे साम्यवाद को गाधीवाद से ही लोहा लेना पडेगा।" आचार्य विनोबा तो मानते है कि "वास्तव मे साम्यवाद अधिक मिलता है पूजीवाद से, क्योकि दोनो नैतिक मूल्यो और आत्मा के कल्याण की अपेक्षा भौतिक जरूरतो और शरीर-सुख को अधिक महत्व देते है।" महात्मा गाधी ने भी साम्यवाद को वर्तमान भौतिक सभ्यता का अनिवार्य परिणाम बताया है और कहा है, "साम्यवाद हिसा को अपना शस्त्र मानता है और ईश्वर को मानने से इन्कार करता है, इसलिए वह मुझे कभी मजूर नही हो सकता।" 'पैसे और भौतिक सुखो के पीछे' लोग जो पागलो की तरह दौड रहे है इसे, गाधीजी ने सदा बुरा कहा

स्तालिन की यह पक्की राय थी कि "जबतक ग्राप ग्रपने पूरे दिल से दुश्मन से नफरत नही करेगे, तबतक ग्राप उसे जीत नही सकते।"

सर्वोदय ग्रौर मार्क्सवाद के बीच एक ग्रौर बडा ग्रन्तर है। गाधीजी लोकतन्त्र को सर्वोदयी ग्रथवा ग्रहिंसात्मक समाज-रचना का मूल ग्राधार मानते थे। राजनैतिक ग्रौर ग्रार्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण सर्वोदयी राज्य के विकास के लिए हानिकर है, परन्तु मार्क्सवादी तो मानते है कि लोकतत्र बुर्जुग्रा-विचार है। "इसका तख्ता उलटना क्रान्तिकारी जनता का पहला कर्तव्य है।" लेनिन मानते है, ट्रॉट्स्की भी यही मानता था। वह इसे 'निकम्मा दिखाव' कहता था। लेनिन ने ग्रपनी 'राज्य ग्रौर क्रान्ति' नामक पुस्तक मे साफ लिखा है कि साम्यवादी तो इस मौके की टोह मे है कि "बुर्जुग्रो के इन राज्य-यन्त्रो को—उनके लोकतन्त्री स्वरूपो को भी—वे कब तोड-फोडकर चूर-चूर कर दे ग्रौर पृथ्वी पर से उनका नामोनिशान मिटा दे।" गाधीजी गृहोद्योगो ग्रौर ग्रामीण समाज पर ग्राधारित विकेन्द्रित सामाजिक ग्रर्थ-रचना के हिमायती है तो मार्क्सवादी बडे-बडे यान्त्रिक कारखानो ग्रौर केन्द्रित उत्पादनवाली ग्रर्थ-रचना पर ग्राधारित किसानो ग्रौर मजदूरो की डिक्टेटरशाही चाहते है। मार्क्सवादियो का ग्रन्तिम सपना है वर्गहीन समाज-रचना, जिसमे राज्य धीरे-धीरे समाप्त हो जायगा, परन्तु प्राध्यापक हक्सले ग्रपनी 'एण्डस ऐड मीन्स' नामक पुस्तक मे लिखते है, "ऐसा ग्रति केन्द्रित सत्तावाला राज्य तो ग्रपने ग्राप नही, महायुद्ध मे ग्रथवा बिल्कुल नीचे से क्रान्ति की ग्राग भभकेगी तभी नष्ट होगा। उसके ग्रपने ग्राप सड-गलकर गिरने की तो रत्तीभर भी सभावना नही है।"

इस विषय को ग्रौर ग्रधिक लम्बा करना बेकार है। यह तो दिन की तरह साफ है कि ये दोनो विचारधाराए मूलत बहुत ग्रलग-ग्रलग है ग्रौर ग्राज इनके बीच भारत मे ग्रौर बाहर—ससार मे भी—जबरदस्त युद्ध छिडा हुग्रा है।

१५

भारत ग्रौर साम्यवादी पद्धति

हमारे प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ग्रक्सर कहा करते है कि भारत को

साम्यवादियो और सम्प्रदायवादियो से सदा सावधान रहना चाहिए। "ये दोनो देश को विनाश की तरफ ही जानेवाले है। विचारो की दृष्टि से भारत का साम्यवादी दल दकियानूसी है। नव्वे वर्ष पहले यूरोप की जो हालत थी, उसे देखकर लिखी किताबे उन्होने पढ रक्खी है। फिर रूसी क्रान्ति के बाद की लिखी कुछ किताबे पढली और अब उन कल्पनाओ को वे भारत की वर्तमान स्थिति पर लागू करने का प्रयास कर रहे है। भारत की परिस्थिति बिल्कुल अलग है। हमारी समस्याए अलग है। अत उनके हल हमे स्वय सोच-विचारकर ढूढने होगे। समझ की कमी के कारण भारत के साम्यवादी उसे उलटे घसीटकर पीछे ले जाने का प्रयत्न कर रहे है। भारत मे जो नई-नई बाते हो रही है, उनको ये भलेमानस न जानते है और न जानने की चिन्ता उन्हे है, जो उससे भी बुरी बात है।"

एक सभा मे भाषण देते हुए श्री नेहरू ने कहा था, "किसी समय मै मार्क्सवाद का विद्यार्थी था। उसने मुझे काफी प्रभावित किया, परन्तु इतना नही कि भारत की समस्याओ को हल करने मे वह मददगार हो सके। अपने देश की परिस्थितियो को, जनता को और सारी पृष्ठभूमि को समझकर हमे यहा काम करना पडता है। चीन और रूस की बात दूसरी है। वहा का इतिहास अलग है। इतिहास की सारी उन प्रक्रियाओ को यहा आखे मूदकर दोहराना निरी मूर्खता होगी। उदाहरण के लिए चीन का वर्तमान शासन चीन के पिछले चालीस वर्षों के इतिहास का परिणाम है। उसका इतिहास गृह-युद्धो, जापानी आक्रमणो और उनके भीतरी सघर्षो से भरा पडा है। यदि हम साम्यवादियो के बताये मार्ग से चले तो हम अपनी मजिल पर किस प्रकार पहुच सकेगे? क्या उनकी भाति हम भी एक-दो पुश्त विनाश और वरबादी मे गुजारे? इसलिए उनका रास्ता अव्यावहारिक है। वह हमारे काम का नही है। हमारे लिए यह कही अच्छा और लाभदायक भी है कि हम शान्ति के मार्ग से ही आगे वढे, क्योकि यदि हम यहा हिसा से काम लेगे तो आज से भी बुरी हालत मे हम पहुच जायगे।"

श्री नेहरू ने बार-बार साफ कर दिया है कि काग्रेस और भारत सरकार की भी नीति शान्त और लोकतान्त्रिक तरीको से देश मे समाजवादी

समाज की स्थापना करना है। 'समाजवाद' शब्द निश्चय ही किसी देश-विशेष के समाजवादी दल की बपौती नही हो सकता और हम भी उसका प्रयोग उनके या किसी खास और सीमित अर्थ मे नही कर रहे है। उसका मुख्य भाव यह है कि अपनी अर्थ-व्यवस्था को हमे ऐसा स्वरूप देना है कि व्यक्ति और समाज के हितो का उचित सामजस्य हो जाय और मनुष्य मनुष्य के बीच की आर्थिक विषमताए कम-से-कम हो जाय। यह तभी सभव होगा जब हमारी आर्थिक व्यवस्था ऐसी होगी,-जो बेकारी को पूर्णत मिटायगी, उत्पादन को खूब बढायगी और देश मे सामाजिक तथा आर्थिक न्याय की स्थापना होगी।

"सब प्रकार के उद्योगो पर राष्ट्र अपना अधिकार कर ले।" इस प्रकार के केवल नारो से हमारी खास समस्याए हल नही होगी। नि सन्देह महत्व-पूर्ण और बुनियादी उद्योगो पर राष्ट्र का ही स्वामित्व होगा, परन्तु जहा-तक सम्भव हो, उपभोग्य वस्तुओ के उद्योगो को औद्योगिक सहकारी सग-ठनो के रूप मे विकेन्द्रित कर देना परम आवश्यक है। इसका मतलब कोई यह न समझे कि हम बैलगाडीवाले पिछडे हुए युग मे देश को ले जाना चाहते है। विज्ञान की आधुनिक खोजो का उपयोग हमे छोटे-छोटे उद्योगो की और ग्रामोद्योगो की शक्ति बढाने के लिए करना चाहिए, ताकि मनुष्य बेकार न हो, बल्कि प्रति आदमी उनकी उत्पादन-शक्ति बढ जाय। हमे आखिर यह पूरी तरह समझ लेना चाहिए कि बेकारी मिटाने का अर्थ केवल पैसे बाटना नही है। यह एक मानसिक और नैतिक प्रश्न भी है। सबसे बडी बात तो यह है कि वह मनुष्यता की रक्षा का प्रश्न है। भारत मे समाजवाद का काम करने लायक सब मनुष्यो को लाभदायक काम देना है। उनमे किसी भी प्रकार का भेदभाव न हो। इसी प्रकार आज लोगो की रहन-सहन के स्तरो मे जो बहुत बडी असमानता है, उसे मिटाना समाजवाद का काम है। किन्तु यह हम हिसा और सत्ता के द्वारा नही, बल्कि शान्ति और लोकतान्त्रिक तरीको से अर्थात् सर्वोदय अथवा गाधीजी के बताये तरीको से करना चाहते है। समाजवाद से हमारा मतलब यह है, न कि साम्यवाद या पश्चिम के देशो मे इस शब्द का जिस प्रकार अर्थ और अमल किया जाता है वह। हमारा मुख्य उद्देश्य है अहिसा और लोकतन्त्र के सिद्धान्तो पर

स्थापित जाति-वर्ग-विहीन समाज की रचना। यह आदर्श सदा हमारी आखो के सामने रहे। भारत एक महान् देश है, इसका इतिहास लम्बा और शानदार है। ऐसे देश के लिए साम्यवाद उपयुक्त नही होगा और न हो सकता है। गाधीजी के शब्द है "मेरा पक्का विश्वास है कि भारत साम्यवाद को ग्रहण नही कर सकेगा। लेनिन के सिद्धान्त इस देश मे जड नही जमा सकते।" किसीने महात्माजी से पूछा, "परन्तु भारतीय साम्यवादी तो यहा स्तालिन की छाप का साम्यवाद लाना चाहते हैं और इसमे वे आपके नाम का भी उपयोग कर रहे है।" इसपर गाधीजी ने जोर के साथ कहा था "इसमे वे कभी सफल नही होगे।" विनोबा भावे गाधीजी के वर्तमान शिष्यो मे सबसे महान् है। उन्होने भी भारतीय साम्यवादियो के तरीको को असन्दिग्ध भाषा मे बुरा बताया है। उन्होने कहा है, "भारतीय साम्यवादी न केवल हठी और जिद्दी है, बल्कि उन्होने अपने दिमाग के दरवाजो को भी मजबूती के साथ बन्द कर लिया है।"

१६

साम्यवाद और लोकतन्त्र

प्रसन्नता की बात है कि भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी की समझ मे अब यह बात आने लगी है कि जबतक वह यह जाहिर नही करेगी कि वह लोकतन्त्र की पद्धति से ही समाजवाद की स्थापना करना चाहती है, उसके लिए इस देश मे आगे बढना असम्भव है। भारत के कम्यूनिस्ट अब जान गये है कि वर्ग-सघर्ष और हिसा के मार्ग से वे अपने लक्ष्य को यहा नही प्राप्त कर सकते। यदि भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी सचसुच यह मानती है कि जनसाधारण की भलाई डिक्टेटरशाही (टोटलिटेरियनिज्म) से नही, लोकतन्त्र की पद्धति से स्थापित समाजवाद से ही हो सकती है तो ईमानदारी इसीमे है कि वह अपने-आपको विसर्जित कर दे और या तो वर्तमान लोकतन्त्री पार्टियो मे से किसीमे शामिल हो जाय या अपनी नई नीति और कार्यक्रम के अनुरूप कोई नई पार्टी बनाये, क्योकि जबतक वह अपने-आपको कम्यूनिस्ट कहती रहेगी तबतक भारत के जनमत को बडी सख्या मे अपने अनुकूल नही बना सकेगी। भारत की जनता नही मानती कि द्वेष,

सघर्ष और हिसा के मार्ग से देश मे कभी स्थायी शान्ति आ सकती है। उसकी प्राचीन परम्परा और पूर्व इतिहास उसे यही कहता है। भारत के तत्व-ज्ञान मे जड नही, चेतन सर्वोपरि माना गया है, जबकि साम्यवाद मे चेतन जड का परिणाम है। इसीलिए तो गाधीजी यह मानते थे कि भारत मे साम्यवाद जड नही पकड सकता। वह उसकी प्रकृति के विरुद्ध है।

सच तो यह है कि साम्यवाद लोकतन्त्र और सर्वोदय के बुनियादी सिद्धान्तो के ही विरुद्ध है। कम्यूनिस्ट पार्टी अपनी प्रस्तावना और लक्ष्यो को भले ही बदल ले, परन्तु जबतक वह मार्क्स के सिद्धान्तो और तरीको को प्रकट रूप से छोड नही देगे, लोग उसपर कभी विश्वास नही करेगे। दूसरे शब्दो मे मार्क्सवाद और लोकतन्त्री समाजवाद परस्पर बे-मेल चीजे है। उनके बीच का अन्तर ऊपरी नही, मौलिक है। इन दोनो तत्व-ज्ञानो के बीच समझौते या समन्वय की बात करना ढोग और पाखण्ड होगा। कुछ दिन पहले साम्यवादी रूस मे 'व्यक्तिगत निष्ठा' के विरुद्ध रोष की एक लहर फैल गई थी और 'सामूहिक नेतृत्व' पर बडी-बडी वक्तृताए हुई थी, परन्तु इस सारे मथन के अन्त मे व्यक्तिगत नेतृत्व ही विजयी सिद्ध हुआ। चीन मे भी 'सौ पुष्पो को खिलने दो' की काव्यमय घोषणा हुई थी। परन्तु कुछ ही महीनो के अनुभव ने बता दिया कि वे सारे फूल कुम्हला गये और उन्होने स्वय अपने दोष कबूल कर लिये। अत भारत के लोगो को यह विश्वास नही दिलाया जा सकता कि दूसरे देशो के कम्यू-निस्टो से यहा के कम्यूनिस्ट भिन्न प्रकार के सिद्ध होगे।

मार्क्स नि सन्देह एक महान विचारक था, परन्तु वह भारत के और दूसरे देशो के साम्यवादियो की भाति मार्क्सवादी नही था। उसने अपने सिद्धान्त औद्योगिक क्रान्ति के बादवाले अपने समय के यूरोप की स्थिति के अध्ययन पर कायम किये थे। स्वय पूजीवादी देशो मे भी उसके बाद जो बडे-बडे फेर-फार क्रमश हुए, स्वभावत उनकी उसे कल्पना भी नही हो सकती थी। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का तत्व-ज्ञान भी आखिर रूस और यूरोप के दूसरे भागो मे उस समय जो तत्व-ज्ञान प्रचलित थे, उन्ही पर आधारित किया गया था। इनके आधार पर सौ वर्ष पहले लिखी गई बातो पर बाद के सारे और इस युग की सारी बातो को लागू करना निरी

मूर्खता ही है। पूजीवाद और व्यापारिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्तो की भाति मार्क्स के सिद्धान्त भी अब पुराने पड गये और उनमे आमूल सुधार और परिवर्तनो की जरूरत है। वर्ग-सघर्ष के स्थान पर अब सहयोग ले रहा है। जमीदारो से जमीने छीनने के लिए खून-खराबिया और बडे-बडे हत्याकाण्डो के स्थान पर आज हम भूदान और ग्राम-दान जैसे शानदार आदोलनो को देख रहे है। पहले सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति के लिए हिसा अनिवार्य मानी जाती थी, आज ऐसे परिवर्तन को सच्चे अर्थ मे स्थायी बनाने के लिए आचार्य विनोबा हृदय और मन के परिवर्तन को आवश्यक मानते है और यह हिसा और अहिसा का भेद केवल सैद्धान्तिक वस्तु नही है, जैसा कि गाधीजी ने कहा है, यह बुनियादी अन्तर मार्क्स के सिद्धान्तो की जड ही काट देता है—"और यदि आप बुनियाद बदल देते है तो सारी इमारत को बदलना पडता है।" अच्छा हो यदि गाधीजी के विचारो पर आधारित इस लोकतन्त्री समाजवाद और अपने साम्यवाद के बीच यह जो बुनियादी अन्तर है, इसे साम्यवादी समझ ले। केवल अपनी पार्टी का विधान बदल देने से साम्यवादी अपने सिद्धान्तो को नही बदल सकते। वे जो बात अपनी जबान से कहते है, यदि यही सचमुच उनके दिल मे भी है तो उन्हे स्पष्ट रूप से यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि अब मार्क्सवाद के स्थान पर उससे कही अधिक क्रान्तिकारी सर्वोदय अथवा अहिसक समाजवाद की स्थापना होनी चाहिए। हिसा का परिणाम हिसा ही होता है और उसका अनिवार्य परिणाम डिक्टेटरशाही होता है। समाज पर फौजी अनुशासन छा जाता है और वर्ग-सघर्ष लोकतन्त्र की जडो पर ही कुठाराघात करता है। अत इस मार्ग पर समाज के स्वरूप को शान्ति के साथ बदलने की कही सम्भावना ही नही है।

१७

साम्यवादी दर्शन

श्री रामास्वामी नैकर ने यह धमकी दी थी है कि यदि समाज की हालत यही रही तो ब्राह्मणो की हत्याए होने लगेगी। प्रधान मन्त्री ने इन हलचलो को और धमकियो को देश के प्रति द्रोह बताया और कहा कि ये

राष्ट्र के लिए चुनौती है। श्री रामास्वामी नैकर मानते थे कि सविधान की प्रतिया जलाने और ब्राह्मणो को कत्ल करने से जाति-प्रथा नष्ट हो जायगी। क्या इससे भी बडी कोई मूर्खता और अपराध हो सकता है ? श्री नेहरू ने कहा, "भारत ऐटम और हाइड्रोजन बमो से भी नही डरता। तब क्या वह किसी बिगडे दिमाग के आदमी के सामने अपना सर झुका देगा ?"

एक दूसरी सभा मे भाषण देते हुए श्री नेहरूजी ने कहा, "पुराने जमाने मे जाति-प्रथा के जो कुछ भी गुण-दोष रहे हो, परन्तु आज तो उसके लिए देश मे कोई स्थान नही है और यदि वह जारी रही भी तो देश को कमजोर बनायेगी और प्रगति के मार्ग मे रोडे अटकायेगी। पिछले सैकडो वर्षो मे यह एक अभिशाप सिद्ध हुई है और इसने देश को कमजोर तथा पतित बना दिया है। उसने समाज को छिन्न-भिन्न करके विदेशी शक्तियो का गुलाम बना दिया है। एकता की भावना नष्ट कर दी है।"

साम्यवाद पूर्णतया जडवादी भौतिक जीवन-दर्शन है। नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यो को वह नही मानता। वह कहता है कि वर्ग-सघर्ष और पारस्परिक हत्या के मार्ग से ही राष्ट्र की सामाजिक और आर्थिक प्रगति होती है। साधन-शुद्धि के लिए साम्यवाद मे कोई स्थान नही है। वह तो मानता है कि हमे अपने उद्देश्य से काम है। साधन कैसे भी हो, उद्देश्य यदि ऊचा है तो काफी है। उसकी प्राप्ति के साधन बुरे भी हो तो कोई चिन्ता नही करनी चाहिए। यह गाधीजी के बताये मार्ग से एकदम उलटा है। गाधीजी साधन-शुद्धि पर सबसे अधिक जोर देते है। महान उद्देश्य तभी सिद्ध हो सकते है। वे तो भारत की आजादी के लिए भी असत्य और हिसा से काम लेना नही चाहते थे। उनका यह पक्का विश्वास था कि अशुद्ध साधनो से शुद्ध साध्य कभी प्राप्त नही हो सकते।

फिर यह मान्यता भी गलत है कि लोकतन्त्र की अपेक्षा साम्यवाद जल्दी फल देता है। सोवियत रूस के पिछले चालीस वर्ष के इतिहास पर जरा नजर डालकर देखे। वहा सामूहीकरण और फौजी कडाई का परिणाम बहुत अच्छा और उत्साहवर्धक नही हुआ है। वहापर आर्थिक प्रगति के अनेक प्रयासो को व्यावहारिक बनने के लिए अन्य प्रकार से प्रयत्न करने पडे है। पिछले तीस-चालीस वर्षों मे अनेक कडुवे अनुभव वहा हुए है। आज

भी वे इसी नतीजे पर पहुच रहे है कि यन्त्रो की खेतीवाले बडे-बडे सामूहिक खेतो की अपेक्षा छोटे-छोटे व्यक्तिगत खेती के खेतो मे फी एकड उपज का मान कही अधिक ऊचा होता है। सामूहिक पद्धति से यह सब खुशी-खुशी नही होगा। सारे कामो को यथाविधि बनानेवाले शास्त्रीय यन्त्र की मदद के लिए वहा बहुत बडी फौज और खुफिया पुलिस का एक विशाल जाल सदा फैलाये रखना पडता है। इसमे बेहद खर्च होता है। फिर इस पद्धति मे जो भयकर जोर-जबरदस्ती, मानव का घोर अध पतन और दमन होता है सो अलग है।

एकाधिकार की शासन-पद्धति मे एक से अधिक दल रह नही सकते। न इस पद्धति मे भाषण-स्वातन्त्र्य के लिए कोई स्थान होगा। वर्ग का तानाशाह (प्रोलीतारियत) साम्यवादी मानते है कि प्रारम्भ मे भले ही राज्य-शासन पर अधिकार करने के लिए वर्ग-सघर्ष और हिंसा से काम लिया जाय, परन्तु बाद मे राज्य अदृश्य हो जायगा। परन्तु अभी तक का अनुभव तो इस आशा को पुष्ट नही करता। जैसा कि प्राध्यापक जी. डी. एच. कोल ने कहा है, "इतिहास के अध्ययन से मनुष्य इसी नतीजे पर पहुचता है कि तानाशाही (डिक्टेटरशिप) ज्यो-ज्यो पुरानी होती जाती है, त्यो-त्यो वह कम नही, अधिक उग्र और आलोचनाओ के प्रति अधिक असहिष्णु बन जाती है।" इसलिए साम्यवाद को यह सिद्ध करना है कि वहा लोकतन्त्र के सत्व और तत्व मे कोई फर्क न आने देते हुए उसकी चौखट मे साम्यवाद किस प्रकार काम कर सकता है। हमारा ख्याल है कि यह तभी हो सकता है जब भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी असन्दिग्ध भाषा मे यह घोषणा कर देगी कि उसने साम्यवाद के आधारभूत सिद्धान्तो को छोड दिया है और यह कि भारत ने लोकतन्त्र के जिस मार्ग पर चलने की प्रतिज्ञा ले रक्खी है, साम्यवाद के सिद्धान्त उसके अनुकूल नही है। मतलब यह कि भारत की जनता को साम्यवादियो पर तबतक विश्वास नही होगा जबतक कम्यूनिस्ट पार्टी अपनी नीति को ही पूरी तरह से बदल नही देगी और लोकतन्त्र के सर्वविदित सिद्धान्तो और तरीको को मान्य नही कर लेगी और यह एक स्पष्ट और सार्वजनिक घोषणा के द्वारा तथा हमेशा के लिए हो। मतलब यह कि वह दूसरे देशो के साम्यवादी दलो से

अपना सम्बन्ध पूर्णतया तोड दे और अपने-आपको लोकतन्त्र मे विश्वास करनेवाला एक समाजवादी दल बना ले। भारत मे लोकतान्त्रिक समाजवाद का अर्थ है गाधीवादी समाजवाद। आचार्य विनोबा भावे अपने भूदान और ग्रामदान-आन्दोलनो के द्वारा जो समाज-व्यवस्था स्थापित करने जा रहे है, भारत उसी समाजवाद को स्वीकार कर सकता है।

हमारे अपने दिल मे इस विषय मे कोई उलझन नही है कि वास्तव मे साम्यवाद एक गलत दर्शन है और सर्वोदय अथवा लोकतन्त्र के सिद्धान्तो के बिल्कुल विपरीत है, परन्तु हम यह भी जानते है कि जातीयता या सम्प्रदायवाद साम्यवाद से भी बुरा है। साम्यवाद मे कम-से-कम अन्तिम लक्ष्य तो आकर्षक है, यद्यपि उसकी प्राप्ति का मार्ग गलत, अशुद्ध और हिसात्मक है, परन्तु जातिवाद मे तो कुछ भी भलाई और आकर्षण नही है। वह तो एकदम अशुद्ध और तिरस्कार करने योग्य चीज है। इस प्रकार जातीयता और साम्यवाद हमारे सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र के दो मुख्य दोष है और दोनो ने पक्की साठ-गाठ कर ली है। जो लोग सर्वोदय अर्थात् गाधीजी के विचारो के लोकतन्त्र मे विश्वास करते है, उनको इस चुनौती का पूरी शक्ति के साथ और योजनापूर्वक मुकाबला करना है। असली बुराई है जातीयता। यदि इसका उपाय समय पर नही किया गया तो यह फासिजम या साम्यवाद का रूप धारण कर सकती है। जो हो, इस मार्ग से लोकतन्त्र या समाजवाद को हम नही प्राप्त कर सकते, जिसे राष्ट्रपिता गाधीजी चाहते थे कि भारत समझे और प्राप्त करे।

१८

सम्प्रदायवाद और साम्यवाद

साम्यवाद एक जीवन-दर्शन है। इसके आद्य प्रणेता मार्क्स थे। बाद मे लेनिन, एजलस और स्टालिन ने इसे विकसित किया। साम्यवादी विचारधारा का मुख्य तत्त्व है सिद्धान्त, प्रतिसिद्धान्त और समन्वय। उनका कथन है कि आर्थिक प्रगति वर्ग-सघर्ष से ही सम्भव है, जो हिसक क्रान्ति करवाती है और जिसका अन्त सर्वहारा-वर्ग की तानाशाही मे होता है। रूस-चीन और पूर्व यूरोप के कई देशो मे उनके

कार्यक्रम का आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद रहा है। भारत के भी साम्यवादी यद्यपि बात तो शान्ति और लोकतन्त्र की ही करते रहते है। परन्तु जब-जब उन्हे मौका मिला है, नाजुक परिस्थितियो का लाभ उठाकर हिंसक उपद्रव पैदा करने का बराबर यत्न करते रहते है। राज्यो के पुनर्गठन, मजदूरो की हड़ताले, खेतिहर मजदूरो के मामलो आदि मे उन्होने जो कुछ किया सो प्रत्यक्ष ही है। यद्यपि वे लोकतन्त्री कार्य पद्धति की दुहाई देते है, तथापि उनका काम करने का असली तरीका यही रहता है। अपने क्षेत्र मे वे किसी भी राजनैतिक दल को काम करने नही देते। न वे भाषण-स्वातन्त्र्य को मानते है, न छापाखाने की स्वतन्त्रता को। भारत के साम्यवादियो को यदि इस देश मे सत्ता हथियाने का अवसर मिले, तो सारे समाज पर अपनी सत्ता से छा जाने और हिंसा से काम लेने की नीति मे वे फर्क करेगे, यह मानने के लिए हमारे पास कोई कारण नही है।

गाधीजी सदा कहा करते थे कि उनका रास्ता सर्वोदय अर्थात् अहिसक समाजवाद का है और वर्ग-सघर्ष तथा हिसा पर आधारित साम्यवाद का सिद्धान्त मूलत अलग है। वह यह कहते कभी थकते नही थे कि साधन-शुद्धि सबसे पहली चीज है और उद्देश्य चाहे कितना ही अच्छा हो, यदि उसकी प्राप्ति के लिए अशुद्ध साधनो का उपयोग किया जाता है तो उससे अच्छा साध्य भी दूषित हो जाता है। इस कारण उन्होने साम्यवादियो की नीति और कार्यक्रमो को सदा गलत बताया और तमाम सामाजिक और आर्थिक प्रश्नो को लोकतन्त्र और अहिंसा के मार्ग से ही सुलझाने का आग्रह रक्खा। राजनैतिक स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए भी उन्होने झूठ, गुप्तता, और हिंसा को कभी प्रश्रय नही दिया। उनका यह दृढ विश्वास था कि हिसा और लोकतन्त्र कभी एक साथ नही रह सकते। वे सदा एक-दूसरे की काट करते रहेगे। एकाधिकारवाले (टोटलिटेरियन) राज्य मे व्यक्ति अपनी सारी आजादी खो देते है। यह चीज बुनियादी तौर पर सर्वोदय के सिद्धान्त से एकदम विपरीत है। गाधीजी के कल्पनागत अहिसक समाज मे व्यक्ति और समाज दोनों पूरी तरह से आजाद रहेगे और उन्हे अपने विचार प्रकट करने और विकास का पूरा-पूरा अवसर मिलेगा, उन्होने अपने स्वराज्य की कल्पना ग्राम-राज्य पर आधारित की है। ग्रामीण समाज का

यह अपना एक छोटा-सा स्वावलम्बी स्वराज्य होगा, जिसमे न कोई किसीका शोषण करेगा, न अपना शोषण दूसरे किसीको करने देगा। इसमे अपनी भौतिक जरूरते पूरी कर लेने के अलावा नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यो का भी खयाल उन्होने रक्खा है। साम्यवादी दृष्टि केवल भौतिक है, परन्तु सर्वोदय मे जीवन के भौतिक और नैतिक मूल्यो का समन्वय किया गया है। इसीलिए तो गाधीजी हमे हमेशा कहा करते थे कि साम्यवाद भारत की प्रकृति और सस्कृति के अनुकूल नही है। उन्होने साफ-साफ कहा था कि इस भूमि मे साम्यवाद नही पनप सकेगा।

अगले कुछ वर्ष हमे एक तरफ सम्प्रदायवाद से और दूसरी तरफ साम्य-वाद से सीधा लोहा लेने मे बिताने होगे। कहने की आवश्यकता नही कि सम्प्रदायवाद या मजहबवाद एक बहुत बडी बुराई है। वह राष्ट्रीयता की कल्पना पर अर्थात् प्रत्यक्ष भारत की एकता पर ही कुठाराघात करता है। वह यदि अधिक नही तो साम्यवाद के जितना ही अनिष्टकर है। इसलिए हमे इन दोनो का दृढता और हिम्मत के साथ मुकाबला करना होगा। कार्ल मार्क्स ने साम्यवादी विचार और काम करने का जो तरीका कायम किया, उसे सौ वर्ष बीत गये। यूरोप की तब जो हालत थी उसे ध्यान मे रखकर वे बाते कही गई थी। आज बीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे वैसी ही परिस्थितिया निर्माण करने की बाते करना निरी मूर्खता है। आज ससार पारस्परिक सहयोग और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की दिशा मे काफी आगे बढ गया है। अब वर्ग-सघर्ष और हिसक उपद्रवोवाली बाते बहुत पुरानी हो गई है। स्वय रूस मे, जहा साम्यवाद ने पहले-पहल अपनी स्थापना की, वहा की साम्यवादी पार्टी ने भी यह अनुभव कर लिया है कि खेती का जबरदस्ती से सामूहीकरण और अत्यधिक दमन जैसी पुरानी बातो की अब जरूरत नही है। प्रत्येक देश को हक है कि वह अपने यहा के लिए जिस प्रकार की चाहे आर्थिक और राज-नैतिक पद्धति पसन्द करे। हमे भी चाहिए कि हमारे पूर्वज हमारे लिए जो महान सास्कृतिक विरासत छोड गये है, उसकी महत्ता समझे, दूसरो को भी समझावे और उसके अनुसार अपना सामाजिक, आर्थिक और राज-नैतिक जीवन बनाये। भारतीय सस्कृति का यदि हम गहराई से अध्ययन करेगे तो ज्ञात होगा कि साम्यवादी विचार-दर्शन हमारे राष्ट्र की प्रकृति

और परम्परा के एकदम विपरीत है। अहिसक समाजवाद या सर्वोदय या पञ्चपरमेश्वर की कल्पना भारतीय सस्कृति का प्राण रही है।"[1]

: १९ .

आर्थिक संयोजन और शिक्षा

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आज देश मे हमे एक बडी अजीब समस्या का सामना करना पड रहा है। एक तरफ हजारो शिक्षित नवयुवक काम की तलाश मे मारे-मारे घूम रहे है और दूसरी तरफ बहुत-सी जगहे इसलिए खाली पडी है कि आवश्यक प्रशिक्षण पाये हुए आदमी उपलब्ध नही है। उदाहरण के लिए पचवर्षीय योजना मे कितनी ही योजनाओ को महज इसी कारण वर्षो तक हाथ मे नही लिया जा सका और उनके लिए जिस प्रकार का विशेष प्रशिक्षण पाये हुए युवको की जरूरत थी, वे आज भी नही मिलते है। इस समय हमे यान्त्रिको, सर्वेक्षण करनेवालो, ओवरसीयरो, डॉक्टरी सहायता पहुचानेवालो—खासकर गावो मे—नर्सों, स्टेनोग्राफरो और अन्य कितने ही प्रकार के कुशल और साधारण जानकारो की भी अत्यन्त आवश्यकता है। कितने ही राज्यो की सरकारे उनके लिए केन्द्रीय शासन द्वारा मजूर रकमो का स्थानीय योजनाओ, सिचाई-योजनाओ और सडके आदि बनाने मे केवल इसी कारण उपयोग नही कर पाई है कि उन्हे इनके लिए योग्य आदमी नही मिल रहे है। इससे स्पष्ट है कि हमारी शिक्षा-सस्थाओ और विकास-योजनाओ मे परस्पर सहयोग नही है। ऐसे सहयोग और एकीकरण के बगैर शिक्षितो की बेकारी और प्रशिक्षित आदमियो की कमी को कदापि दूर नही किया जा सकेगा। फिर शिक्षा मे विविधता की और अनेक तरह के उद्योगो और कलाओ के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था करने की बडी जरूरत है। अब सरकारो को और जनता को भी कोरा साहित्यिक ज्ञान देनेवाली शिक्षा को प्रोत्साहन देना बन्द कर देना चाहिए। सच तो यह है कि आज के ढग के स्कूल-कॉलेजो का बढाना एकदम बन्द हो जाना चाहिए।

भारत सरकार ने बुनियादी शिक्षा को भावी शिक्षा-पद्धति के नमूने के

[1] 'गाधी और मार्क्स' (नवजीवन) की प्रस्तावना से

रूप मे स्वीकार कर लिया है। इसके प्रवर्तक महात्मा गाधी है। इस पद्धति का मुख्य सिद्धान्त वही है, जो ससार के सभी शिक्षा-शास्त्रियो को मान्य है अर्थात्—काम करते-करते सीखना—उत्पादक काम करते-करते विविध विषयो का ज्ञान प्राप्त करना। बुनियादी शिक्षा का अर्थ शिक्षण+ काम नही, बल्कि काम के द्वारा शिक्षण है। मतलब यह कि भाषा, गणित, भौतिक विज्ञान, समाज-विज्ञान, इतिहास, भूगोल आदि विषयो का ज्ञान कताई, बुनाई, सुतारी, लोहारी आदि दस्तकारियो के अनुबन्ध से दिया जाय। शिक्षा के साथ हमारी विविध विकास-योजनाओ को जोडने की मौलिक समस्या का व्यावहारिक हल नि सन्देह इस बुनियादी शिक्षा-पद्धति मे है। बुनियादी शालाए शहरो और गावो मे भी हमारे बच्चो को इन योजनाओ से सम्बन्धित विविध कामो के लिए तैयार करने मे बहुत मददगार होगी। वर्तमान शिक्षा-सस्थाओ की भाति बच्चो को निरे बाबू बना-बनाकर निकालने के बदले ये शालाए हमारे बच्चो-बच्चियो को ऐसे सक्षम और उत्साही युवक और युवतिया तैयार करके भेज सकेगी, जो नवीन भारत के निर्माण मे जी-जान से जुट जायगे। इनको काम की तलाश मे अर्जिया ले-लेकर दर-दर मारे-मारे नही घूमना होगा। कडे परिश्रम, उपयोगी काम और स्वावलम्बन की हिम्मत उनमे होगी और वे अपने भाग्य के निर्माता स्वय होगे।

प्रत्येक राज्य मे केवल प्रयोग के रूप मे कुछ शालाए खोल देने से अब काम नही चलेगा। प्रयोगो की अवस्था को हम कभी के पार कर चुके है। अब तो तमाम प्राथमिक और माध्यमिक शालाओ को अविलब बुनियादी पद्धति की शालाओ मे योजनापूर्वक बदल देना जरूरी है। विश्वविद्यालयो की शिक्षा के स्वरूप मे भी आमूल परिवर्तन करने की जरूरत है। जो हो, बुनियादी शालाओ से निकलनेवाले जो विद्यार्थी कालेजो या विश्वविद्यालयो मे शिक्षा लेना चाहे, उन्हे किसी प्रकार असुविधा नही अनुभव होनी चाहिए। इसके विपरीत उन्हे प्रोत्साहन और हर प्रकार की सुविधा ही दी जानी चाहिए।

शालाओ के पाठ्यक्रम मे अग्रेजी की पढाई की व्यवस्था इस प्रकार कर दी जाय कि बुनियादी शिक्षा पानेवाला विद्यार्थी सक्रमणकाल मे अग्रेजी

के ज्ञान की कमी के कारण किसी प्रकार की असुविधा अनुभव न करे। भाषा के रूप मे अग्रेजी के हम विरोधी नही है। वह यदि सबसे अधिक महत्व-पूर्ण नही तो संसार की सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाषाओ मे से एक अवश्य ही है। परन्तु केवल इस कारण वह हमारे राष्ट्रीय जीवन मे देशी भाषाओं का स्थान नही ले सकती और खासकर शिक्षा के क्षेत्र मे तो हरगिज नही। हिन्दी और अन्य भाषाओ को न केवल शालाओ और कालेजो मे शिक्षा का माध्यम बना दिया जाना चाहिए, बल्कि अखिल भारतीय सेवाओ के लिए भी परीक्षा का माध्यम वे ही हो। हमारे युवक अपनी शिक्षा मे एक विषय के रूप मे अग्रेजी अथवा अन्य किसी विदेशी भाषा का भी अध्ययन अवश्य कर सकते है, परन्तु हमारे सामाजिक और शैक्षणिक जीवन मे अग्रेजी को आज जो अस्वाभाविक स्थान दिया जा रहा है, वह तो एकदम अनुचित है।

कुछ लोगो का यह ख्याल है कि बुनियादी शिक्षा मे चूकि उद्योगो की शिक्षा का प्रबन्ध करना पडता है, इसलिए वह वर्तमान शिक्षा से महगी पडेगी। आचार्य विनोबा भावे ने एक वार इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा था कि उद्योगो की शिक्षा के लिए शालाओ मे अलग से विशेष खर्च की कोई जरूरत नही होनी चाहिए। उनकी यह निश्चित राय है कि आज शहरो मे और गावो मे जो दस्तकारिया जारी है उनका उपयोग अनुवन्ध के तौर पर वच्चो को सिखाने मे हो सकता है। इस प्रकार वच्चो की शिक्षा के आधार के लिए वहुत-सी दस्तकारिया उपलब्ध हो सकेगी और किसी भी शाला के साथ अलग से कोई उद्योगशाला नही जोडनी होगी। यदि इस सिद्धान्त पर सही-सही तौर पर और सूझ-वूझ के साथ अमल किया गया तो वगैर किसी अतिरिक्त खर्च के सारे देश मे वुनियादी शिक्षा का प्रचार हो सकेगा। इसके अलावा यह भी याद रहे कि वुनियादी शिक्षा केवल गावों के लिए ही नही है, वह तो एक नई प्रकार की और सम्पूर्ण, स्वतन्त्र शिक्षा-पद्धति है। इसलिए उसका प्रसार शहरो और गावो दोनो जगह एक साथ होना चाहिए। वेशक शहरो की आधारभूत दस्तकारिया गावो की दस्त-कारियो से अलग प्रकार की होगी। यदि दस्तकारियों का प्रारम्भ केवल गावो मे ही किया जाता है तो लोग समझते हैं कि गावो का महत्व कुछ कम है। वे शहर के लोगो की नीयत मे शक भी करने लगते है। मद्रास राज्य

मे इस प्रकार की भूल हो गई थी। ऐसी भूल दूसरी जगह नही होनी चाहिए।

कुछ प्रमुख शिक्षा-शास्त्रियो का सुझाव है कि भारत मे कोई भी विद्यार्थी उपाधि प्राप्त करने के लिए तभी योग्य माना जाय जब वह कुछ महीने अनिवार्य रूप से समाज की सेवा कर ले। यह शरीर-श्रम और समाज-सेवा का कार्य युवको को विकास-योजनाओ मे काम दिलाने मे भी निश्चय ही काफी मददगार होगा। समाज के अन्दर से इस प्रकार नवयुवको की अनिवार्य भरती करने का समय आ गया है। इसलिए उसपर तुरन्त अमल करने योग्य एक व्यवस्थित और व्यावहारिक योजना अवश्य तैयार कर लेनी चाहिए। इस प्रकार यदि हम शिक्षा-पद्धति मे समयानुकूल सुधार कर ले और तमाम शिक्षा-सस्थाओ मे किसी-न-किसी प्रकार का समाजोपयोगी शरीर-श्रम अनिवार्य कर दे तो हम इस प्राचीन भूमि की शकल बदल देने मे अवश्य ही सफल हो सकेगे। राष्ट्र के सच्चे और सफल सयोजन के लिए उपयुक्त शिक्षा-पद्धति का होना बहुत जरूरी है। इसलिए इस काम मे, हम जितनी भी जल्दी सम्भव हो, लग जाय और सारी शिक्षा-पद्धति को नया रूप दे दे।

२०

शिक्षा और लोकतन्त्र

सविधान की ४५वी धारा मे लिखा है, "राज्य दस वर्ष के अन्दर ऐसा यत्न करे कि चौदह वर्ष के अन्दरवाले सब बच्चो—लडको और लडकियो—को भी शिक्षा नि शुल्क और अनिवार्य रूप से मिलने लग जाय, परन्तु यह देखकर दु ख होता है कि यह लक्ष्य अभी तक पूरा नही हो सका है, और न इसके लिए कोई निश्चित योजना ही है।

हमारा ख्याल है कि इसमे मुख्य कठिनाई धन की इतनी नही है, जितनी इस निर्णय की कि राष्ट्रीय सयोजन मे हम शिक्षण को कितनी प्राथमिकता देते है। इस दृष्टि से जब हमने दूसरी पचवर्षीय योजना के अको का अध्ययन किया तो हमे यह देखकर दु ख हुआ कि पहली पचवर्षीय योजना की अपेक्षा दूसरी पचवर्षीय योजना मे शिक्षा के लिए रक्खी गई रकम का प्रतिशत बहुत कम है।

असल बात यह है कि हम तो चाहते है कि प्राथमिक शिक्षा सात से चौदह वर्ष के अन्दर के सभी बालको को अवश्य मिले और बच्चो की इस आयु-मर्यादा मे हम जरा भी कमी नही करना चाहते, क्योकि लोकतन्त्र व्यापक आधार पर काम करे, इसके लिए यह जरूरी है कि इस योजना मे और अगली योजना मे भी हम शिक्षा को बहुत अधिक प्राथमिकता दे। प्रधान मन्त्री ने कहा था कि टोकियो की नगरपालिका सडको की बत्तियो और सामान्य प्रबन्ध पर बहुत कम खर्च करती है और शिक्षा, आरोग्य, जैसे समाज-सेवा के कार्यो पर बहुत अधिक। यह उचित ही है। इसलिए हम भी बहुत जोर देकर कहना चाहते है कि हमे भी शिक्षा पर और खास तौर पर प्राथमिक शिक्षा पर काफी अधिक खर्च करना चाहिए। इसके अलावा भिन्न-भिन्न प्रकार के विकास-कार्यो का यदि समन्वय किया जाय तो इस कार्य के लिए और भी रकम उपलब्ध हो सकती है। उदाहरण के लिए खादी और ग्रामोद्योगो पर खर्च की जानेवाली रकम का काफी बडा अश बुनियादी शालाओ मे उत्पादक दस्तकारियो के लिए दिया जा सकता है। इसी प्रकार का समन्वय सामुदायिक विकास-योजनाओ और राष्ट्रीय विकास-खण्डो की प्राथमिक शिक्षा और समाज-शिक्षा की प्रवृत्तियो मे किया जा सकता है। प्रधान मन्त्री ने कई बार कहा है कि शालाओ के लिए मकान बनाने के खर्चे मे काफी कमी की जानी चाहिए। पेडो के नीचे भी वर्ग लेकर हमे सन्तोष मान लेना चाहिए और इसके लिए आज-कल की भाति लम्बी छुट्टिया गर्मी मे देने के बजाय वर्षा मे दी जाय। मकान की जरूरत हो भी तो बहुत अधिक लागत का मकान बनाने की अपेक्षा कम लागत का मकान स्थानीय सामग्री काम मे लेकर बनाया जाय। शाला भवनो के लिए जनकार्य-विभाग की वर्तमान दरे और नक्शे बहुत खर्चीले है। उनमे आमूल परिवर्तन करने की जरूरत है। मकानो पर इतना अधिक खर्च करने की अपेक्षा अच्छे शिक्षको पर यह रकम खर्च करना अधिक उपयुक्त होगा। शिक्षको के वेतन का एक अश पहले की भाति पचायतो ने अनाज के रूप मे फसलो पर भी लिया जा सकता है।

मतलब यह कि प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य, नि शुल्क और सार्वत्रिक करने के प्रश्न को हम तभी हल कर सकेगे जब पुरानी लकीरो को पीटना

छोडकर हम नये साधन ढूढने की कोशिश करेगे। प्राथमिक शिक्षा के प्रचार मे विश्वविद्यालयो के स्नातको की सेवाओ का उपयोग भी किया जा सकता है। पदवी देने से पहले उनके लिए इस सेवाकार्य मे कुछ समय देना अनिवार्य किया जा सकता है। यह सुझाव नया नही है। राष्ट्र की एक महान और जरूरी आवश्यकता के रूप मे यदि इस प्रश्न को हाथ मे लिया जाय और प्राथमिक शिक्षा के प्रचार का एक व्यवस्थित अभियान शुरू किया जाय तो हमे विश्वास है कि लोग काफी सख्या मे अपनी सेवाए इस काम को सफल करने के लिए प्रसन्नतापूर्वक अर्पित करेगे। क्रान्तिया और सामूहिक आन्दोलन केवल पैसे के बल पर नही चलाये जा सकते। राज्यो को चाहिए कि इस काम के लिए जनता के सहयोग और सहायता की माग करे। इस प्रकार राष्ट्र के बच्चो की शिक्षा के प्रश्न को हल करने के लिए पैसे की उतनी जरूरत नही है, जितनी देशव्यापी उत्साह निर्माण करने और उसे सगठित करने की है।

फिर हमे इस बात का भी ध्यान रखना है कि इस प्राथमिक शिक्षा मे बच्चो को क्या पढाया जायगा।

राष्ट्र के भावी नागरिक—पुरुष और स्त्रिया भी—चरित्रवान और सेवा-शील बने, इसलिए यह जरूरी है कि इस शिक्षा मे नैतिक गुणो पर ही जोर दिया जाय, जिनसे राष्ट्र महान् बनते है। पढने-लिखने और हिसाब-किताब की मामूली शिक्षा के अतिरिक्त बच्चो को अपने अधिकार और कर्तव्य बताये जायं। उन्हे यह भी सिखाया जाय कि समाज के प्रति उनके क्या कर्तव्य है। सदाचार, सामाजिक व्यवहार, आरोग्य और स्वच्छता के सिद्धान्त भी उन्हे बताये जाय। फिर राष्ट्र के प्रति उनके दिलो मे निष्ठा उत्पन्न करने के लिए हमारी महान् सास्कृतिक और ऐतिहासिक परम्पराओ से भी उन्हे परिचित करा दिया जाय। प्राथमिक शालाओ के इन बालको को अपने हाथ से स्वय सब काम करना भी सिखाया जाय। कलात्मक किन्तु उपयोगी चीजे बनाना भी उन्हे सिखाया जाय। हमारा देश गरीब और खेती-प्रधान है। हमे अपने बच्चो को ऐसी शिक्षा नही देनी है कि जिससे वे अपने घर और गाव को छोडकर शहरो मे चले जाय और दूसरो के परिश्रम पर जीना सीखे। इसी दृष्टि से बुनियादी शिक्षा हमारे

देश के लिए सबसे अधिक मौजू है और इसमे यदि यह भी ध्यान रक्खा जाय कि विद्यालयो मे जो दस्तकारिया सिखाई जाय उनकी मदद से उपयोगी चीजे भी बने तो राष्ट्र पर शिक्षा का आर्थिक बोझ भी कुछ तो कम हो ही सकता है।

· २१ ·

शिक्षा में सम्प्रदायवाद

शिक्षा का एक और पहलू विचारणीय है। अनेक शहरो मे किसी खास सम्प्रदाय, धर्म या जाति के नाम पर शिक्षा-सस्थाए स्थापित है। एक धर्म-निरपेक्ष राज्य मे इस प्रकार की शिक्षा-सस्थाए मेल नही खाती। इनमे से फूट की प्रवृत्तिया जोर पकडती रहती है और इसका परिणाम शिक्षको और विद्यार्थियो पर भी पडता रहता है। यह सच है कि इन सस्थाओं मे दूसरे समाजो के विद्यार्थियो को भी प्रवेश दे दिया जाता है, परन्तु यह तो लोक-मत के दबाव से होता है और यह बताने के लिए कि वे असाम्प्रदायिक और राष्ट्रीय है, परन्तु इसमे उनका जातीयता या साम्प्रदायिकता कम नही हो जाती। वह शिक्षको और कम उम्र के विद्यार्थियो पर अपना अनिष्ट प्रभाव डालता ही रहता है। राष्ट्र मे लोकतन्त्र की जडो को मजबूत करने के लिए हमे जातिवाद और सम्प्रदायवाद को लोगो के दिलों से निर्मूल करना ही चाहिए। यदि कोमल उम्र के बच्चो और बच्चियो के दिल शालाओ मे जातिवाद और सम्प्रदायवाद से विषाक्त होते रहे तो हमारे देश मे लोक-तन्त्र की स्वस्थ परम्पराओ के विकास की आशा करना व्यर्थ ही होगा।

इस विषय मे कहा जाता है—और वह गलत नही है—कि भारत सरकार भी तो वाराणसी मे हिन्दू-विश्वविद्यालय और अलीगढ मे मुस्लिम विश्वविद्यालय चला रही है। इन विश्वविद्यालयो मे भी यद्यपि सभी जातियो और समाजो के विद्यार्थियो को लिया जाता है, फिर भी इनके नाम-मात्र के कारण भी कुछ भेद का सकेत हो ही जाता है और लोकतन्त्री समाजवादी धर्म-निरपेक्ष राज्य को शोभा नही देता। इन उच्च विद्यालयो के साधारण वातावरण मे भी साम्प्रदायिकता है ही। हम समझ नही पा रहे हैं कि अभी तक हमारी केन्द्रीय सरकार ने इनके नामो के साथ जुड़े

हुए सम्प्रदाय-सूचक शब्दो को क्यो नही हटा दिया और इनके अन्दर राष्ट्रीय वातावरण क्यो नही निर्माण कर दिया। हमे यह प्रयत्न तो करते ही रहना चाहिए, जिससे ये प्रतिगामी विचार हमारी आनेवाली पुश्तो के दिलो को अब आगे दूषित न करने पावे और केन्द्रीय शासन इस दिशा मे कोई साहसभरा कदम उठावेगा तभी राज्यो की सरकारो को भी प्रदेशो मे इस प्रकार के कदम उठाने की हिम्मत होगी।

आर्थिक दृष्टि से पिछडी हुई जातियो को आर्थिक सहायता और छात्र-वृत्तिया देने की हमारी नीति मे जातिवाद और सम्प्रदायवाद का अर्थ-शास्त्र और भी प्रकट हो जाता है। आज लोगो मे अपनेको इन पिछडे वर्गों मे गिनाने की दौड लगी हुई है। भारत जैसे गरीब देश मे स्वभावत बहुत-से लोग पिछडे हुए है, परन्तु इसका अर्थ यह तो नही कि पिछडे हुए गिने गये वर्ग के सब-के-सब आदमी इतने गरीब है कि उनको सरकारी खजाने से आर्थिक सहायता दी जाय। इसलिए उचित यह है कि शासन से आर्थिक सहायता उन्हीको दी जाय, जो सचमुच गरीब हो, न कि उनको जो महज किसी खास जाति या वर्ग के है। जातियो के नाम पर यदि आर्थिक सहायताए दी जाती है तो स्वभावत जाति-प्रथा की उम्र बढाने की वृत्ति समाज मे बनी रहती है। अनुसूचित जातिया और जन-जातियो को एक निश्चित अवधि के लिए एक स्वतन्त्र वर्ग मे रख दिया गया है। तबतक उनको राज्य से अवश्य ही विशेष रियायते मिलती रहे, परन्तु उनमे भी हमको आर्थिक और सामाजिक सुधार करना चाहिए, ताकि अन्त मे हम ऐसी स्थिति निर्माण कर सके जब जातिगत भेद-भावो को हम पूरी तरह से मिटा सके।

आज भारत के सार्वजनिक जीवन मे दो खतरनाक चीजे है। पहली चीज है साम्यवाद और उसकी हिसा और वर्ग-सघर्ष की नीति। साम्यवाद का वर्गविहीन समाजवाला लक्ष्य नि सन्देह अच्छा है। परन्तु इसकी प्राप्ति के लिए जिन उपायो का अवलम्बन किया जाता है वे गलत है। वे स्वय लक्ष्य को भी अशुद्ध बना देते है। दूसरी खतरनाक चीज है जातिवाद और सम्प्रदायवाद। यह तो सारा-का-सारा नीचे से ऊपर तक अशुद्ध और अनाडीपन से भरा हुआ है और राष्ट्रीय एकता की नीव को ही कमजोर

और खराब करता है।

२२
कम विकसित देश में विरोधी दल

श्री जयप्रकाशनारायण ने अपने एक भाषण मे कहा था, "अच्छा हो या बुरा, भारत ने ससदीय लोकतन्त्र का मार्ग पसन्द किया है। लोकतन्त्र की यह पद्धति सर्वोत्तम है, ऐसा हम नही कह सकते। फिर भी हर खेल के कुछ नियम होते है। तदनुसार ससदीय लोकतन्त्र का यह एक बुनियादी नियम है कि इसमे तबतक अच्छी तरह से काम नही हो सकता जबतक सामने कोई शक्तिशाली विरोधी दल नही होगा। यह विरोधी दल सदा आखो मे तेल डालकर शासकीय दल के हर काम को देखता रहता है, जिसके कारण शासकीय दल को सदा सही मार्ग पर चलना पडता है।"

दूसरी तरफ आचार्य विनोबा भावे कहते है कि सब दल मिलकर एक सामान्य राष्ट्रीय कार्यक्रम बनावे और उसके आधार पर देश का शासन प्रबन्ध हो। वह कहते है कि चूकि देश मे विचार-भेद रहेगे, इसलिए राजनैतिक दल भी रहेगे ही। परन्तु वह चाहते है कि विचार-भेद के ये सघर्ष विश्वविद्यालयो, महाविद्यालयो और विद्वानो तक ही सीमित रहे। इनको जनसमाज मे लाकर उसमे बुद्धि-भेद नही फैलाना चाहिए। इससे असली सामाजिक और आर्थिक जरूरतो की बाते अलग रक्खी रह जाती है और इन बुद्धिवादो मे लोग उलझ जाते है। आचार्य विनोबा की यह दृढ़ राय है कि पश्चिम मे जिस प्रकार का ससदीय लोकतन्त्र चल रहा है वह भारत के लिए बहुत उपयोगी नही है। भारत जैसे कम विकसित देश मे यह जरूरी है कि तमाम भले आदमियो की शक्तिया समाज की भावी हालत सुधारने मे लग जानी चाहिए। इसलिए वह चाहते हैं कि राजनैतिक सत्ता विकेन्द्रित कर दी जाय ताकि पचायते अपने-अपने गाव की सेवा मे लग जाय और ग्रामीण समाज की सामाजिक, आर्थिक दशा-सुधार की योजनाए बनाकर उनके अमल मे वे लग जाय। ऐसी स्थानीय लोकतन्त्री सस्थाओ मे विरोधी दलो के लिए बहुत अधिक स्थान नही होता। पुराने जमाने की पचायतें आजकल के ससदीय लोकतन्त्र की पद्धति की सस्थाए नही थी। वे सारे

समाज को एक मानकर चलती और पचायत के सारे सदस्य मिलकर एक दिल से उसकी सेवा करते। महात्मा गाधी भी भारत मे इसी नमूने का लोकतन्त्र चाहते थे। उन्होने एक सामान्य केन्द्र की कल्पना की थी। वह केन्द्र गाव था। उसके वाद जिला, प्रान्त और सारे देश के एक-से-एक वडे ऐसे अनेक वर्तुल हो; परन्तु सवका केन्द्र-विन्दु गाव ही होगा।

सच तो यह है कि पश्चिम के देशो मे भी ससदीय लोकतन्त्र सव प्रकार से निर्दोष शासन-पद्धति सिद्ध नही हुई है। अनेक वार शासकदल सफलता के साथ लोकमत की उपेक्षा कर देता है और विरोधी दल निष्फल और वेकार वन जाता है। श्रीलंका के प्रधान मन्त्री ने एक वार कहा था कि खासकर कम विकसित देशो मे हमे दूसरे प्रकार की शासन-पद्धति का विकास करना होगा, जिसके अन्दर सारे राजनैतिक दलो का प्रतिनिधित्व हो और वे सब मिलकर राष्ट्र की विकास-योजनाओ को सफल वनावे। भारत की पचायतो मे इसी समन्वय की पद्धति से काम होता था। उसमे विरोधी दल नाम का कोई अलग दल नही होता था। हमारे जैसे आर्थिक दृष्टि से कम विकसित देश मे विरोधी दल की पद्धति महगी पडेगी। वह यहा नही पुसा सकती। यहा केवल विरोध के लिए विरोध की गुजाइश नही है।

हमारे देश मे ऐसे बहुत-से लोग और समूह है, जो प्रगति के और सामाजिक तथा आर्थिक विकास के मार्ग मे सदा रोडे अटकाने का काम करते रहते है ऐसे प्रतिक्रियावादी और समाज-विरोधी तत्वो से हमे हमेशा लडना पडता है और जब विरोधी दल अपने नजदीक के स्वार्थो को पूरा करने के लिए इन प्रगति-विरोधी तत्वो को वढावा देने का यत्न करते है तब इन गलत प्रवृत्तियो को रोकने मे हमे अपनी शक्तिया लगानी पडती है। इसका नतीजा यह होता है कि विकास की वहुत-सी योजनाओ पर बुरा असर पडता है और प्रगति की रफ्तार अकारण धीमी पड जाती है। यह कोई अच्छी बात नही कही जा सकती, जबकि होना तो यह चाहिए कि देश मे जितने भी धन-जन के साधन है, वे सव जनता की हालत सुधारने के काम मे लग जाने चाहिए।

: २३ :

मनुष्य और यन्त्र

आज भारत मे मनुष्यो और यन्त्रो के बीच होड-सी लगी हुई है। एक तरफ लाखो-करोडो लोग काम की और रोजी की माग कर रहे है और दूसरी तरफ यहा के उद्योगपति और यन्त्रशास्त्री ऐसे यन्त्र लाने या बनाने की फिराक मे है कि उन्हे मजदूरो पर अधिक निर्भर न रहना पडे। यह सब विज्ञान और यन्त्र-शास्त्र की प्रगति के नाम पर हो रहा है। बहुद्देशी नदी घाटी योजनाओ के सिलसिले मे देश मे अनेक बाध बाधे जा रहे है। ईंट-पत्थर के स्थान पर हम सीमेन्ट और ककरीट का उपयोग कर रहे है। मनुष्यो की बेकारी और रोजी की दृष्टि से इन दो पद्धतियो मे कितना फर्क पड जाता है, इसका हमारे इजीनियर और यन्त्रशास्त्री शायद ही कभी ख्याल करते है। अगर चूने-पत्थर से काम लिया जाय तो योजनाओ मे बहुत-से आदमियों को रोजी मिल सकती है। सीमेन्ट, ककरीट की पद्धति मे काम अवश्य जल्दी होता है, परन्तु भारत जैसे देश मे जहां इतने सारे आदमियो को रोजी देने की समस्या है, यह पद्धति लाभदायक नही है। देश के विभिन्न भागो मे हजारो नल-कूप (ट्यूब वैल) खोदे जा रहे है, परन्तु इसके लिए मनुष्यो द्वारा चलाये जानेवाले यन्त्रो से काम लेने के बजाय अमरीका से शक्ति-चालित कीमती यन्त्र मगाये जाते हैं। इनकी मदद से काम अवश्य जल्दी हो जाता है, परन्तु ये हजारो-लाखो लोगो को रोजी देकर इस महान् राष्ट्रीय प्रयास मे भाग लेने का अवसर नही प्रदान कर सकते। गांवो के कारीगर अपने हाथ-करघे, घानी, ढकी, कोल्हू और कपडे की छपाई का काम आदि करके किसी प्रकार अपना पेट भरने का प्रयास करते रहते है, परन्तु उद्योगपतियो से मानो यह देखा नही जाता। वे इन कामो के कार-खाने और मिले खोलने के लिए नये-से-नये नमूने के यन्त्र मगाते ही जा रहे है, जो इन गावो के कारीगरो की रोजी छीनते जा रहे हैं। हमे बीडी के उद्योग से कोई प्रेम नही, परन्तु यह आज छ लाख आदमियो को रोजी दे रहा है। अब बीडिया बनाने के लिए भी देश मे ही नये यन्त्र तैयार होने लग गये हैं, जिनको यदि पूरा मौका दिया गया तो गृहोद्योग मे काम करनेवाले पांच

लाख आदमियो की रोजी पर ये पानी फेर देगे।

मुख्य मुद्दे को साफ करने के लिए ये तो केवल कुछ उदाहरण गिनाये है। यह समझना भूल है कि यन्त्र स्वय कोई भली या बुरी चीज है। वह तो उसका सही या गलत उपयोग उसे ऐसा बना देता है। उदाहरण के लिए समय बचानेवाले यन्त्रो को शायद कोई बुरा नही कहेगा। रेले, मोटरे हवाई जहाज जैसे आवागमन के साधनो को हम सब अच्छा ही मानते है। शस्त्रास्त्र युद्धो मे सहार के साधन है। मनुष्यो की हत्या के लिए इनका उपयोग करने की कोई सलाह नही देगा। परन्तु मुख्य बात तो है उत्पादन के साधनो की। ये दो प्रकार के होते है—मजदूरो की बचत करनेवाले और मजदूरो को काम देनेवाले। मजदूरो की बचत करनेवाले यन्त्र उन देशो के लिए अच्छे माने जायगे, जहा काम करनेवाले आदमियो की कमी है। परन्तु जहा लोग काम के अभाव मे मजबूरी की हालत मे महीनो बेकार रहते है वहा तो ऐसे यन्त्र सकट-स्वरूप ही होगे। एक यन्त्र, जो सयुक्त राज्य अमरीका मे वरदान के समान माना जा सकता है वही भारत जैसे अविकसित देश मे, जहा पूजी कम और मजदूर बहुत है, अभिशाप बन जायगा। हमारा अन्तिम साध्य तो मनुष्य का कल्याण है। जो यन्त्र मनुष्य को बगैर बेकार किये उसकी उत्पादन-क्षमता बढा सकता है, वह अवश्य ही स्वागत योग्य होगा। परन्तु जो यन्त्र मनुष्यो को बेकार कर देते है अथवा उन्हे अपना गुलाम या जड पुर्जा बना देते है, वे कभी मनुष्य-समाज के लिए लाभदायक नही माने जा सकते। इसलिए हमे याद रखना चाहिए कि हमारी तमाम आर्थिक और औद्योगिक विकास की योजनाओ मे मनुष्य का स्थान सर्वोपरि रहे।

आज भारत के सामने पूरी और आशिक बेकारी की कठिन समस्या है। भारत के और बाहर के भी विशेषज्ञ इसके कई उपाय सुझाते है। परन्तु दिन-ब-दिन यह अधिकाधिक स्पष्टता के साथ अनुभव किया जा रहा है कि जबतक उत्पादन को विकेन्द्रित करके हम उसे गृहोद्योग, ग्रामोद्योग और छोटे उद्योगो के स्तर पर नही ले आवेगे, लोगो को हम अधिक काम नही दे सकेगे। प्रसन्नता की बात है कि शासन ने ग्रामोद्योगो को अपनी आर्थिक नीति के एक आवश्यक अग के रूप मे मान लिया है। बडे

पैमाने पर उत्पादन करनेवाले तमाम कारखानो मे, जिनमे कोई पन्द्रह करोड रुपयो की पूजी लगी हुई है, कुल मिलाकर तीस लाख आदमी काम कर रहे है। फिर भी जो लोग बडे कारखाने खोलकर भारत की बेकारी की समस्या को हल करने के सपने देख रहे है—हम क्षणभर मान ले कि इसके लिए कही से पूजी भी मिल जायगी—वे यह नही समझ पाते कि इन कारखानो मे पैदा किये गए माल को खपाने के लिए हम बाजार कहा से लावेगे ? बडे कारखानो मे तीसरी पाली खोलने की बात करना भी वृथा है, क्योकि वह तो छोटे उद्योगो मे भी किया जा सकता है। इस प्रकार केवल अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी यह अत्यन्त आवश्यक है कि अपने देश के नागरिको के लिए जीविका का साधन निर्माण करने के लिए शासन छोटे-छोटे उद्योगो और ग्रामोद्योगो का अधिक-से-अधिक विस्तार करे। खादी का अर्थशास्त्र केवल कुछ गाधीवादियो की सनक नही है, बल्कि हमारे सविधान के मार्ग-दर्शक सिद्धान्तो के अमल के लिए वह अनिवार्यत. आवश्यक है। तभी इस देश मे शाति और लोकतन्त्र की रक्षा हो सकेगी। पूजी के अभाव और इस भारी आबादी को लेकर यदि हम रूस और अमरीका जैसे अत्यन्त समृद्ध और अति विकसित देशो की नकल करने की कोशिश करेगे तो वह हमारे लिए आत्मनाश का मार्ग होगा। हमारी समस्याए चीन और जापान से अधिक मिलती-जुलती है, जो छोटे और गृहद्योगो के घर है। गृहोद्योगो और ग्रामोद्योगो की केवल बातो से काम नही बनेगा। विकेन्द्रीकरण या मौत, ये दो ही विकल्प हमारे सामने हैं।

कुछ लोग कहते है कि ग्रामोद्योग तो घडी के काटो को उलटे घुमाकर हमे पीछे को ले जायगे और आर्थिक विकास के मार्ग पर जा रहे प्रगति के इजिनो का मुह पलट देगे। यह भी कहा जाता है कि विकेन्द्रित पद्धति से उत्पादन की मात्रा घट जायगी तथा हमारी सभ्यता का स्तर गिर जायगा। परन्तु ये सारी कल्पनाए गलत है। यह सच है कि प्रारम्भ मे कुछ समय हमे शायद कुछ मोटी-झोटी चीजो से काम चलाना पडे, परन्तु इस युग मे यान्त्रिक प्रगति इतनी तेजी से हो रही है कि विकेन्द्रित पद्धति के यन्त्र बहुत जल्दी उत्पादन, कीमत और सुन्दरता मे केन्द्रित पद्धति के यन्त्रो को पीछे डाल देगे। औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ पत्थर के कोयले के उपयोग के

साथ हुआ। कोयले के कारण स्वभावत इस औद्योगिक युग मे कुछ केन्द्रीकरण अनिवार्य था, परन्तु बिजली की शक्ति उपलब्ध हो जाने के कारण अब उद्योगो का विकेन्द्रीकरण करके उन्हे गावो मे ले जाया जा सकता है। अब शाति के लिए ऐटम की शक्ति उपयोग करने के प्रयोग शुरू हो गये है और हम आशा कर सकते है कि दस-बीस वर्षो मे फिर औद्योगिक यन्त्रो की बनावट मे एक जबरदस्त क्रान्ति आवेगी। हमे विश्वास है कि यह ऐटम की शक्ति उद्योगो को पूरी तरह से विकेन्द्रित कर देगी। सच तो यह है कि आधुनिक विज्ञान और यन्त्र-शास्त्र धीरे-धीरे केन्द्रित उद्योगो को अवैज्ञानिक बनाते जा रहे है और अब आनेवाले युग मे विकेन्द्रित उत्पादन ही औद्योगिक विकास का वैज्ञानिक तरीका बन जायगा। यन्त्रो मे आवश्यक सुधार हो जाने पर गृहोद्योगो और छोटे उद्योगो मे तैयार होनेवाला माल भी वर्तमान बडे उद्योगो मे बने माल की अपेक्षा सस्ता पडेगा। अमरीका जैसे अत्यन्त उद्योग-प्रधान देश मे भी अब उद्योगो को विकेन्द्रित करने की प्रवृत्ति बढ रही है। ऐटम के इस युग मे अब राष्ट्र की रक्षा की दृष्टि से भी उद्योगो का विकेन्द्रीकरण जरूरी हो गया है। ऐटम के युद्धो मे बडे कारखानो पर बडी आसानी से बम डाले जा सकते है। मजदूरो और पूजीपतियो के बीच के झगडे भी विकेन्द्रीकरण मे बडे मददगार हो सकते है, क्योकि छोटे उद्योगो और गृहोद्योगो मे यन्त्रो के मालिक और काम करनेवाले अलग-अलग नही होगे। कारीगर स्वय यन्त्रो के मालिक होगे। औद्योगिक सहकारी समितिया न केवल उत्पादन की दृष्टि से अधिक लाभदायक रहेगी, अपितु समाज-कल्याण की दृष्टि से भी वे बहुत अच्छी रहेगी।

तो अब निर्णय करने का समय आ गया है। अब इस बात को कल पर नही टालना चाहिए। अब गाधीजी के विचार की अर्थ-रचना को अपनाने के सिवा कोई चारा नही दिखाई देगा। बेकारी, दरिद्रता और भूख हमारे सच्चे दुश्मन है। जबतक हम सारे देश मे गृहोद्योगो, ग्रामोद्योगो और छोटे-छोटे उद्योगो का जाल नही बिछा देगे, इनसे छुटकारा नही होगा। स्थापित स्वार्थवाले उद्योगपति निश्चय ही इसका विरोध करेगे, क्योकि तब शोषण के और मुनाफा कमाने के सारे रास्ते उनके लिए बन्द हो जायगे, परन्तु यदि इस प्राचीन भूमि मे लोकतन्त्र और शाति की रक्षा करनी है तो

उनकी बात मानने से हमे साफ इन्कार कर देना चाहिए। राजनीति मे 'धीरे-धीरे' के लिए गुजाइश नही होगी। ससार बडी तेजी-से आगे बढ रहा है और हम निश्चित नही बैठ सकते। हमे बहुत जल्दी करनी चाहिए। प्रगति और स्वतन्त्रता का मूल है निरन्तर सावधानी। कल्याण राज्य का कर्तव्य है कि पहले अपने नागरिको की भलाई का ख्याल करे। यन्त्रो को मनुष्यो का मालिक नही सेवक समझा जाना चाहिए। मनुष्यो की अपेक्षा यन्त्रो को यदि अधिक महत्व दिया गया तो उसका परिणाम होगा बरबादी और सकट।

२४ ·

हमारी उद्योग-नीति

आज से कुछ साल पहले प्रधान मन्त्री ने भारत सरकार का उद्योग-नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव ससद मे पढकर सुनाया था। यह प्रस्ताव अप्रैल सन् १९४८ मे स्वीकृत किये गए प्रस्ताव से कही अधिक अच्छा था, यद्यपि इसके भी आधारभूत सिद्धान्त तो वे ही थे। इस सम्बन्ध मे यह याद रखना जरूरी है कि सन् १९४८ वाला प्रस्ताव देश के विभाजन के तुरन्त बाद और भारतीय सविधान के तथा पहली पचवर्षीय योजना के बनने से पहले स्वीकृत किया गया था। पिछले कुछ वर्षो मे देश के अन्दर बहुत-से महत्वपूर्ण परिवर्तन और घटनाए हो चुकी है। भारत ने अपने राष्ट्र के सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य के रूप मे समाजवादी समाज-रचना को स्वीकार कर लिया है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि उद्योग-नीति सम्बन्धी हमारे बाद के प्रस्ताव मे सार्वजनिक क्षेत्र और सहकारी-समितियो पर अधिक जोर दिया जाय। सरकार के उद्योग-नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव के अनुसार उद्योगो को तीन वर्गो मे बाट दिया गया है। पहले वर्ग मे वे उद्योग आते हैं, जिनके विकास की सम्पूर्ण जिम्मेदारी राज्य की होगी। दूसरे वर्ग मे ऐसे उद्योग होगे, जिन्हे राज्य आगे चलकर आहिस्ता-आहिस्ता अपने हाथो मे लेगा। इस क्षेत्र मे नये-नये कारखानो की स्थापना करने का काम राज्य करेगा। परन्तु इसमे निजी उद्योगपति भी सरकार के प्रयत्नो मे सहयोग देगे। तीसरे वर्ग मे शेष सारे उद्योग होगे। इनके विकास की जिम्मेदारी और

भार पूर्णत निजी उद्योगपतियो की वुद्धि और शक्ति पर छोड दिया जायगा। प्रस्ताव मे यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि यह वर्गीकरण वहुत सख्त न मान लिया जाय। एक वर्ग के उद्योग दूसरे वर्ग मे शामिल किये जा सकेगे। ऐसे भी कई उद्योग है, जो दोनो वर्गों मे गिने जा सकते हैं, वल्कि उन्हे इस प्रकार सार्वजनिक और निजी दोनो क्षेत्रो मे लेना ठीक भी होगा।

भारत सरकार ने अपने प्रस्ताव मे गृहोद्योगो, ग्रामोद्योगो और छोटे-छोटे उद्योगो पर वडा जोर देते हुए कहा है कि राष्ट्र के साम्पत्तिक विकास मे इनका हिस्सा महत्वपूर्ण होगा। इन उद्योगो मे वहुत अधिक लोगो को तुरन्त काम दिया जा सकता है। इनकी मदद से राष्ट्रीय आय का निश्चित रूप से अधिक न्यायोचित वितरण भी हो सकता है और जो श्रम और पूजी वेकार पडे रहते, उनका उपयोग हो जाता है। प्रस्ताव मे यह भी साफ कर दिया गया है कि यद्यपि सरकार इन उद्योगो की आर्थिक सहायता करती रहेगी तथापि "राज्य की नीति यही होगी कि ये उद्योग इस प्रकार विकेन्द्रित कर दिये जाय कि वे स्वाश्रयी हो जाय और वडे पैमाने के उत्पादनवाले उद्योगो के साथ इनका उचित सामजस्य स्थापित हो जाय।" इसके लिए यह जरूरी है कि उत्पादन के साधनो और प्रक्रिया मे लगातार सुधार करके उसे आधुनिक वना दिया जाय। फिर यह परिवर्तन भी इस प्रकार हो कि जिससे समाज मे वेकारी बढने नही पाये।" छोटे-छोटे उद्योगो और ग्रामोद्योगो के विकास मे भी सहकारी पद्धति वहुत वडी मदद कर सकती है। प्रस्ताव मे यह भी वताया गया है कि जो क्षेत्र उद्योगो मे पिछडे हुए है अथवा जहा बेकारी अधिक है उनकी तरफ खास तौर पर अधिक ध्यान दिया जायगा।

इस प्रकार उद्योगो के सम्बन्ध मे शासन की नीति को इस प्रस्ताव ने विल्कुल स्पष्ट कर दिया है। उससे वहुत-से लोगो की शकाए और गलतफहमिया दूर होगई होगी और देश समाजवादी समाज की स्थापना की दिशा मे अवश्य ही कुछ कदम आगे बढा होगा। देश के आर्थिक सयोजन मे वुनियादी, भारी, छोटे-छोटे तथा ग्रामो और घरो मे चलाने लायक उद्योगो का स्थान कहा-कहा है, इसका सम्पूर्ण चित्र इस प्रस्ताव मे दे दिया गया है। फिर सार्वजनिक अर्थात् शासकीय और निजी क्षेत्रो

मे किन-किन उद्योगो का समावेश हो सकता है, यह भी [illegible] दिया। गया है। निजी क्षेत्र मे सहकारी औद्योगिक संगठनों पर जो जोर दिया गया है वह भी स्वागत योग्य ही है।

परन्तु कुछ मुद्दे ऐसे है, जिनकी तरफ सरकार का ध्यान खास तौर पर दिला देना उचित होगा। सबसे पहले यह साफ कर देना जरूरी है कि हमारा बुनियादी उद्देश्य है अधिकाधिक उत्पादन के साथ-साथ बेकारी को पूरी तरह मिटाना और सम्पत्ति का न्यायोचित वितरण। इसलिए बुनियादी उद्योगो, छोटे उद्योगो, ग्रामोद्योगो और गृहोद्योगो के लिए तफसीलवार कार्यक्रम बनाते समय अपनी नीति के तीनो मुद्दो को हम कही भुला न दे।

बुनियादी उद्योग हमारी आजादी की रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक, अत अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमे दो मत नही हो सकते। परन्तु जहातक उपभोग्य वस्तुओ के उत्पादन का सम्बन्ध है, यह साफ है कि विकेन्द्रित पद्धति के उद्योगो को ही हमे प्रधानता देनी होगी। इनमे सूती और गरम कपडे का उद्योग, चावल के कारखाने तथा तेल और चीनी आदि के छोटे उद्योग होगे। इन उद्योगो मे न केवल ऊपरी खर्च की बचत होती है, अपितु इनमे देश के बेकार मनुष्यो की शक्ति का उपयोग हो जाता है और परिवहन के साधनो का बोझ भी हल्का हो जाता है। वे समाज के आत्म-विश्वास और स्वावलम्बन को बढाते है तथा उपभोग्य वस्तुओ का वितरण जल्दी-जल्दी करने मे मददगार होते है। फिर गृहोद्योगो, ग्रामोद्योगो और छोटे-छोटे उद्योगो के उपकरणो मे भी सुधार तो करना ही होगा। इनमे आधुनिक शोधो का और शक्ति—ऐटम शक्ति का भी उपयोग हम अवश्य करना पसन्द करेगे, परन्तु एक शर्त पर। इन सुधारो से बेकारी नही होनी चाहिए। इस दिशा मे अम्बर चरखा हमारा मार्ग-दर्शन कर रहा है। उसमे और भी प्रतिदिन नये-नये सुधार हो रहे है और हम आशा कर सकते है कि दूसरे छोटे-छोटे और ग्रामीण उद्योगो मे भी इस प्रकार के सुधार करने की प्रेरणा हमे उससे मिलेगी। सूती कपडे के उद्योगपतियो ने अम्बर चरखे की आलोचना करते हुए कहा है कि यह तो राष्ट्रीय सम्पत्ति का एक प्रकार से अपव्यय ही है। उनकी यह आलोचना हमारे देश की बुनियादी समस्याओ

और सिद्धान्तो के बारे मे उनका अज्ञान प्रकट करती है। हमारी बुनियादी समस्याओ को हल करने का तरीका यह नही है। इन्हे हमे सद्भावपूर्वक और एक-दूसरे के दृष्टिकोण को ठीक तरह से समझकर हल करना चाहिए। श्री एकाम्बरनाथ द्वारा आविष्कृत सूत कातने के एक खास यन्त्र से अर्थात् अम्बर चरखे से हमारा कोई खास लेना-देना नही है। उसके बदले किसी दूसरे यन्त्र को भी हम अपना सकते है, जो हमारी जरूरतो को और शर्तो को पूरी कर दे, परन्तु मुद्दे की बात तो यह है कि हमारे राष्ट्रीय सयोजन मे इस प्रकार के छोटे-छोटे परन्तु अच्छा काम देनेवाले यन्त्रो का होना बडा जरूरी है, इतना तो स्वीकार कर लिया जाय।

दूसरी बात यह है कि अगले पाच या दस वर्षो मे देश से बेकारी को पूरी तरह से मिटाने की एक तफसीलवार योजना बना ली जाय। बडे पैमाने पर केन्द्रित उत्पादन करनेवाले उद्योग और छोटे उद्योग इनमे से अधिक महत्व का किनको माना जाय, इस विवाद को छेडना बेकार है। कभी-कभी पुराने विचार और सकीर्ण भावुकता की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार किया जाता है, परन्तु उससे कोई लाभ नही हो सकता, उलटे उससे हमारे कार्य को हानि ही पहुचने की सम्भावना है। हमारा मुख्य जोर तो है खेती और उद्योगो की उपज बढाने पर और सब लोगो को काम देने पर। अगर हमारे देश के उद्योगपति कोई ऐसी विस्तृत योजना बना सकते है कि जिसके द्वारा देश से बेकारी मिट जाय और साथ ही बाहर के बाजारो पर कब्जा करने के लिए दूसरे राष्ट्रो के साथ अनुचित होड भी न करनी पड़े तो उनकी योजना को हम मान लेगे और छोटे उद्योगो तथा ग्रामोद्योगो पर इतना जोर नही देगे। आचार्य विनोवा भावे ने तो यहातक कह दिया है कि यदि केन्द्रित उत्पादन करनेवाले बड़े-बडे कारखानो और उद्योगो के मालिक देश से बेकारी मिटा सकते है तो वे चरखे को जला देने के लिए तैयार हैं। इसका अर्थ यही है कि देश मे छोटे-छोटे उद्योगो और ग्रामोद्योगो पर जो इतना जोर दिया जा रहा है, उसकी जड मे कट्टर-पन्थी अन्धापन नही है। असली और बुनियादी समस्या है मानवी अर्थात् उन लोगो को पेट भर रोटी देने की, जो अपना पसीना बहाकर काम करने के लिए तैयार है।

हमारे आर्थिक और औद्योगिक सयोजन का एक और महत्वपूर्ण पहलू

है, जिसकी हमे चिन्ता करनी चाहिए। वह है प्रशिक्षित आदमियो का। खुशी की बात है कि उद्योग-नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव मे इसपर भी विचार किया गया है। उसमे कहा गया है कि उद्योगो के सार्वजनिक (शासकीय) क्षेत्र की जरूरते बढती जा रही है। इसी प्रकार छोटे-छोटे उद्योगो और ग्रामोद्योगो का भी विकास हो रहा है और इनके लिए शासन-व्यवस्थापकों और प्रशिक्षित कारीगर निर्माण कर ही रहा है। इसी प्रकार निरीक्षको की भी जरूरत लगातार बढती जायगी। सार्वजनिक क्षेत्रो तथा निजी उद्योगो का काम सीखने की इच्छा रखनेवालो के प्रशिक्षण की भी बहुत बडे पैमाने पर व्यवस्था करने की जरूरत है। विश्वविद्यालयो तथा अन्य सस्थाओ मे व्यापार-सचालन-सम्बन्धी प्रशिक्षण की भी व्यवस्था करनी होगी। इसके लिए आवश्यक कदम उठाये जा रहे है। हम आशा करे कि औद्योगिक विकास और शिक्षा मे आवश्यक सुधार एव इन दोनो मे सामजस्य स्थापित करने की ओर भी सरकार अधिक ध्यान देगी। कैसी अजीब बात है कि एक ओर तो शिक्षितो मे बेकारी बढ रही है और दूसरी तरफ हमारी अनेक विकास-योजनाओ के लिए प्रशिक्षित आदमी नही मिल रहे है।

समाजवादी समाज के निर्माण की आप कोई भी योजना लीजिये, उसमे निश्चय ही नौकरशाही के हाथो मे सचालन-सत्ता चले जाने का बहुत बडा खतरा होता है। यद्यपि राष्ट्रीयकरण की कल्पना मे एक हद तक सत्ता का केन्द्रीकरण होता ही है। फिर भी यह अत्यन्त आवश्यक है कि आर्थिक और राजनैतिक सत्ता को विकेन्द्रित करने की हर प्रकार मे सावधानी रक्खी जानी चाहिए। अत्यधिक केन्द्रीकरण से लोकतान्त्रिक शक्तिया पनप नही पाती और नौकरशाही जोरदार बन जाती है। इसलिए हमारे सयोजन को इन दो खतरो मे बचा लेना बहुत जरूरी है। खुशी की बात है कि शासन के ध्यान मे यह बात है, क्योकि १९५६ के उद्योग-नीतिवाले प्रस्ताव मे सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर भी खास तौर पर जोर दिया गया है। कहा गया है कि सार्वजनिक कामो मे 'अधिक-से-अधिक आजादी' हो। परन्तु इतना ही काफी नही है। अपनी बुनियादी आर्थिक जरूरते पूरी करने मे हमारे गाव स्वाश्रयी रहे, इसके लिए यह जरूरी है कि अपनी योजनाए वे खुद ही बनावे

और शासन इसमे उन्हे हर तरह का प्रोत्साहन दे और आगे वढावे। जैसा कि पहले वताया जा चुका है, उद्योगो के अत्यधिक केन्द्रीकरण से न केवल व्यक्ति और समाज की वुद्धि और शक्ति का विकास रुक जाता है, अपितु राष्ट्र की परिवहन-प्रणाली का वोझ भी वहुत अधिक वढ जाता है। इसलिए हमारी उद्योग-नीति के अमल मे विकेन्द्रीकरणवाली वात कभी आखो से ओझल न होने दी जाय और इस काम मे ग्राम-पचायते तथा सहकारी उद्योग-समितिया निश्चय ही वहुत वडा काम कर सकती है।

२५

छोटे उद्योगों का अर्थशास्त्र

हाल ही मे कुछ दिन हुए तब भारत मे इटरनेशल प्लानिंग टीम—अन्तर्राष्ट्रीय सयोजन दल—आया था। उसने भारत के छोटे उद्योगो की जाच की। इसके प्रतिवेदन ने देश मे फैली हुई पूरी और आशिक वेकारो की समस्या को हल करने के उपाय के रूप मे शासन और उद्योगपतियो का ध्यान एक बार फिर छोटे और गृहोद्योगो पर केन्द्रित कर दिया। प्रतिवेदन का यह कथन सही कि भारत मे अपने उद्योगो के लिए घर मे ही काफी अच्छा बाजार है और वह "ससार के उत्तम वाजारो मे से एक है।" इन विदेशी विशेषज्ञो ने साफ कहा है कि छोटे उद्योगो का विकास वहुत-बहुत, कल्पनातीत धीमा है। इस अध्ययन-मण्डल पर मुख्यत यह असर पडा है कि छोटे उद्योगो के विकास के धीमेपन का वुनियादी कारण प्रवन्ध का दोप है। इस कारण एक तो उनमे इस युग के अनुरूप उत्पादन-क्षमता नही आ पाई है और दूसरे उत्पादन के उपकरणो मे या तो यहा के लोग सुधार करना नही चाहते या कर ही नही सकते। इस सयोजन दल का सुझाव है कि विविध छोटे उद्योगो के प्रशिक्षण के लिए शिक्षणालय खोले जाने चाहिए।

विदेशी विशेषज्ञो ने छोटे उद्योगो मे सुधार के सम्बन्ध मे जो सिफारिशे की है उनका जरा वारीकी से परीक्षण करना उचित होगा। प्रतिवेदन मे कहा गया है कि जवतक छोटे उद्योगो के उपकरणो मे अद्यतन सुधार नही किया जायगा इस यात्रिक युग की प्रतिस्पर्धा मे इनमे काम करनेवाले कारी-

थे। उन्होंने कहा था, "अगर हमे गावो के हर घर मे बिजली मिल सकती है और ग्रामीण अपने घरो मे बैठकर बिजली से अपने औजार चला सके तो मुझे कोई आपत्ति नही होगी।" इन सारी बातो मे सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है मनुष्य। वह बेकार न रहे। यह सच है कि हमे देश का कुल उत्पादन बढाना है तो निश्चय ही उत्पादन के तरीको मे सुधार तो करना ही होगा। परन्तु केवल उत्पादन बढे और लोगो की आय अर्थात् रोजी और खरीदने की शक्ति न बढे तो इससे हमारी मूल समस्या हल नही होगी। इसलिए हमारा उद्देश्य है सबको काम देना अर्थात् बेकारी का निर्मूलन और अधिकतम उत्पादन। फिर यह भी हमे याद रखना चाहिए कि अपने माल को खपाने के लिए हम बाहर के बाजारो पर बहुत अधिक निर्भर नही रह सकते। यह तो तभी सम्भव होगा जब हमारे उत्पादनो के साधनो मे अधिक पूजी की अपेक्षा अधिक मजदूरो को काम दिया जा सके।

इसलिए यान्त्रिक सुधार और आधुनिकीकरण के हम विरुद्ध नही है। मुद्दे की बात यह है कि छोटे उद्योगो और गृहोद्योग मे उत्पादन के साधनो के सुधारो की धुन मे हम कही अपनी मर्यादाओ को न भूल जाय नही तो हम नई समस्याए खडी कर लेगे। इसलिए यान्त्रिक सुधार भी किस प्रकार का और किस हद तक हो, यह देश-देश मे और एक ही देश के विभिन्न प्रदेशो मे वहा की परिस्थितियो के अनुसार अलग-अलग यह देखना होगा। अमरीका और रूस मे मनुष्य कम है। भारत मे मनुष्य अधिक है। अत उत्पादन के साधनो मे वहा जो सुधार होगे उनका हेतु होगा मनुष्य की बचत करना, किन्तु हमारे यहा वे ही यान्त्रिक सुधार उपयोगी और लाभदायक होगे, जो श्रम बचाकर अधिक मनुष्यो को काम दे सके। स्वय भारत मे भी जो यन्त्र राजस्थान के लिए उपयोगी होगा वह त्रावणकोर-कोचीन मे काम नही देगा, क्योकि राजस्थान मे आबादी विरल है और त्रावणकोर-कोचीन मे घनी। इसलिए आधुनिक यान्त्रिक सुधारो के उपयोग मे सदा बडी सावधानी, अध्ययन और सशोधन की जरूरत है। उसमे वैज्ञानिक प्रगति और बेकारी का सतुलन का ध्यान रखना पडता है।

अत सरकार को अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड की प्रवृत्तियो और प्रयोग तथा नये छोटे उद्योगो के बोर्ड की प्रवृत्तियो मे साम-

जस्य और सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए, अन्यथा या तो प्रत्येक जगह वही काम होगा या सघर्ष पैदा होगा। यह काम हमे अपने दिल और दिमाग को खुला रखकर करना होगा। किसी भी बात को कट्टरता के साथ पकडकर बैठने से काम नही चलेगा। हमारी दृष्टि वैज्ञानिक और युक्तिसगत हो। साथ ही वास्तविकता को भी न भूले। न तो पुरानी बात का आग्रह रक्खे, न नवीनता की जिद करे। यह आत्मघातक होगा।

२६

मिले, हाथकरघे और खादी

कपडा उद्योग जाच-समिति (टेक्सटाइल इन्क्वायरी कमेटी) के प्रतिवेदन का सार यह है कि अब मिलो मे बुनाई के क्षेत्र का अधिक विस्तार नही किया जाना चाहिए। अनुमान है कि सन् १९६० के करीब फी आदमी १८ गज की वार्षिक माग के हिसाब से देश मे कुल ७२० करोड गज कपडे की जरूरत होगी। इसके अतिरिक्त १०० करोड गज कपडा निर्यात के लिए और हमारी अपनी जरूरतो के लिए यदि १६० करोड गज कपडा हम और गिन लेते है तो समिति का सुझाव है कि बेकारो को काम देने के लिए तथा "पूजी की बचत के लिए भी इसके अतिरिक्त कपडे की पूर्ति हमे कपड़े के विकेन्द्रित उद्योग के द्वारा कर लेनी चाहिए।" हाथकरघो को अधिक कार्यक्षम बनाने के लिए समिति की राय है कि उन्हे 'शक्ति' द्वारा चलाने की व्यवस्था कर लेनी चाहिए। अन्तिम कल्पना यह है कि पन्द्रह-बीस वर्ष के बाद लगभग सारे हाथ-करघे सुधरे हुए करघो मे अर्थात् शक्ति-चालित विकेन्द्रित करघा-उद्योग मे बदल जायगे। बहुत अच्छे और सुन्दर कलामय नमूनो के कपडे बनाने के लिए कोई ५०,००० करघे हाथ से ही चलते रहेगे।" इस सम्बन्ध मे इस समिति का अनुमान है कि शक्ति के उपयोग के कारण लगभग २०,००० कारीगर हर वर्ष बेकार होगे। ऊपर जो १६० करोड गज के अतिरिक्त कपडे का जिक्र आया है, उसके लिए अधिक सूत की भी जरूरत होगी। यह सूत पैदा करने के लिए १७ ५ लाख अतिरिक्त तकुए (मिल के) लगाने होगे, जिनकी पूर्ति २०,००० तकुएवाली ८८ सूत-मिले खडी करके या ५०,००० तकुएवाली ३८ सूत-मिले खडी करके की

जा सकेगी। यह भी सुझाया गया है कि गुन्टकल मे स्थापित सहकारी पद्धतिवाली कुछ मिले बनाने से भी इस जरूरत की पूर्ति की जा सकती है। समिति की निश्चित राय है कि रगीन साडिया बनाने का काम पूरी तरह से हाथकरघा उद्योग के लिए ही सुरक्षित रहे। केवल बनावट की सुविधा के ख्याल से ही नही, वल्कि "कमजोर विभाग को जीवित रखने के ख्याल से भी यह अत्यन्त जरूरी है।" हाथकरघो पर बने कपडे की कीमतो को मिलो मे बने कपडे की कीमतो के बराबर लाने के लिए एक सुझाव यह था कि मिलो पर अतिरिक्त या उत्पादन कर लगा दिया जाय, परन्तु समिति ने इसे 'व्यावहारिक' नही बताया। फिर भी समिति इस नतीजे पर पहुची है कि "हाथकरघे और शक्ति-चालित घरेलू करघो को इस समय जो सरक्षण दिया गया है, वह अभी अवश्य जारी रहे।" यह भी कहा गया है कि "हाथकरघो द्वारा मलमल, वायलो आदि की बुनाई पर रोक नही लगाई जाय।"

कपडे के मिल-उद्योग के बारे मे समिति की राय यह है कि "हर साल ५००० सादे करघे हटाकर उनके स्थान पर नये अपने-आप चलनेवाले (आटोमेटिक) करघे लगाने की इजाजत दी जाय। इस गति से बीस वर्ष मे वर्तमान करघो की सख्या मे से आधे करघे नये हो जायगे।" समिति ने हिसाब लगाया है कि इस सुधार के फलस्वरूप प्रतिवर्ष ४००० बुनकर बेकार होगे—यदि मान ले कि एक कारीगर साधारणत १६ नये करघो को सभाल सकता है। समिति की सिफारिश यह भी है कि "मिलो मे कपडे का उत्पादन ५०० करोड गज के करीब सीमित कर दिया जाय और यह कि योजना-काल की अवधि मे मिलो मे सादे अथवा सुधरे हुए नये करघे कतई नही बढाये जाय।" समिति ने आगे कहा है कि सूत की मिलो का सम्बन्ध सीधे हाथकरघो से कर दिया जाय।

समिति का प्रतिवेदन पढकर सन्तोष भी होता है और निराशा भी। सन्तोष इस वात पर कि समिति मिलो मे करघे बढाने की सलाह नही देती। यह भी सन्तोष की वात है कि हाथकरघो के लिए जो क्षेत्र सुरक्षित कर दिया गया है, उसे भी वह मजूर कर लेता है और फी आदमी १८ गज के हिसाब से जितने भी अधिक कपडे की जरूरत हो, वह सब विकेन्द्रित

पद्धति से ही बने। मिले और हाथकरघो के सुधार के कार्यक्रम को समिति ने पन्द्रह से बीस वर्ष की अवधि मे फैला दिया है। हेतु यह है कि "लोगो को रोजी मिलती रहे और सामाजिक तथा आर्थिक उथल-पुथल एकाएक न हो।" परन्तु निराशा इस बात पर हो रही है कि उसने समस्या को सही तौर पर समझकर साहस के साथ उसे सुलझाने की हिम्मत नही दिखाई। पचवर्षीय योजनाओ की प्रगति के बारे मे जो ताजे-से-ताजे समाचार आये है, उनसे ज्ञात होता है कि देश मे बेकारी अधिकाधिक गम्भीर रूप धारण करती जा रही है। अत आज सबसे जरूरी प्रश्न यही है कि इन लोगो को काम क्या दे ? सूती कपडे का उद्योग हमारे बडे सुसगठित उद्योगो मे से एक है। वह एक ऐसी चीज पैदा करता है, जिसकी माग सर्वत्र है। अत' हमे आशा तो यह थी कि यह कमेटी ऐसी कोई योजना सुझावेगी, जिसके द्वारा खादी और हाथकरघो का व्यापक विस्तार करके देश के अधिकाधिक बेकारो को रोजी दी जा सकेगी। इसके विपरीत यह तो उलटे २४००० और अधिक कारीगरो को बेकार करने की योजना सामने रख रही है और सो भी छ वर्षो मे ५० करोड रुपये हमारी जेब से निकालकर। समिति का अनुमान है कि देश मे कुल १२ लाख हाथकरघे काम कर रहे है। हमे यह सख्या सही नही लगती। समिति की राय है कि अब हाथकरघो की सख्या को बढाना उचित नही होगा। इसलिए कपड़े की बढी हुई माग को पूरी करने के लिए इन्हे शक्तिचालित करघो मे बदल देना चाहिए। हमने आशा की थी कि प्रतिवेदन मे शहरो और गावो मे फैली हुई बेकारी पर खास तौर पर विचार किया जायगा और उसे दूर करने के उपाय के रूप मे हाथ-कताई और खादी के पहलू पर विशेष जोर दिया जायगा। परन्तु यह कुछ नही हुआ। साइक्लोस्टाइल पर छपे चालीस पृष्ठ की छोटी-सी रिपोर्ट तैयार करने मे समिति ने बाईस महीने लगा दिये और अब वह सिफारिश करती है कि "कुछ दरिद्र लोगो को रोजी मिलती रहे, इस हेतु से कुछ समय तक हाथकताई जारी रखनी ही पडेगी।" इसलिए खादी के प्रश्न पर विचार करने के लिए अलग समिति की नियुक्ति करना उचित होगा। यह तो जले पर नमक छिडकनेवाली बात है।

याद रहे कि हमारे सामने आज मुख्य समस्या है मानवता की। देश

के अन्दर काम करने लायक जितने भी मनुष्य है, उन्हे उपयोगी काम मिलना ही चाहिए। यह उनका हक है। हमारे सविधान ने भी इस मौलिक अधिकार को माना है। पूर्व और पश्चिम के तमाम प्रगतिशील देशो ने माना है कि अपने नागरिको को रोजी कमाने का साधन उपलब्ध कर देना उनका कर्तव्य है और यदि वे यह नही कर सकते तो जो बेकार है, उन्हे बेकारी का पर्याप्त मासिक भत्ता दे। परन्तु ऐसे निर्वाह-व्यय देने की अपेक्षा कही अच्छा मार्ग है उन्हे उपयुक्त काम देना। जो मनुष्य बगैर परिश्रम के खाता है, उसकी नैतिक हानि तो होती ही है, परन्तु शारीरिक और मानसिक हानि भी होती है। आधुनिक आर्थिक सयोजन का बुनियादी उद्देश्य है बेकारी मिटाना। इसलिए हमारे सयोजको को चाहिए कि वे ऐसी आर्थिक और औद्योगिक योजनाए बना ले कि जिससे बडे, छोटे ग्रामोद्योगो और गृहोद्योगो मे उत्तरोत्तर अधिकाधिक आदमियो को काम दिया जा सके। यन्त्रो मे सुधार करने के विरुद्ध हम नही है। परन्तु सारे सुधारो की बुनियाद मे इतनी तो बुद्धि हो कि वे उस देश की परिस्थितियो के अनुकूल हो। इस दृष्टि से देखे तो कहना होगा कि कपडा-उद्योग जाच-समिति इस विशाल देश मे फैली व्यापक बेकारी को दूर करने के हेतु से सारी समस्या को नही देख सकी है।

२७

यान्त्रिक सुधारो का अर्थशास्त्र

पहले महायुद्ध के बाद जर्मनी को अपने सब उद्योग, जो नष्ट हो गये थे, फिर से खडे करने पडे। इस बार उसने बडी सावधानी से काम लिया और समय तथा माल की खराबी वगैरा के जो-जो दोष पहले थे, सबको हटा लिया। इस प्रक्रिया का नाम है रैशनलाइजेशन। युद्ध के बाद के काल मे यह सुधार एक नया शास्त्र ही बन गया। वर्तमान अर्थशास्त्र की भाषा मे रैशनलाइजेशन का अर्थ होता है नये-से-नये आविष्कारो का उपयोग, व्यवस्था मे वैज्ञानिक सुधार और प्रक्रियाओ का समन्वय। इस शब्द का सकुचित अर्थ करके इसे आम तौर पर बुरा करार देना अनुचित होगा। औद्योगिक प्रश्नो को हर आदमी बुद्धि की कसौटी पर कसने का यत्न, रैशन-

लाइजेशन करता है। इसलिए इसको एकदम बुरा कहना भूल होगी, परन्तु हमे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इस क्रिया—रैशनलाइजेशन—का हम अन्धा और गलत उपयोग तो नही कर रहे है ? इसका अर्थ केवल इतना है कि हम अपने आर्थिक और औद्योगिक प्रश्नो को, जिनका रूप हर देश और प्रदेश मे बदलता रहता है, वैज्ञानिक की दृष्टि से हल करने का यत्न करे। रैशनलाइजेशन का अर्थ अमरीका जैसे एक देश मे, जहा विपुल धन है और मजदूरो की कमी है, एक हो सकता है और दूसरे भारत जैसे देश मे, जहा पूजी कम और मजदूर खूब है, बिल्कुल दूसरा हो सकता है। इसलिए अमरीका के ढग का रैशनलाइजेशन भारत मे करने की बात करना बिल्कुल बुद्धिहीनता की वात होगी।

भारत मे आर्थिक सयोजन करनेवालो के सामने सबसे बडी और बुनियादी समस्या है। शहरो और गावो की बेकारी—पूरी और आशिक भी। सच तो यह है कि यह श्रम-शक्ति ही हमारे राष्ट्र की पूजी है, जिसका उपयोग हमे राष्ट्रीय सम्पत्ति बढाने मे अधिक-से-अधिक कर लेना चाहिए। इसलिए गाधीजी प्रत्यक्ष यन्त्रो के नही, यन्त्रो के अविचारयुक्त उपयोग के विरुद्ध थे। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सगठन के डाइरेक्टर श्री डेविड मोर्स ने सन् १९५३ के अपने प्रतिवेदन (रिपोर्ट) मे लिखा है, "सयुक्त राज्य अमरीका और कैनेडा जैसे देशो मे जिस प्रकार के कीमती और मजदूरो की बचत करनेवाले यन्त्रो का उपयोग किया जाता है, उनका उपयोग करने का प्रयत्न ऐसे देशो मे करना अनुचित होगा, जहा मजदूर बहुत है, किन्तु पूजी की कमी है।" इसलिए भारत जैसे देश मे औद्योगिक पुन सगठन के लिए उपयुक्त नीति तो सबको पूरा काम देकर अधिक-से-अधिक उत्पादन लेने की ही होगी। अधिक लोगो को काम देकर फी मजदूर उत्पादन बढाने का ध्यान न रखना हानिकारक है। कम विकसित देशो के लिए यह भूल आत्मनाश का कारण होगी। इसी प्रकार अपने देश के बेकारो और आशिक बेकारो को काम देने का ध्यान न रखकर केवल औद्योगिक उत्पादन बढाने का ही ख्याल करना भी राष्ट्र के प्रति सबसे बड़ा अपराध होगा। इसलिए हमारी आर्थिक बीमारी का सही उपाय तो यही होगा कि हम अपने सब आदमियो को पूरी रोजी दे और उनसे पूरा-पूरा उत्पादन भी ले।

यह ख्याल करना गलत है कि फी आदमी अधिक उत्पादन केवल बडे-बडे कारखानो मे ही सम्भव है। वास्तव मे आज विज्ञान और यन्त्रो मे इतनी प्रगति हो गई है कि आज तो केन्द्रीकरण अत्यन्त अवैज्ञानिक माना जाता है। औद्योगिक क्रान्ति के युग मे बडे-बडे कारखाने इसलिए बनाने पडे कि तब शक्ति के लिए कोयले पर निर्भर रहना पडता था। अब तो बिजली की शक्ति हमे मिल गई है। अत विकेन्द्रीकरण न केवल सम्भव अपितु उचित और आवश्यक भी हो गया है। और यदि आनेवाले दस-बीस वर्षो मे उद्योगो और नागरिको की सेवा के कामो के लिए ऐटम की शक्ति मिलने लग गई तब तो उद्योगो का विकेन्द्रीकरण अनिवार्य हो जायगा। आणविक शक्ति के युग मे बडे-बडे यन्त्रो से काम लेना विज्ञान का अपमान और मूर्खता होगी। हम तो एक कदम और भी आगे जायगे। विज्ञान के इस युग मे भी केवल उत्पादन बढाने के लिए मजदूरो की किफायत करनेवाले यन्त्रो का अत्यधिक उपयोग करना भी अत्यधिक मूर्खतापूर्ण, बल्कि मनुष्य-हीनता की बात है। कितनी चकित कर देनेवाली बात है कि औद्योगिक उत्पादन मे इतनी अधिक सफलता प्राप्त कर लेने पर भी आज अमरीका मे सैंतीस लाख आदमियो को काम के अभाव मे घरबैठे बेकारी का भत्ता देना पड रहा है। भिक्षा पर निर्भर इन गरीबो की हालत बडी दयनीय है। इसमे उनके शरीर और मन की हानि तो है ही, परन्तु चरित्र और आत्मा की भी इसमे हानि है। इसलिए भारत मे कुछ लोगो को भिक्षा या भत्ता देने की अपेक्षा अर्थ-व्यवस्था और उद्योगो को विकेन्द्रित करके उन्हे सम्मानयुक्त रोजी देना बहुत अच्छा होगा। हम यान्त्रिक प्रगति और कार्यक्षमता को बढाने के विरुद्ध नही है, यदि ये मनुष्य की प्रगति और सेवा मे सहायक होती हे। केवल यन्त्रो की सहायता से होनेवाले उत्पादन की कीमत का हिसाब करते समय उसके कारण समाज मे फैलनेवाली बेकारी से मनुष्यो को जो कष्ट और उनका पतन होता है, उसको नही भुला चाहिए। यह समाज की बहुत बडी हानि है। यान्त्रिक प्रगति से धन भले ही बढता हो, परन्तु मनुष्य की हानि और पतन भी तो होता है। उसका हिसाब लगाना नही भूलना चाहिए।

आजकल पूजी बढाने के बारे मे बडी चर्चा सुनाई देती है। अर्थशास्त्र

के विशारद कहते हैं कि पिछडे हुए समाज का आर्थिक विकास पूजी के बगैर सम्भव नही, जिसकी उद्योगो के लिए बडी जरूरत होती है। बेशक यह एक बहुत बडी हद तक सही है, परन्तु इसे अर्थशास्त्र की रूढ सिद्धान्त नही बना लिया जाना चाहिए। मै तो मानता हू कि पूजी बढाने की अपेक्षा भारत के बेकार पडे मनुष्य-बल का विकास-कार्यो मे सदुपयोग करने के लिए एक सगठन बना देना कही अधिक आवश्यक है। जाहिर है कि इस बेकार पडे मनुष्य-बल का उपयोग करने के लिए भी कुछ पूजी की जरूरत तो होगी ही। फिर भी इसमे कोई शक नही कि इस देश मे हमारी असली पूजी तो यह मनुष्य-बल ही है, जिसका नये भारत के निर्माण मे बहुत अच्छी तरह से उपयोग किया जा सकता है। इसलिए पूजी बढाने की बाते करने की अपेक्षा श्रम-शक्ति का सगठन और उपयोग करने की चिन्ता करना कही अधिक लाभदायक होगा। हमारे उद्योगपतियो और अर्थशास्त्र-विशारदो ने पूजी के प्रश्न को नाहक हौवा बना रक्खा है। स्पष्ट चिन्तन और विचार-प्रचार द्वारा इस हौवे को जितनी जल्दी भगा दिया जाय उतना ही भला है।

कहा जाता है कि हमारी अर्थ-रचना मिश्रित है और इसमे निजी क्षेत्र को अपने विकास के लिए खूब मौका दिया जाना चाहिए। यह भी कहा जाता है कि ऐसी मिश्रित अर्थ-रचना मे रैशनलाइजेशन अनिवार्य है। सच पूछिये तो यह मिश्रित अर्थ-रचनावाला प्रयोग ही हमे तो नही जचता। इसमे अनिश्चय और स्पष्ट चिन्तन का अभाव प्रकट होता है। हम जिस मार्ग पर चलना चाहते है, उसके लिए सही शब्द तो होगा सन्तुलित अर्थ-व्यवस्था या मध्यम मार्ग। हम दोनो छोरो को अर्थात् पूजीवाद और अधिनायकवाद (टोटैलिटेरियनिज्म) को छोडकर मध्यम मार्ग ग्रहण करना चाहते है, अर्थात् उपभोग्य वस्तुओ के लिए विकेन्द्रित उद्योग और बुनियादी अथवा मातृ-उद्योगो का राष्ट्रीयकरण। हमे रत्ती-भर भी शका नही है कि वर्तमान स्थिति मे भारत के लिए यह सन्तुलित उद्योग-पद्धति ही सबसे अच्छी व्यवस्था रहेगी। परन्तु जिद्दी आलोचक जरूर कहेगा, "गृहोद्योगो को बढावा देकर आप तो दरिद्रता का बटवारा करना चाहते है।" और उद्योगपतियो ने तो गृहोद्योगो की निन्दा करने के लिए इस शब्द-प्रयोग को अपना नारा ही बना

लिया है। परन्तु इस अनुचित और अन्यायपूर्ण आरोप का हम बहुत ज़ोर के साथ प्रतिवाद करेगे। यन्त्र-शास्त्र मे की गई प्रगति का लाभ यदि गृहोद्योगो और ग्रामोद्योगो को दिया जाय तो निश्चित ही उनकी कार्य-क्षमता और उत्पादन-क्षमता काफी अधिक बढाई जा सकती है। हेनरी फोर्ड के समान ससार-प्रसिद्ध उद्योगपति ने भी स्वीकार किया है कि "बडे कारखाने आम तौर पर लाभदायक नही होते।" इसलिए "केवल वस्तुओ की कीमते घटाने के लिए ही नही, बल्कि उत्पादन मे लगनेवाला धन गावो मे उत्पादको को बाटने के लिए भी बडे-बडे उद्योगो को तोडकर गावो मे ले जाना चाहिए।" जो हो, आज हमारे देश मे कॉकटेल पार्टियो, स्वागत-समारोहो और महलो के समान आलीशान इमारतो के रूप मे धन का जो मूर्खतापूर्ण प्रदर्शन किया जा रहा है, उसे एकदम बन्द करने के लिए हम तो बहुत आग्रहपूर्वक कहेगे कि गरीबी का भी जरूर बटवारा हो। जबकि हम गाधीजी के सपने का नया भारत बनाने जा रहे है, गरीबो और अमीरो के बीच इस चौड़ी खाई को हम कदापि बरदाश्त नही कर सकते।

२८

हमारी श्रम-नीति

केन्द्रीय श्रम-मन्त्री श्री गुलजारीलालजी नन्दा ने कुछ दिन पहले ससद मे कहा था कि सरकार कोई समिति बनाना चाहती है, जो इस बात का पता लगाती रहेगी कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे काम करनेवाले मजदूरो के सम्बन्ध मे जो कानून बनते जाते है, उनका पालन कैसे हो रहा है। उन्होने यह भी बताया कि झगडे मिटाने और समझौता कराने के काम को अधिक गति देने के लिए उनका मत्रालय इस शाखा के अमले को बढा रहा है और श्रमिको की मजदूरी, सामाजिक सुरक्षा और आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए उनका मन्त्रालय बहुत-कुछ करना चाहता है। परन्तु आर्थिक कठिनाइया उनके कदमो को रोकती रहती है। यों सन् १९४७ के बाद मजदूरो के वेतन मे पच्चीस प्रतिशत की वृद्धि हो गई है, परन्तु यदि १९३९ मे दिये गए वेतन मे तुलना करे तो उसकी वृद्धि केवल तीन प्रतिशत ही हुई है।

नन्दाजी ने बताया कि वर्तमान साधनो के बल पर भी उत्पादन

तो बढाया जा सकता है और यदि ऐसा हो सका तो आज देश को जिन कठिनाइयो का सामना करना पडता है, वे नही रहेगी। उन्होने यह भी कहा कि जब मजदूर उत्पादन बढा देगे और साथ ही अनुशासन की रक्षा भी करेगे तब वे समाज से वाजिब पारिश्रमिक की माग भी कर सकेगे। मजदूरो की आकाक्षाओ को पूरी करने मे लोकमत का भी प्रभाव तो पडेगा ही। इसलिए मजदूरो के सगठनो को लोकमत को अपने विपक्ष मे नही जाने देना चाहिए। उन्हे जनता की नजर मे यह ला देना चाहिए कि वे उसके लिए क्या कर रहे है।

सारी बात का सार यह है कि अपने अधिकारो के साथ-साथ मजदूरो को अपने कर्तव्यो का भी ध्यान रखना चाहिए। दुर्भाग्य की बात है कि अधिकाश मजदूर-सगठन केवल अधिकारो पर ही अधिक जोर देते है और उत्पादन बढाने की परम आवश्यकता का ख्याल नही करते। जबतक वेतनो का सम्बन्ध आवश्यक रूप से उत्पादन के साथ नही जोड दिया जाता तब-तक सर्वसाधारण जनता की सहानुभूति और सहयोग मजदूरो के साथ नही हो सकती। और वही तो उपभोक्ता है। हमारा सुझाव है कि मजदूरो के नेताओ और शासन को मिलकर उद्योगो मे वेतन का आधार समय के बदले काम को अधिक बना देना चाहिए। बहुत-से देशो मे यह पद्धति प्रचलित है भी। इससे कुशल और समझदार मजदूर अधिक काम कर सकेगे और देश की समृद्धि को बढा सकेगे। भारत-जैसे कम विकसित देश मे यह और भी जरूरी है कि उद्योगो मे तथा खेती मे भी वेतन काम के ऊपर आधारित कर दिया जाय। हम आशा करते है कि श्रम-मन्त्रालय मजदूरो से सम्बन्ध रखनेवाले कानूनो पर इस दृष्टि से फिर विचार करके उनमे ऐसे उचित सशोधन कर देगा। मजदूरो की आर्थिक स्थिति हम सभी सुधारना चाहते है। वास्तव मे हम तो मानते है कि सम्मिलित सहराज्य अर्थात् कोऑपरे-टिव कॉमनवेल्थ मे उत्पादन के सारे साधनो पर मजदूरो का ही स्वामित्व हो, परन्तु यह तभी सम्भव होगा जब मजदूर अपने अधिकारो के समान ही अपने कर्तव्यो का भी ख्याल करेगे।

२६

हमारी तात्कालिक आवश्यकताए

जमीन-सम्बन्धी सुधार, वाढ-नियन्त्रण और उद्योगो मे सुधार के यत्न वडे जटिल और मुश्किल है। इन्हे वडी सावधानी, दूरदर्शिता और योजना-पूर्वक सुलझाने की जरूरत है। परन्तु अपने-आप मे मुश्किल होने पर भी वे आसान वन जाते है, यदि हमारे सामने अपने उद्देश्य साफ हो। ऐसे कठिन प्रश्न जब कभी हमारे सामने उपस्थित हो तो उनको हल करने का एक वडा सुन्दर गुरुमन्त्र हमे महात्मा गाधी ने बता दिया है। उन्होने कहा है, "जव कभी तुम्हे आगे का मार्ग सूझ न पडे, या तुमपर स्वार्थ अथवा मोह सवारी गाठ ले तव इस कसौटी से काम लो। उस गरीव-से-गरीव और कमजोर-से-कमजोर आदमी की सूरत को याद करो, जिसे तुमने कभी देखा हो और फिर अपने-आपसे पूछो कि तुम जो कदम उठाना चाहते हो, उससे इस गरीब को किसी प्रकार भी लाभ हो सकता है। उसे इसका कोई उपयोग होगा ? दूसरे शब्दो मे जो पेट मे अन्न के अभाव मे और आत्मा मे ज्ञान के अभाव मे भूखो मर रहे है, उनके लिए तुम्हारा यह कदम स्वराज्य को नजदीक लानेवाला है ? यदि इस तरह पूछोगे तो तुम्हारा सारा सन्देह और मोह भाग जायँगा।" राष्ट्र की महत्वपूर्ण समस्याओ पर विचार करते समय राष्ट्रपिता का यह गुरुमन्त्र सदा हमारे ध्यान मे रहना चाहिए, क्योकि लोकतान्त्रिक राज्य का मुख्य उद्देश्य तो आखिर यही है न कि जो हमारे पैरो तले कुचले जा रहे है, उन्हे ऊपर उठाया जाय और अभी तक जिनके हाथो मे सत्ता और सम्पत्ति केन्द्रित रही है, उन्हे शान्तिपूर्वक कुछ नीचे लाया जाय। जवतक सम्पत्ति का अथवा गरीवी का भी पुन-वितरण हम वर्तमान समाज मे नही करते तवतक नवीन और समृद्धिशाली भारत का निर्माण हम नही कर सकेगे। सामाजिक और आर्थिक समानता के वगैर केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता का बहुत अधिक मूल्य नही होगा।

उदाहरणार्थ जमीन-सम्वन्धी सुधारो मे हमारा मुख्य काम उन लोगो की रक्षा का होगा, जो जमीन को खुद जोतते है। लगभग तमाम राज्यो मे जमीन पर मे हमने मध्यजनो को हटा ही दिया है, परन्तु जोतनेवाले अभी

पूरी तरह सुरक्षित नही हो पाये है। अब तो जिन्होने एक अमुक समय तक जमीन का लगान नही दिया है, उनको छोडकर शेष सब जोतनेवालो को कानून द्वारा या जहा जरूरत हो, शासकीय आज्ञा द्वारा बेदखली मे बचाया जाना चाहिए। सबमे अधिक जरूरी बात यह है कि जो करोडो लोग पचासो वर्षो से जमीन पर मजदूरी करके किसी तरह अपना पेट भरते आये है, उन्हे रोजी का कोई निश्चित साधन देकर हम निश्चिन्त कर दे। जहातक यन्त्रो के सुधार का प्रश्न है, उसमे भी बुनियादी सवाल तो हमारे सामने यही है कि पहले हम अपने उन करोडो देश-भाइयो को पेट भरने का अच्छा-सा साधन दे दे, जो काम करने की इच्छा और शक्ति होने पर भी बेकार बैठे है। लोकतन्त्र के विधान मे हमने आश्वासन दिया है कि जिनका भी शरीर काम करने लायक है उन सब भारत-वासियो को काम दिया जायगा। अत इस बुनियादी राष्ट्रीय नीति के विरुद्ध जो भी कदम जाता हो उसपर अमल करने से पहले हमे सौ बार विचार कर लेना चाहिए। कारखानो मे सुधरे हुए यन्त्र लगाने पर बेकार होनेवाले आदमियो को हम काम देने की कोशिश करेगे, केवल इतने से काम नही चलेगा। हमारी उद्योग-नीति के मुख्य सिद्धान्त ये तीन सूत्र है सबको पेट-भर खाना मिले, उत्पादन अधिक-से-अधिक हो और सामाजिक तथा आर्थिक न्याय हो। जबतक जीवन के तमाम क्षेत्रो मे बेकारी के प्रश्न को हल करने का हम निश्चय नही करेगे तबतक इस देश मे सच्चे लोकतन्त्र की नीव मजबूत होना बहुत कठिन है। जमीन के समान उद्योगो और कारखानो मे भी छोटे-से-छोटे मजदूर

देने जैसे स्थायी महत्व का लम्बा समय लेनेवाले उपाय तो वाद मे होते रहेगे।

इसी प्रकार और भी कई ऐसे उदाहरण गिनाये जा सकते है, जहा हम उन लोगो की मदद करने का यत्न नही करते जिन्हे इसकी सवसे पहले जरूरत होती है। हम देखते है कि शहरो की सडको को चौडा किया जा रहा है, उनपर डामर भी फैला दिया जाता है, जवकि हजारो गावो मे कच्ची सडके भी नही है। हम शहरो और कस्वो मे पानी के नल लगाने की चिन्ता करते है जवकि हमारे गावो मे लाखो-करोडो को पीने का पानी लाने के लिए भी मीलो चलकर जाना पडता है। वडी-वडी नदियो पर वाध वनाकर हम किसानो के लिए सिचाई की सुविधा कर रहे है, परन्तु उन देहाती मज-दूरो के लिए हम क्या कर रहे है, जिनके पास जमीन नाम मात्र को भी नही है।

कारखानो को विजली देने के लिए राज्य सरकारे इजिन से चलनेवाले या जलशक्ति से चलनेवाले वडे-वडे बिजलीघर वना रही है, परन्तु गावो के कारीगरो को रोटी देने की भी हमे चिन्ता है? प्रकाश के लिए भी हम कभी गावो को पहले विजली देने का ख्याल करते है? सामुदायिक विकास योजनाओ मे और राष्ट्रीय विकास खण्डो मे भी हमारी अधिकाश योजनाओ मे उन्ही लोगो की सहायता करने की नीति है, जिनके पास जमीने या जायदादे है। हेतु यह होता है कि सरकार की रकम डूव न जाय, परन्तु जिनके पास जमीन या रोजी का अन्य कोई साधन नही है उनका क्या होगा? उनके लिए भी कोई ग्रामोद्योग या गृहोद्योग सह-कारिता के आधार पर खोलने का हम यत्न करते है? योजनाए तो पडी है, परन्तु उनपर अमल करने की जल्दी हमे नही है। गावो मे सवसे अधिक तकलीफ निश्चय ही हरिजनो को है। अधिकाश राज्यो मे उन्हे अपनी जमीनो पर से हटा दिया गया है, परन्तु उन्हे अभी तक नई जमीने नही दी गई है, यद्यपि इसकी योजनाए है। गावो के कुओ से अभी तक उन्हे सम्मान-पूर्वक पानी नही लेने दिया जाता। हरिजन विद्यार्थियो को कुछ छात्र-वृत्तिया और युवको को सरकारी दफ्तरो मे या अन्य सस्थाओ मे कुछ जगहे दे देने से क्या होता है? देश के कोने-कोने मे उनकी सामाजिक और

आर्थिक प्रतिष्ठा बढाने का पूरा यत्न हमे करना है। शहरो मे नित्य नई-नई और आलीशान इमारते तेजी से बन रही है, परन्तु दिल्ली जैसे शहरो मे भी गरीबो के झोपडे वैसे ही पडे है और गाधी की इस भूमि मे हम कल्याण राज्य या सर्वोदयी राज्य लाने की बाते करते है, बडे-बड़े कारखानो के अन्दर नये-से-नये यन्त्र लाने की हम चिन्ता करते है, परन्तु क्या अपने झोपडो मे बैठकर मर-मर काम करने-वाले कारीगरो की समस्याओ को समझने और सुलझाने की हमे चिन्ता है ?

जो लोग कुछ करना चाहते है, जनता की सेवा की जिन्हे चिन्ता है और उसकी रहन-सहन के स्तर को जो उठाना चाहते है, उनके बारे मे ये कुछ बाते गिनाई गई है। हमारा मतलब यह हरगिज नही है कि कल्याण राज्य की योजनाओ के बारे मे हमारे अन्दर चिन्ता की कमी है, परन्तु हमे अपने अन्दर एक वृत्ति निर्माण करनी है, जिससे जरूरी कामो को पहले हाथ मे लेने की बात हमे सूझे और बडी-बडी इमारते खडी करने की बाते करने मे पहले खड्डो और खाइयो को भरकर पहले जमीन को समतल बना ले। यदि हम मकान बनवाना चाहते है तो वहा की जमीन हमे पहले तैयार करनी होगी। वहा की गन्दगी को हटाना होगा और खड्डो को तो भरना ही होगा। इसी प्रकार हमे नवीन भारत का निर्माण मजबूत नीव पर करना है तो पहले असमानताओ और विषमताओ को हटाना होगा और समाज मे जो सबसे बुरी हालत मे है उनकी तरफ पहले ध्यान देना होगा। जो आदमी कतार के अन्त मे खडा है, उसका ख्याल पहले करना होगा। गाधी-जी की कल्पना का स्वराज्य लाने का मार्ग यही है।

३०

सबसे बड़ा शत्रु—बेकारी

उपयोग करे। भारत मे जीवन के तत्व-ज्ञान का सार यही माना गया है कि जो वगैर परिश्रम की रोटी खाता है वह चोर है। इसलिए यदि आधुनिक आर्थिक सयोजन मानता है कि काम करने लायक शरीरवाले हर मनुष्य को काम देना उसका पहला कर्तव्य है तो कहना होगा कि जवतक हम भारत मे हर सक्षम मनुष्य को पूरा काम देने का प्रवन्ध नही कर देते तवतक हमारी सारी योजनाए वृथा और वेकार है। सच तो यह है कि जवतक प्रत्येक नागरिक को पूरा काम देने का प्रवन्ध नही हो जाता, लोक-तत्री शासन स्थायी हो ही नही सकता। लोगो को पूरा काम दिये वगैर अधिक उत्पादन की योजनाए वनाना राष्ट्र की इमारत वालू पर खडी करने की वाते करने के समान है।

पिछली मनुष्य-गणना के अनुसार भारत की जन-सख्या ३५ ६८ करोड थी। इसमे २५ करोड मनुष्य खेती मे लगे हुए थे। १ ७८ करोड दूसरे पेशे कर रहे थे। सब जानते है कि भारत का किसान वर्ष मे कई महीने वेकार रहता है या उसे पूरा काम नही रहता। इसलिए अपनी थोडी आय मे पूर्ति करने के लिए उसे किसी सहायक धन्धे की वडी जरूरत रहती है। फिर इस समय वहुत अधिक लोग दूसरे किसी काम के अभाव मे खेती मे मजदूरी करने लग गये है। इन सवको दूसरा काम देने की जरूरत है ताकि खेती वैज्ञानिक ढग से की जा सके और उसे लाभदायक भी वनाया जा सके। खेती के अलावा जो लोग दूसरा काम करते है, उनमे से ३ ७६ करोड लोग उद्योगो मे काम करते है। इनमे से वडे उद्योगो मे काम करनेवालो की सख्या केवल २५ लाख है। शेष सव खानगी तौर पर काम कर रहे है या दस्तकारियो मे लगे हुए है। गावो मे रहनेवाले गरीब कारीगरो की स्त्रियो को भी पूरा काम नही मिलता। अत वे अपना पेट नही भर पाते। १९५१ की जनगणना से ज्ञात होता है कि अन्य व्यापार-व्यावसाय मे २ २२ करोड परिवहन मे ५६ लाख, और खानगी—घरेलू नौकरियो मे ४ ३० करोड लोग लगे हुए है। व्यापार-व्यवसाय मे लगे हुए लोगो मे से अधिकाश छोटे-छोटे दूकानदार, आढतिये तथा दलाल है। यदि किसान अपनी सहकारी समितिया वना ले तो वडी आसानी से इनकी भी रोजी छिन जायगी। अन्य नौकारियो मे जो लोग लगे है उनके पास भी पूरे समय का काम नही

है और वे ऐसी हैं कि उनका कोई नाम भी नहीं बताया जा सकता। हमारी जनसंख्या के इस पेशेवार विभाजन से प्रकट है कि पूरी और आंशिक बेकारी की समस्या हमारे देश में कितनी गंभीर है।

शिक्षित युवकों को काम देने का प्रश्न भी देश में बड़ा भयानक रूप धारण करता जा रहा है। एक तरफ तो केन्द्र तथा राज्यों की सरकारें शहरों तथा गांवों में भी शिक्षा की सुविधाएं बढ़ाती जा रही हैं, परन्तु वर्तमान पद्धति के स्कूल और कॉलेज देश में शिक्षित बेकारों की संख्या लगातार बढ़ाते जा रहे हैं। ये शिक्षित बेकार हमारे लोकतन्त्र के लिए बड़ा भारी खतरा हैं। वे देश में जबरदस्त सामाजिक और आर्थिक अशान्ति पैदा कर सकते हैं और इनका परिणाम राजनैतिक अशान्ति और अस्थिरता तो होगा ही। इस प्रकार शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में फैली हुई यह बेकारी हिंसक उथल-पुथल पैदा करके हमारी नई आजादी के लिए खतरा पैदा कर सकती है। हमारा सच्चा दुश्मन साम्यवाद नहीं है। वह तो भूख और दरिद्रता की भयानक बीमारी का केवल बाहरी चिह्न है। हमारा सबसे बड़ा दुश्मन तो यह पूरी तथा आंशिक बेकारी का राक्षस है, जो हमें निगलना चाहता है।

के विस्तार को बगैर छेडे उनके वर्तमान विस्तार को वगैर जान-बूझकर जबरदस्ती से लादी गई बेकारी की समस्या को हल करने की आशा करना, इस प्रश्न से खिलवाड करने के समान है। हमारे वर्तमान ग्रामोद्योगो और छोटे उद्योगो को अधिक सक्षम बनाने के लिए हम विज्ञान की प्रगति से भी जरूर लाभ उठावे, परन्तु गृहोद्योगो और छोटे उद्योगो को पुनरुज्जीवित करने का जबतक हम दृढ निश्चय नही कर लेगे, सारा शोरगुल और चिड-चिडाहट निकम्मी ही है।

तीसरी बात, हमारी शिक्षा-पद्धति को भी जड-मूल से बदल देने की जरूरत है। हमारे नौजवानो और युवतियो को पढते-पढते कमाना भी सीखना चाहिए। अभी तो वे पढते समय केवल बाद मे कमाने के सपने देखते रहते है। ऐसा न हो। इसके लिए गाधीजी की बताई बुनियादी शिक्षा-पद्धति को सारी पढाई की बुनियाद बना दिया जाना चाहिए। हमारे बच्चो को स्कूल-कॉलेजो मे न केवल इतिहास, भूगोल, विज्ञान, नागरिक-शास्त्र जैसे किताबी विषय पढाये जाय, बल्कि इनके साथ किसी ऐसे पेशे या दस्तकारी की भी शिक्षा उन्हे दी जाय, जो आगे चलकर जीविका कमाने मे उनकी मदद कर सके और अन्त मे हमे अपने पडोसियो द्वारा बनाई हुई स्वदेशी चीजो से भी प्रेम करना सीखना चाहिए। हमे शिकायत नही करनी चाहिए कि इनकी कीमते अधिक है, बल्कि अपने देश के प्रेम की खातिर और अपने भाइयो को रोजी देने के लिए हमे ये चीजे खरीदनी चाहिए।

अपने सबसे बडे दुश्मन—बेकारी को हम तुच्छ समझकर उसकी उपेक्षा न करे। लोकतन्त्र और समाज को शान्ति के साथ नया रूप देने के काम मे वह सबसे बडा विघ्न और चुनौती है। हम कही गफलत मे न रहे। बेकारी, दरिद्रता और भूख के प्रश्न को हल करने मे जरा भी ढिलाई नही करनी चाहिए। देरी मे आत्मनाश और सकट निश्चित है। बेकारी के विरुद्ध हमे धर्म-युद्ध ही छेड देना है—करेगे या मरेगे, इस दृढ निश्चय के साथ।

: ३१ :

भूमि-सुधार

दूसरी तमाम बातो से पहले आज जमीन के पुनर्वितरण का प्रश्न तुरन्त और गम्भीरता-पूर्वक हाथ मे लेना जरूरी है। आचार्य विनोबा भावे भी अपने भूदान-यज्ञ-आन्दोलन के द्वारा भारत के नेताओ का ध्यान इस प्रश्न पर केन्द्रित कर रहे है। अपने इस महत्वपूर्ण आन्दोलन मे उन्हे सफलता भी अच्छी मिली है। देश के विभिन्न भागो मे कुल मिलाकर उन्हे लगभग पैंतालीस लाख एकड जमीन भूदान में मिल चुकी है। यद्यपि इस जमीन के वितरण का काम इतनी तेजी से नही हो रहा है, फिर भी इस बात से कोई इन्कार नही कर सकता कि अहिसा की पद्धति से आर्थिक सुधार लाने का यह प्रयोग अत्यन्त क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ है। इसने जमीन-सम्बन्धी प्रगतिशील और मौलिक सुधारो का वातावरण बहुत स्वस्थ और अनुकूल बना दिया है। अब विभिन्न राज्यो मे जमीन-सम्बन्धी आवश्यक सुधार-कानून बनाने मे हमे इस वातावरण का पूरा-पूरा लाभ उठा लेना चाहिए। हमे स्वीकार करना होगा कि जमीन-सम्बन्धी सुधारो का काम हमे जितनी तेजी से करना चाहिए था, हम नही कर पाये है।

हमे अब अच्छी तरह से जान लेना चाहिए कि अपनी आबादी को पूरा काम देने के लिए तथा खाद्य पदार्थो का उत्पादन बढाने के लिए भी यदि जमीन-सम्बन्धी सुधारो के काम को हम तुरन्त हाथ मे नही लेगे तो हम जनता मे आवश्यक उत्साह नही पैदा कर सकेगे। जमीन प्रकृति की अपनी बुनियादी देन है। मनुष्य उसमे घटा-बढी नही कर सकता। इसलिए जमीन-सम्बन्धी सुधारो को दूसरे आर्थिक सुधारो के समान नही समझना चाहिए। उन्हे स्वतन्त्र समझकर जल्दी-से-जल्दी हाथो मे ले लिया जाना चाहिए। कभी-कभी कहा जाता है कि शासन को पहले शहरी या उद्योगो के क्षेत्र मे आर्थिक सुधार करने चाहिए, तब जमीनों के सुधार को हाथ लगाना चाहिए। यद्यपि इस दलील मे कुछ बल है, फिर भी जमीन को दूसरे प्रकार की सम्पत्ति के समान नही समझा जा सकता, जो मनुष्य के द्वारा कच्चे माल से बनाई जाती है। फिर जिनके पास जमीन है, उन्हे अपनी आय

बढाने के लिए दूसरे धन्धे करने से नही रोका जा सकता। उदाहरण के लिए अधिकतम जमीन की सीमा निश्चित करके बे-जमीन गरीबो मे जमीन पुनर्वितरण कर देने के वाद सहकारी पद्धति पर छोटे उद्योगो और गृहोद्योगो को ग्रामीण क्षेत्रो मे फैलाने का काम शुरू किया जा सकता है। चीन और जापान जैसे देशो ने अपनी बढी हुई आवादी के प्रश्न को इसी प्रकार हल करने का प्रयत्न किया है।

दूसरी पचवर्षीय योजना मे किये गए भूमि सम्वन्धी सुधारो मे एक यह भी था कि मध्यजनो को एकदम हटा दिया जाय। यद्यपि अधिकाश राज्यो मे यह किया जा चुका है, फिर भी कही-कही ऐसे भाग रह गये है, जहा यह अभी होना वाकी है। इसी प्रकार मुआवजे भी जल्दी चुका दिये जाने चाहिए, खास तौर पर विधवाओ, नावालिगो और छोटे-छोटे मध्यजनो को। मध्यजनो को हटाते समय यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि सम्वन्धित लोगो को अकारण कष्ट न हो या उन्हे तग न किया जाय।

काश्तकारो को अपनी जमीनो और खातो के वारे मे असुरक्षा न मालूम हो, इस हेतु से उनके अधिकारो मे सुधार-सम्वन्धी रहे-सहे कानून भी जल्दी बन जाने चाहिए और आज उन्हे जो अनेक प्रकार से और वहानो से बेदखल किया जा रहा है, वह तुरन्त बन्द कर देना चाहिए। अनेक राज्यो मे काश्तकार तथा शिकमी काश्तकार आनेवाले सुधारो के भय के कारण बडी तकलीफो मे आ गये है। सुधार-सम्वन्धी कानूनो के बनने मे जो देर हो रही है, उसके कारण बेदखलिया वहुत बढ गई है, अत इन्हे रोकने के लिए तुरन्त हुक्म जारी हो जाने चाहिए। पहले ही वहुत अधिक नुकसान हो चुका है और गरीब काश्तकारो की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। इसमे जरा भी देरी नही होनी चाहिए।

जहातक खुदकाश्त के पुन जारी करने का सम्बन्ध है, खुदकाश्त का अर्थ बिल्कुल साफ कर दिया जाना चाहिए। जो खुदकाश्त पर जमीन रखना चाहे, उन्हे अमुक मात्रा मे जमीन पर खुद मेहनत करनी ही चाहिए, इस प्रकार की कोई शर्त उसमे हो। केवल पैसे लगाकर जमीन की देखभाल करते रहना काफी नही समझा जाय। कुछ राज्यो मे साझीदारी की प्रथा है। इसमे साझीदार को वह सव करना पडता है, जो स्वय काश्तकार को

करना पडता है। परन्तु फिर भी उन्हे काश्तकार नही माना जाता और उन्हे वे अधिकार नही है, जो काश्तकार को होते है। यह दोष भी, जितनी जल्दी सम्भव हो, दूर कर देना चाहिए।

जमीन के किराये की पद्धति भी व्यवस्थित हो जानी चाहिए। इस सम्बन्ध मे सर्व-सामान्य कानून के अलावा किराये की अधिकतम सीमा भी मुकर्रर कर दी जानी चाहिए, जो जमीन के मामूली लगान के अमुक गुने से अधिक हर्गिज न हो।

परन्तु सबसे अधिक जरूरी तो सारे राज्यो मे जमीन की अधिकतम सीमा का निश्चय करना है। पहली पचवर्षीय योजना मे सुझाया गया है कि एक आदमी के पास अमुक सीमा से अधिक जमीन न हो। दूसरी पचवर्षीय योजना मे यह अधिकतम सीमा क्या हो, इस सम्बन्ध मे कुछ खास सुझाव भी दे दिये गए है। कुछ मामलो मे छूट देने की भी सिफारिश है। उनमे काफी उदारता से काम लिया गया है। इसलिए इस भय के लिए कोई कारण नही है कि यह सीमा निश्चित कर दी गई तो उसका असर उपज पर पडेगा। अनेक देशो का अनुभव यही है कि केवल खाते बडे होने से उपज की औसत नही बढती है। बडे खातो पर यन्त्रो की मदद लेने पर भी फी एकड उपज बढ नही पाती। फी आदमी के हिसाब से यदि उपज का हिसाब जोडे तो जरूर उपज बढी हुई मालूम होती है। इसलिए यह सोचना गलत है कि दूसरी पचवर्षीय योजना के अनुसार यदि जमीन की अधिकतम सीमा का निश्चय कर दिया जायगा तो उपज कम होगी। इसके विपरीत जमीन का पुनर्वितरण कर देने के बाद, यदि जमीन पर बराबर मेहनत की जायगी, सहकारी की सुविधाए भी होगी तो उपज घटने के बजाय उलटी बढ जायगी। इसलिए तमाम राज्यो मे जितनी भी जल्दी सम्भव हो, आवश्यक कानून बन जाय।

परन्तु जमीन-सम्बन्धी सुधारो के कानूनो का बन जाना ही काफी नही है। हमारा अनुभव यह है कि कानून बन जाने पर भी उनका अमल ठीक से कराने का प्रबन्ध यदि शासन से नही होता है तो जिनके लाभ के लिए वह कानून किया जाता है, उन्हे लाभ नही मिलता, उल्टे उन्हे तग किया जाता है और उनकी परेशानिया बढ जाती है। कुछ राज्यो मे जमीनो के मुकाब

सम्बन्धी कई आवश्यक कानून दन गये है। परन्तु उनके अमल का ठीक प्रवन्ध नही हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनो पक्ष नाराज रहे—जिनकी जमीन कम हुई वे, और जिन्हे जमीन मिली नही वे भी। इससे हमे सवक लेना चाहिए। जमीन-सम्बन्धी कानूनो का ठीक से अमल करने के लिए सबसे जरूरी चीज है कागजात का सही और अद्यतन होना। अनेक राज्यो मे कागजात की हालत अत्यन्त असन्तोषजनक है। इसके परिणामस्वरूप सुधारो पर अमल करने मे कदम-कदम पर रुकावटे खडी होती है। फिर शासन-प्रबध मे भी सचाई तथा ईमानदारी का होना वडा जरूरी है। ग्रामीणो को भ्रष्टाचार, ढिलाई और वेईमानी का मुकाबला प्रतिदिन करना पडता है, जो अच्छे-से-अच्छे सुधारो को वेकार कर देते है।

हम आशा करे कि तमाम राज्यो की सरकारे राष्ट्र के प्रति अपने इस कर्तव्य को समझकर अपने प्रदेशो मे जमीन-सम्वन्धी सुधारो को सर्वाधिक प्राथमिकता देगी। जमीन के प्रश्न को अहिसा के द्वारा सुलझाने का मार्ग आचार्य विनोवा ने हमको दिखा ही दिया है। देश मे इन सुधारो का नक्शा क्या होगा, यह दूसरी पचवर्षीय योजना ने साफ तौर पर बता दिया है। इस प्रकार भूदान-यज्ञ और शासकीय कानून दोनो मिलकर हमारे देश मे जमीन के प्रश्न को जल्दी हल कर सकेगे। यदि सरकारी तथा गैर-सरकारी सभी शक्तिया आर्थिक विकास के इस प्रश्न को सुलझाने मे लग जायगी तो इस पदयात्री सत की आशाओ को पूरा करने मे हम अवश्य सफल हो सकते है।

३२

भूमि की उच्चतम सीमा

पचवर्षीय योजना मे साफ तौर पर वता दिया गया है कि जमीन-सम्वन्धी भारत की नीति का एक बुनियादी सिद्धान्त यह भी होगा कि "एक आदमी के पास अधिक-से-अधिक कितनी जमीन रहे, इसकी भी एक सीमा निश्चित कर दी जाय।"[1]

प्रत्येक राज्य अपने यहा की परिस्थिति और खेती-सम्वन्धी परम्परा

[1] इस सम्बन्ध में अब कानून बन गए है।

को ध्यान मे रखते हुए इस सीमा का निश्चय करेगा।

मुझे निश्चय है कि भारत सरकार और राज्य सरकारे जमीन के बारे मे बहुत दूरगामी सुधार जारी करने के प्रश्न को, खासकर बेजमीन किसानो को जमीने दिलाने के प्रश्न को सबसे अधिक प्राथमिकता देगी। प्रकट है कि जबतक ऐसी कोई उच्चतम सीमा निश्चित नही कर दी जायगी, बे-जमीनो को बाटने के लिए पर्याप्त जमीन हमारे पास नही होगी। केवल इतना काफी नही होगा कि अब आगे कोई अधिक जमीन न ले। जबतक हम वर्तमान बडे-बडे खातो को, जो सैकडो और कभी-कभी तो हजारो एकड के भी है, हाथ नही लगायगे तबतक भविष्य के सीमा-निर्धारण का कोई अर्थ नही होगा।

इसका मतलब यह नही कि सारे राज्यो मे और सब प्रकार की जमीनो की अधिकतम सीमा सर्वत्र वही हो। निश्चय ही जमीन की किस्म के अनुसार प्रत्येक भाग मे यह सीमा अलग-अलग होगी। फिर हमारा यह भी आग्रह नही है कि प्रारम्भ मे ही यह सीमा बहुत कम हो। जबतक हमारे राष्ट्रीय जीवन के अन्य क्षेत्रो मे बड़ी-बडी सामाजिक और आर्थिक विषमताए मौजूद है, केवल जमीनो के बारे मे ही बहुत अधिक सख्ती बरतना उचित नही होगा। प्रारम्भ मे उच्चतम सीमा का निश्चय करने मे कुछ उदारता से भी काम लिया जाय तो इसे अनुचित नही कहा जायगा। परन्तु इस प्रकार की मर्यादा को टालना अत्यन्त अनुचित होगा। हमारे देश मे आज ४५ लाख बेजमीन मजदूर है। तब इन जमीदारो को क्या हक है कि वे अपने पास सैकडो-हजारो एकड जमीने रक्खे? जमीन प्रकृति की देन है। मनुष्य न तो उसे घटा सकता है और न बढा सकता है। इसलिए आर्थिक विषमता के प्रश्न को सुलझाने का प्रारम्भ जमीन के प्रश्न से ही करना उचित होगा। दूसरे क्षेत्रो की विषमताए भी फिर नही रहेगी। सम्पत्ति और जायदाद के क्षेत्र मे उनको भी अवश्य हाथ मे लिया जायगा। (एस्टेट ड्यूटी) जायदाद-कर-सम्बन्धी कानून, जिसका अमल १५ अक्तूबर, १९५३ से शुरू हो गया है, इस दिशा मे सबसे पहला कदम है। साधन-सम्पन्नो और निराधारो के बीच की बडी दीवार को गिराकर इनमे समानता लाने के लिए अवश्य ही इसके बाद दूसरे कदम भी अवश्य ही उठाये जाने चाहिए।

जोतो की उच्चतम सीमा मुकर्रर करते समय कुछ बाते ध्यान मे रखने योग्य है। जिन जमीनो की खेती सहकारी पद्धति पर हो रही, उनको खास रिग्रायत दी जाय। सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा को टूटने से बचाने के लिए यह उचित होगा कि ऐसे परिवारो के पास जो जमीन हो, उसकी सीमा तिगुनी मानी जाय। सीमा निर्धारित करने के बाद सरकार के अधिकार मे ली जानेवाली जमीनो का मुआवजा भूमि-आयोग द्वारा पच्चीस या तीस वर्ष की अवधि मे पूरा किया जाय। इसके अलावा सीमा से अधिक जमीन पर केवल अधिकार कर लिया जाय, मुआवजे का प्रश्न न उठाया जाय। जैसा कि योजना आयोग ने सुझाया है, ये जमीने किसानो से इकरारनामा करके उन्हे जोतने के लिए दे दी जाय, और वे जमीन के मालको को वार्षिक किराया चुका दिया करे। इस प्रकार बगैर मुआवजा दिये लाखो एकड जमीन ग्रामीण मजदूरो को दी जा सकेगी।

देश मे जमीनो के सुधार-सम्बन्धी उपयुक्त कानून बनाने के लिए आचार्य विनोबा भावे के भूदान-यज्ञ-आन्दोलन ने बहुत अच्छा वातावरण तैयार कर दिया है। सच तो यह है कि अब तो न केवल उच्चतम सीमा के लिए बल्कि निम्नतम आवश्यक सीमा के लिए भी लोगो का मानस तैयार हो गया है। विनोबा की राय है कि केवल उच्चतम सीमा निर्धारित करने से बे-जमीनो मे बाटने के लिए पर्याप्त भूमि हमे नही मिल सकेगी। उनकी राय है कि अब राज्य को जोतो की निम्नतम सीमा भी मुकर्रर कर देनी चाहिए। उदाहरण के लिए जो परिवार स्वय खेती करना चाहे उसे राज्य पाच एकड जमीन दे। उच्चतम सीमावाली बात पर तब विचार किया जाय जब इस प्रकार खुदकाश्त करनेवाले सब किसानो को बाट देने पर जमीने बचे। इस सबका मतलब यही है कि अब देश जमीन-सम्बन्धी दूरगामी सुधारो के लिए तैयार है और अब ऐसे कानून के बनाने मे देरी करना सामाजिक और आर्थिक प्रगति मे बहुत बाधक होगा।

हम सबको याद रखना चाहिए कि जब समाज मे एक खास सीमा तक सामाजिक और आर्थिक स्वतत्रता नही होगी, हमारी राजनैतिक स्वतत्रता का कोई खास मूल्य नही होगा। समाज मे आज गरीबो और अमीरो के बीच जो चौडी खाई पडी हुई है, उसे और आधुनिक समाज मे जो अन्य

विषमताए है उन्हे हम नही मिटा देगे, तबतक देश मे आर्थिक स्वतत्रता नही आ सकेगी। इसके अलावा आज जिन करोडो के हाथो मे रोजी के पर्याप्त साधन नही है, उन्हे ये साधन भी देने होगे। इसके लिए जमीन और राष्ट्रीय सम्पत्ति के वितरण-सम्बन्धी बडे-बडे सुधार करना अत्यन्त आवश्यक है।

३३
हमारी खेती की समस्या

भारत किसानो का देश रहा है और आज भी है। इस देश की सत्तर प्रतिशत आबादी की जीविका का आधार खेती है और उनके परिश्रम और कुशलता पर देश की समृद्धि निर्भर करती है। आर्थिक सयोजन की हमारी सारी योजनाए तभी सफल हो सकेगी जब किसान हमारे खाने के लिए अनाज और हमारे कारखानो के लिए कच्चा माल पैदा करता रहेगा। सच तो यह है कि खाद्यान्न और कारखानो के लिए लगनेवाले कच्चे माल के बारे मे स्वावलम्बन हमारी योजना की जान मानी जानी चाहिए। जिस राष्ट्र को अन्न जैसी अपनी सबसे पहली और बुनियादी जरूरत के लिए भी दूसरो का मुह देखना पडता है, वह राजनैतिक दृष्टि से भी स्वतन्त्र नही कहा जा सकता।

देश मे जमीन-सम्बन्धी सुधारो पर हम हमेशा जोर देते रहे है, ताकि जमीन पर परिश्रम करनेवाला उसका असली मालिक हो। इस बारे मे पहली और दूसरी पचवर्षीय योजना मे एक मोटी-सी नीति बना ली गई है, परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि जमीन-सम्बन्धी सुधारो मे हमारी प्रगति बहुत धीमी और रुक-रुककर हो रही है। जमीन-सम्बन्धी सुधारो से न केवल किसानो की आर्थिक और सामाजिक स्थिति अच्छी होगी, बल्कि उससे खेती की उपज भी बढेगी। कहना न होगा कि इस दृष्टि से सुधार तेजी से जारी करना कितना जरूरी है। जो आदमी खुद जमीन पर काम करता है, जमीन उसीके पास रहेगी, यह विश्वास उसे हो जाना चाहिए और सब प्रकार की बेदखलिया या जोतनेवालो का भगाया जाना बन्द हो जाना चाहिए। जमीन के जोतनेवाले भूमिपुत्र ही उसके मालिक हो।

भारत के किसानो की माली हालत तभी सुधरेगी जब हम ग्रामोद्योगो

गृहोद्योगो द्वारा अपनी आय बढाने का मौका भी उन्हे देगे। आज शहरी और देहाती लोगो के रहन-सहन मे जो अन्तर है, वह धीरे-धीरे हट जाना चाहिए। कारखानो, उद्योगशालाओ और काम करने की दूकानो का एक जाल ग्रामीण क्षेत्रो मे फैल जाना चाहिए, जिससे सबको पूरा काम मिल जाय और किसानो का जीवन परिपूर्ण और समृद्ध हो सके। जबतक हम ऐसा नही करेगे, भारत की अर्थ-व्यवस्था की नीव मजबूत नही होगी। हमे न केवल अपनी खेती का और उद्योगो का उत्पादन बढाना है, बल्कि करोडो बेकारो को सम्मान-युक्त रोजी भी देना है, जो बुरी हालत मे आज पडे है।

भारत ने लोकतन्त्री पद्धति से सयोजन करने का प्रयोग शुरू किया है। यह प्रयोग तभी सफल होगा जब हम आर्थिक और राजनैतिक सत्ता का व्यापक रूप से विकेन्द्रीकरण कर देगे। इसके लिए हमे गाव-गाव मे नये-नये खेत करने होगे, जो अपने गावो के भाग्य-विधाता होगे। प्रत्येक ग्राम-सभा राष्ट्रीय सयोजन की बुनियादी इकाई होगी। इस दृष्टि से आचार्य विनोबा का ग्रामदान-आन्दोलन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विनोबा चाहते है कि राष्ट्रीय सयोजन के मार्ग-दर्शन मे प्रत्येक गाव अपनी-अपनी योजना बनावे। अपने परिश्रम के बल पर स्वावलम्बी बनना ग्रामदान का पहला सिद्धान्त है। स्वावलम्बन के इस सिद्धान्त के बगैर राष्ट्रीय-सयोजन को हम कभी सफल नही कर सकेगे। इसलिए सयोजन मे हमे अपना सारा ध्यान ग्राम-पचायतो और सरकारी समितियो पर केन्द्रित कर देना चाहिए। प्रसन्नता की बात है कि भारत सरकार और योजना-आयोग ने राज्य की सरकारो का ध्यान शासन के विकेन्द्रीकरण के इस जरूरी सिद्धान्त की तरफ दिला दिया है। अब जरूरत इस बात की है कि विकेन्द्रीकरण का यह काम व्यवस्थित रीति से और पूरी तरह से हो।

भारत मे अन्नोत्पादन को बढाने का सवाल वास्तव मे शासकीय यन्त्र को, खासतौर पर उसके नीचे के स्तरो को, सुधारने का प्रश्न है। किसान को अच्छा बीज, अच्छी खाद और सिंचाई की अधिक सुविधा की जरूरत है, परन्तु इससे भी बडी जरूरत ऐसे शासन-यन्त्र की है, जो उसकी कठि-नाइयो की तरफ तुरन्त ध्यान देकर उनको दूर कर सके। यदि किसान सिंचाई के वर्तमान साधनो का भी पूरा-पूरा उपयोग करता रहे, अपने पास

खाद का वैज्ञानिक रीति से उपयोग करे, उसे सुधरे हुए बीज मिल जाय, खेती के काम-काज सब सहयोगपूर्वक करे और सुधरे हुए औजारो से काम ले तो वह अपनी उपज काफी बढा सकता है। यह ख्याल गलत है कि यन्त्रो से खेती करने से खेती की फी एकड़ उपज बढ जाती है। वास्तव मे भारत को चीन और जापान की भाति गहरी (इन्टेन्सिव) खेती करनी चाहिए। फिर जुताई, सिचाई और कटाई आदि की क्रियाओ मे सहकारिता से काफी काम लिया जा सकता है। खेतो की मेडो को हटाकर बहुत-से खेतो की सामूहिक खेती का प्रयोग ग्रामदानी गावो या नई आबादी की बस्तियो मे किये जा सकते है, परन्तु इस प्रकार की खेती मे दो बातो का ध्यान रखना चाहिए। सहकारी खेती मे जबरदस्ती न हो और दूसरे ऐसे खेत बहुत बडे-बडे न हो। सहकारी खेतो मे किसानो के बीच व्यक्तिगत और निकट का सम्पर्क होना बडा जरूरी है। यदि यह नही हुआ तो वह खेती सहकारी खेती नही, खेती का कारखाना बन जायगी और उसमे वे सारी बुराइया घुस जायगी, जो कारखानो मे होती है।

परन्तु सबसे बडी बात तो यह है कि खेती का नये रूप से सगठन तभी हो सकेगा जब हमारी शिक्षा-पद्धति बदलेगी और विकास-योजनाओ मे सहायक बन जायगी। आज तो शिक्षा-सम्बन्धी सारी सुविधाएं शहरो मे केन्द्रित कर दी गई है। इस कारण लोग गावो को छोड-छोडकर शहरो मे आ रहे है और गाव उजड रहे है। अब यह प्रक्रिया उलट दी जानी चाहिए और माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा की सुविधाए गावो मे भी हो जानी चाहिए। अब खेती और ग्रामोद्योग सारी शिक्षा के आधार बना दिये जाने चाहिए, खासतौर पर ग्रामीण क्षेत्रो मे। अभी जो मामूली परम्परागत प्राथमिक शालाओ का विस्तार ग्रामीण क्षेत्रो मे किया जा रहा है, वह बेकार है। गाधीजी बुनियादी शिक्षा के प्रचार पर इतना अधिक जोर इसीलिए देते थे कि उसमे सारे विषयो की पढाई उत्पादक और शिक्षाप्रद काम के द्वारा की जाती है। इसलिए आर्थिक सयोजन को सफल करने की दृष्टि से भी बुनियादी शिक्षा का प्रचार अधिकाधिक होना बहुत जरूरी है।

३४

उत्पादन का अभियान

प्रसन्नता की बात है कि केन्द्र के उद्योग और व्यापार-मन्त्रालय ने उद्योगो मे तथा अन्य क्षेत्रो मे उत्पादन बढाने के लिए एक राष्ट्रीय उत्पादन मण्डल कायम कर लिया है। इस सम्बन्ध मे आयोजित एक विचार-परिषद (सेमिनार) का समारम्भ करते हुए केन्द्रीय उद्योग-मन्त्री ने कारखानो के मालिको तथा मजदूरो को भी सम्बोधन करते हुए देश की सम्पत्ति बढाने के लिए उत्पादन मे परस्पर सहयोग करने की अपील की। उत्पादन-मण्डल मे शासन, कारखानेदारो, मजदूरो, यन्त्र-शास्त्रियो, विज्ञानवेत्ताओ, संशोधको और विविध धन्धो के सलाहकारो के प्रतिनिधि होगे। जिन-जिन प्रदेशो मे खास-खास उद्योग केन्द्रित है, उनमे स्थानीय उत्पादन-मण्डल स्थापित करने मे भी यह मंडल मदद करेगा। प्रारम्भ मे यह उत्पादन-मण्डल यान्त्रिक उद्योगो के क्षेत्र मे उत्पादन बढाने के उपायो और साधनो की ओर ध्यान देगा। उसके बाद वह परिवहन तथा खेती की ओर भी ध्यान देगा।

ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स, पश्चिम जर्मनी, आस्ट्रिया, बेल्जियम और हालैण्ड जैसे देशो ने भी, जो उद्योगो मे बहुत आगे बढे हुए है, अपना उत्पादन बढाने के लिए बडे प्रयत्न किये है और लगातार करते रहते है और इसके लिए यंत्रो मे सुधार करते है। अपने साधनो का अधिक-से-अधिक अच्छा उपयोग किस प्रकार हो कि लोग अधिक सुखी हो, इसका प्रयत्न करते रहते है। भारत जैसे कम विकसित देश मे तो ऐसे उत्पादन बढानेवाले अभियानो की और भी जरूरत है। यह भी जाहिर है कि देश अधिक विकसित हो या कम, ऐसे अभियान तभी सफल होगे जब मालिको और मजदूरो के बीच पूरा-पूरा सहयोग होगा। इस सहयोग मे देश की सारी जनता का लाभ है। कुशल उद्योगपतियो का सदा यह प्रयत्न रहता है कि यन्त्रो मे ऐसे सुधार किये जाय, जिनसे उत्पादन का व्यय घटे और वह अपना माल दूसरे उत्पादको के मुकाबले मे देश-विदेश मे सस्ते मूल्य मे बेचकर अधिक लाभ उठा सके। सुधरे हुए यन्त्रो पर काम करनेवाले मजदूरो को मजदूरी भी

अधिक दी जाती है। ग्राहको को अधिक अच्छी और सुन्दर चीजे सस्ते मूल्य मे मिलने लग जाती है। इस प्रकार उत्पादन-सम्पत्ति को बढाने की ओर अधिक ध्यान देने से सारे राष्ट्र को लाभ होता है।

इसलिए यह जरूरी है कि यह उत्पादन-अभियान केवल उद्योगो तक ही सीमित न रहे। यह सारे अर्थ-क्षेत्र मे काम करे। वास्तव मे हमारे देश मे अन्नोत्पादन के बढाने पर आर्थिक सयोजन मे सबसे अधिक और पहले ध्यान देना जरूरी है। हम आशा करते है कि कृषि और खाद्य-मन्त्रालय भी इसपर विचार करेगा। व्यापार-उद्योग-मत्रालय के साथ मिलकर अन्य क्षेत्रो मे इसी प्रकार उत्पादन बढाने की भी कोई सम्मिलित योजना बनायगा। अभी तो आनेवाले कई वर्षो तक भारत मुख्यत. कृषि-प्रधान देश ही रहनेवाला है; परन्तु जनता को रोजी देकर उसके रहन-सहन को ऊपर उठाने के लिए हमे ग्रामीण क्षेत्रो मे छोटे-छोटे और ग्रामोद्योगो तथा गृहोद्योगो का जाल फैला देना होगा। इस दृष्टि से खेती और उद्योग के क्षेत्र को हमे भारत मे खूव मजबूत बना देना चाहिए। इसलिए हमे खेती के उत्पादन पर भी ध्यान देना है और सारे देश मे घरो पर और दूकानो पर काम करनेवाले छोटे-छोटे कारखाने भी फैला देने है, ताकि लोगो को रोजी मिले और औद्योगिक उत्पादन भी बढे। इस प्रकार खेती और उद्योगो की बुनियाद को हमे खूब मजबूत करना है। इसलिए इनको सम्मिलित और समन्वित रूप से अर्थात् सहयोग के साथ आगे बढना चाहिए। योजना-आयोग को सयोजन की सफलता की दृष्टि से इसपर विचार करना चाहिए।

एक वात और है जिसपर इस विषय मे सावधानी के साथ विचार होना चाहिए। खेती और उद्योगो का उत्पादन बढाने के अति उत्साह मे हम कही इस प्रश्न के मानवी पहलू को न भुला दे। हमारे सयोजन के रथ के दो पहिये है—उत्पादन और सब मनुष्यो को पूरा काम देना। यदि इन दो मे से एक भी पहिया कमजोर रहा तो अपनी आर्थिक योजनाओ मे ठीक प्रगति नही कर सकेंगे। यह सच है कि इस युग मे यन्त्र-शास्त्र और विज्ञान के आविष्कारो का पूरा-पूरा लाभ उठाकर हमे उत्पादन मे उनका उपयोग करना चाहिए, परन्तु हमे सदा याद रखना चाहिए कि यन्त्र को

पूर्ण बनाने की धुन मे हम कही मनुष्य को पगु अथवा बेकार न कर दे। मनुष्य का सबसे अधिक ध्यान रखे। राष्ट्रीय उत्पादन-वृद्धि-आन्दोलन का समारम्भ करते हुए केन्द्रीय उद्योग-मन्त्री ने कहा था कि उत्पादन-वृद्धि के इस अभियान मे इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा जायगा कि यान्त्रिक सुधार के कारण कही बेकारी न बढने पावे। परन्तु इतना ही काफी नही है। लक्ष्य अधिकाधिक लोगो को काम देने का रहे। इसलिए कोई ऐसा भी सगठन या तन्त्र निर्माण किया जाना चाहिए, जो उत्पादन-वृद्धि के साथ अधिकाधिक लोगो को काम दिला सके। स्थानीय उत्पादन-मण्डल इस बात का पूरा ध्यान रक्खे और समय-समय पर आवश्यक उपाय-योजना भी करते रहे।

हमारा सुझाव है कि ये उत्पादक-मण्डल उद्योगो मे सुधरे हुए यन्त्रो को लगाने से पहले यह देख ले कि नये यन्त्र लगाने से कही आदमी बेकार तो नही होगे। यदि ऐसा हो तो पहले उनको दूसरा काम देने का प्रबन्ध कर ले।

जमाना तेजी से आगे बढ रहा है। इसमे उत्पादन के पुराने साधनो को लेकर हम सदा नही बैठे रह सकते, परन्तु नये यन्त्रो के लगाने से बेकारी आती है। इसलिए सयोजको का पहला और पवित्र कर्तव्य यह है कि समाज मे बेकारी न बढे, इसका वे ध्यान रखे। बेकारी से दुख बढता है। प्रत्येक लोकतन्त्री राज्य मे राष्ट्र के हर नागरिक को—जिसका शरीर काम करने लायक है—काम मिलना ही चाहिए, जिससे वह सम्मान के साथ अपने पैरो पर खडा रह सके। यह उसका जन्म-सिद्ध अधिकार है और राष्ट्र के सयोजको का यह कर्तव्य है कि वे इसका प्रबन्ध करे। आर्थिक सयोजन के इस मानवी पहलू का ध्यान रखना भारत जैसे कम विकसित देश मे और भी जरूरी है। यदि मनुष्य-शक्ति का इस प्रकार उपयोग करने का ख्याल नही रखा गया और केवल उत्पादन ही बढाते गये तो उससे बेकारी बढेगी और बेकारी का अर्थ है मनुष्य का पतन और बहुत भारी दुख।

चावल की मिलो का उदाहरण लीजिये। कुछ वर्ष पहले भारत मे खाये जानेवाले चावलो का साठ प्रतिशत हाथ-कुटाई से तैयार किया जाता

था, परन्तु पिछले कुछ वर्षो मे चावल की मिले इतनी वढ गई है कि अव यह प्रतिशत वहुत गिर गया है और देहात मे वेकारी वहुत ही वढ गई है। इसी प्रकार तेल की मिलो ने देहात की हजारो घानियो को वेकार कर दिया है। हम नही चाहते कि चावल के छिलके निकालने या तेल निकालने के वे ही पुराने तरीके सदा काम मे लाये जाय। उनमे सुधार करना अत्यन्त आवश्यक है ताकि वे जल्दी और अधिक अच्छा काम कर सके, परन्तु हमे यन्त्रो के और मनुष्यो के उपयोग मे पूरे विवेक और सन्तुलन से काम लेना चाहिए। योजना-आयोग का यह मुख्य काम है। उसका यह कर्तव्य है कि अधिक-से-अधिक उत्पादन के साथ-साथ अधिक-से-अधिक मनुष्यो को काम किस प्रकार दिया जाय, ऐसा आर्थिक सयोजन करे। जो सयोजन-यन्त्र इस संतुलन को नही साध सकता है, उसके हाथो मे इस देश मे या अन्य किसी देश मे करोडो के भाग्य की वागडोर नही सौपी जा सकती।

दूसरी पचवर्षीय योजना मे करीव एक करोड नये आदमियो को विभिन्न क्षेत्रो मे रोजी मिलने का प्रवन्ध किया गया है। हम नही जानते कि इसकी देखभाल करने के लिए योजना-आयोग ने कोई समिति नियुक्त की है या नही और कि सारे देश मे और उत्पादन के अलग-अलग क्षेत्रो मे सदा इस वारे मे किस प्रकार प्रगति हो रही है। सुधरे हुए यन्त्रो के प्रयोग से यह सम्भव है कि अगले कुछ वर्षो मे उत्पादन काफी वढ जाय। सचमुच यह अच्छी वात है, क्योकि जवतक देश की सम्पत्ति नही वढेगी, हमारा जीवन-स्तर ऊचा नही उठेगा। परन्तु खेती और उद्योगो का उत्पादन वढाने की चिन्ता मे यदि सयोजन मे लोगो को रोजी देने के पहलू पर भी हम आवश्यक ध्यान नही देगे तो अपने वुनियादी कर्तव्य के पालन मे हम वुरी तरह असफल सिद्ध होगे। इसलिए हमारे सयोजन के द्वारा अधिकाधिक आदमियो को काम मिलता जाता है और मिलता जायगा या नही, इसका सदा ध्यान रखनेवाला कोई तन्त्र रखना अत्यन्त आवश्यक है।

अधिक उत्पादन और साथ ही अधिकाधिक लोगो को काम भी मिलता रहे, इसके लिए आर्थिक विकास की योजनाओ के अमल को विकेन्द्रित करना वहुत आवश्यक है। केन्द्रित सयोजन मे कड़े अनुशासन का दोष आ जाता है, जिसके कारण स्थानीय जरूरतो की तरफ ध्यान नही जा

पाता। इसलिए बहुत अच्छा हो, यदि हम अपने सयोजन को जिलो के स्तर तक विकेन्द्रित कर दे । जिला-विकास-परिषदे अपने-अपने क्षेत्र की उत्पादन, उपभोग और काम देने-सम्बन्धी जरूरतो को मालूम करके उसका उचित प्रबन्ध बहुत अच्छी तरह कर सकेगी। दूसरी पचवर्षीय योजना मे ऐसी विकास-परिषदो की नियुक्ति पर काफी जोर दिया गया है। परन्तु जरूरत है विकेन्द्रित उत्पादन की योजना पर देश मे सबसे अधिक जोर देने की। सच तो यह है कि हमे अपने आर्थिक जीवन की ठेठ जड मे—अर्थात् ग्राम तक—पहुचना चाहिए। परन्तु वर्तमान परिस्थितियो मे यह न इष्ट है और न सम्भव ही। परन्तु हम अपने आर्थिक जीवन का सयोजन ऐसा अवश्य कर सकते है कि हमारे सामाजिक जीवन की जितनी भी इकाइया अपने सर्वागीण विकास की जिम्मेदारी समझ सके और उसपर अमल कर सके, अवश्य कर ले। लोकतन्त्र की पद्धति मे जनता का सहयोग प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि स्थानीय नेतृत्व को प्रोत्साहन दिया जाय। इसके लिए व्यापक विकेन्द्रीकरण आवश्यक है, क्योकि उसके बगैर लोगो में भीतर से उत्साह पैदा ही नही होगा।

हम आशा करते है कि योजना-आयोग और भारत-सरकार के विभिन्न मन्त्रालय इनसब प्रश्नो पर समन्वित रूप से विचार करेगे ताकि भारत अपने आर्थिक सयोजन और उसपर अमल करने का कोई ऐसा नमूना तैयार कर सके जो उसकी समस्याओ को हल कर सके और अन्य देशो का भी मार्ग-दर्शक बन जाय। दूसरे देशो की विधि और पद्धतियो की केवल नकल करने से हमारा काम नही चलेगा। भारत की अपनी प्रकृति अलग है। हमे अपने आर्थिक विकास की योजना उसके अनुरूप ही बनानी चाहिए। गाधीजी ने राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति का मार्ग हमको बताया था। विनोबा आर्थिक क्षेत्र मे वही काम कर रहे है। हमे गाधीजी और विनोबा के अनुभव और मार्ग-दर्शन का पूरा लाभ उठाकर भारत के आर्थिक सयोजन का उपयुक्त और सतुलित तरीका ढूढ लेना चाहिए।

: ३५ :

भूदान-यज्ञ का अर्थशास्त्र

सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत की कुल आबादी ३५ ६८ करोड थी। इनमे से ४.४८ करोड खेतिहर मजदूर है, जिनके पास जमीन नही, परन्तु दूसरे की जमीन पर काम करते है और ५३ लाख मनुष्य ऐसे है, जिनकी जमीन होने पर भी वे उसपर काम नही करते। वे केवल जमीन का मुनाफा लेते है। देश मे कुल खेती योग्य जमीन कोई तीस करोड एकड है। इसमे परती की और खेती योग्य बजर जमीन भी गिन ली गई है। जैसा कि हम सब अच्छी तरह जानते है, हमारे यहा औसत जोत का आकार दूसरे अनेक देशो की तुलना मे बहुत छोटा है। उत्तर प्रदेश मे औसत खाता छ एकड का है, वहा मदरास मे ४.५ एकड का, बगाल मे ४ ४ एकड का, पजाब मे दस एकड़ का, बिहार मे ४.५ एकड का और मध्य प्रदेश मे ८ ५ एकड का है। यदि पच्चीस एकड़ को अधिकतम सीमा मान लिया जाय तो प्रत्येक राज्य मे इससे अधिक जमीने कितने आदमियो के पास है, इसके सही-सही आकडे आज उपलब्ध नही है। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि पच्चीस एकड से ऊपरवाले खातो की जमीन कुल मिलाकर काफी हो सकती है। यह जमीन वेजमीन मजदूरो को वाटी जा सकती है और ग्रामीण क्षेत्रो के लोगो मे जमीन की जो स्वाभाविक भूख है, उसको कुछ सतुष्ट किया जा सकता है। आचार्य विनोवा भावे के भूदान-यज्ञ-आन्दोलन की बुनियाद मे यही सबसे पहला सिद्धान्त है। गावो मे रहनेवाले लोगो के दिलो मे जल और वायु के समान जमीन की भूख का होना बिल्कुल स्वाभाविक और उचित है। माता प्रकृति की देन के रूप मे जमीन पाने का भी उन्हे हर प्रकार से हक है।

इसलिए किसी भी परिवार के पास केवल उतनी ही जमीन हो, जितनी उसके लिए आवश्यक अन्न पैदा करने के लिए जरूरी हो। इससे अधिक जमीन रखने का किसीको अधिकार नही। इस नैतिक सिद्धान्त के पालन के लिए तथा सविधान मे लिखित राज्य के मार्गदर्शक सिद्धान्तो के पालन के लिए भी राज्य को चाहिए कि वह जितनी भी जल्दी सम्भव हो, खेतिहर

मजदूरो मे व्यापक रूप से जमीन वाट दे। भारत मे एक लाभदायक खाते का आकार पाच से लेकर दस एकड तक माना गया है। इस हिसाब से खाते की अधिकतम सीमा पच्चीस एकड अनुचित नही कही जा सकती।

तो इस जमीन का वितरण किस प्रकार हो ? साम्यवादी देशो मे जमीदारो से जमीने छीन ली गई है और उन्हे कोई मुआवजा नही दियाग या है। परन्तु भारत के सविधान मे मौलिक अधिकारोवाली धारा के अनुसार तो राज्य जो भी जमीने ले उनका मुआवजा देने के लिए वह वधा हुआ है। परतु सभी जानते है कि मुआवजे की दरे चाहे कितनी ही कम मुकर्रर की जाय, इसकी कुल रकम मिलकर इतनी वडी—करोडो-अरवो की—हो सकती है कि भारत जैसा गरीव देश वह नही चुका सकता। तो फिर उपाय क्या हो? आचार्य विनोबा साम्यवाद की इस चुनौती का जवाव देने की कोशिश कर रहे है। वह इस प्रकार कि अहिसा के मार्ग से जमीदारो को राजी किया जा सकता है कि वे अपने पास की अतिरिक्त जमीने वगैर कोई मुआवजा लियेबेजमीन मजदूरो को दे दे। जैसा कि रॉवर्ट ट्रम्ब्रल ने 'न्यूयॉर्क टाइम्स' पत्र मे लिखा है, "विनोबा गाव-गाव घूमकर लोगो को समझा रहे है कि जिनके पास बहुत अधिक जमीन है, वे अपना कुछ हिस्सा उन लोगो को दे, जिनके पास कुछ भी नही है।" विनोवा की इस अनोखी हलचल ने लाखो-करोडो गरीबो और अमीरो को भी आकर्षित और प्रभावित किया है, और वे 'भूमि के दाता भगवान' माने जाने लगे है। यह सच है कि जमीन की यह समस्या बहुत बडी है और यह अकेले विनोबा से हल नही होगी, परन्तु उनकी यह हलचल जमीन-सम्वन्धी सुधार के कानून के लिए वातावरण वनाने का वहुत महत्वपूर्ण काम कर रही है। इसके अलावा विनोबा का भूदान-यज्ञ-आन्दोलन भारत मे साम्यवादी हलचलो का करारा जवाब भी है।"

कुछ लोग पूछते है, इस प्रकार आचार्य विनोवा को जो जमीने दी जाती है, उनका बटवारा किस प्रकार होगा ? आचार्य विनोवा का विचार है कि प्रारम्भ मे वेजमीन मजदूरो को जमीन की किस्म के अनुसार पाच-पाच दस-दस एकड के टुकडे और साथ मे खेती करने के कुछ साधन भी दिये

जाय। फिर सारी जमीन को एकत्र करने के बजाय सहकारिता का तत्व खेती के कामो मे—हलने, निराई-कटाई आदि मे—लागू किया जाय। इसी प्रकार खेती की उपज वेचना, बीज, यत्र और खाद खरीदना आदि के लिए भी सहकारी-समितिया बना ली जाय। इस पद्धति से एक तो लोगो की जमीन-सम्बन्धी भूख शान्त होगी और दूसरे, हर परिवार अलग-अलग मन लगाकर काम करेगा तो काम भी अधिक होगा और उपज भी अधिक आवेगी। कुछ लोग कहते है कि पारिवारिक पद्धति से खेती करने की अपेक्षा बडे-बडे खेतो की खेती अच्छी और अधिक लाभदायक होती है, परन्तु यह ठीक नही। विनोबा की बात कोई भावुकता मे कही गई बात नही हे। वह प्रत्यक्ष मनुष्य-स्वभाव और मानस-शास्त्र के अध्ययन के आधार पर कही गई है। बडे-बडे अर्थशास्त्री और प्रत्यक्ष अनुभव भी यही कहता है।

श्री सी० एन० वकील ने अपनी 'प्लानिंग फॉर ए शार्टेज इकॉनामी' नामक पुस्तक मे लिखा है, "देश को जिन चीजो की सबमे पहले जरूरत है, उनमे से एक है जमीन का पुन -वितरण। जहा खेती मुख्य उद्योग नही है, ऐसे देशो मे बडे-बडे कारखानो का भले ही महत्व हो, परन्तु जहा खेती को जीवन मे स्थान है, वहा लोग जमीन-सम्बन्धी ऐसे किसी सुधार को बरदाश्त नही करेगे जिसमे जमीन के पुन -वितरण और बडे-बडे जोतो को छोटे-छोटे भागो मे तोडने की व्यवस्था नही होगी। अब लोग इतने बेखबर नही है। दूसरे देशो मे जमीन-सम्बन्धी सुधार कितने आगे बढे हुए है, इसका उनको पता है।"

सर मालकम डार्लिंग का यूगोस्लाविया की सहकारी खेती पर एक लेख मैन्चेस्टर गार्जियन मे छपा है, जिसमे वह लिखते है—"इस प्रयोग ने न केवल किसानो को आपस मे लडा दिया है, बल्कि राज्य और किसानो को भी आपस मे लडा दिया है। सामूहिक खेती मे भी खानगी खेतो की अपेक्षा उपज बहुत अधिक नही होती, क्योकि सामूहिक खेती मे ढील, दलवादी, भीतरी झगडे, काम की टालमटूल और समय का अपव्यय भी होता है।"

जी रहे है। डा० मिट्रानी की राय है कि यदि कही सामूहिक खेती सफल हुई भी है तो वह कुल मिलाकर महगी ही पडती है, क्योकि वह जमीन को नि सत्व बना देती है। खेती के प्रत्यक्ष अनुभव से यह बिल्कुल साफ होगया है कि सामूहिक और यान्त्रिक खेती से जमीन की पैदावार फी व्यक्ति भले ही बढ जाती हो, परन्तु फी एकड वह नही बढती।

श्री मासिघम अपनी 'दि स्मॉल फार्मर' नामक किताब मे साफ लिखते है—

"मनुष्य की स्वाभाविक मर्यादाए और अन्य प्राकृतिक कारणो पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि सपत्ति का फी एकड (लागत और उत्पादन) अनुपात जोत के आकार के उलटा पडता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य मे सदा और जोरदार इच्छा रहती है कि वह जमीन पर स्वतन्त्रतापूर्वक काम करे।"

अपनी ससार-यात्रा के सिलसिले मे मैं जापान भी गया था और मुझे वहा के छोटे-छोटे सुन्दर खेत, जिनका आकार औसतन २ ५ एकड होता है, देखने का अवसर मिला था। चीन मे भी वहा की साम्यवादी सरकार ने बडे खेतो को तोडकर छोटे-छोटे टुकडे बना लिये है और वे प्रत्यक्ष जोतनेवालो को दे दिये है। सिंचाई के लिए राज्य ने हजारो कुए खुदवा दिये है। इस प्रकार आबपाशी से अधिक फसले लेकर और लगभग बगैर बैलो की सहायता की खेती से चीन और जापान भारत से तिगुनी फी एकड उपज ले रहे है।

सयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत रूस मे बडे पैमाने पर खेती होती है, क्योकि वहा आबादी के अनुपात मे जमीन का क्षेत्रफल यूरोप, चीन, जापान और भारत की अपेक्षा बहुत अधिक है। वहा बडे-बडे चको और यान्त्रिक खेती के बगैर चारा ही नही है, क्योकि जमीन बहुत है और मजदूर बहुत कम है। फिर भी सयुक्त राज्य अमरीका मे, जहा केवल अठारह प्रतिशत लोग खेती मे लगे हुए है, लोग छोटे-छोटे खेत पसन्द करने लगे है, क्योकि अब बहुत-से लोगो को जमीन पर काम करने का और देहात मे प्रकृति के बीच रहने का शौक होने लगा है।

सोवियत रूस सामूहिक खेती का घर है, परन्तु वहा खेती के इस सामूहीकरण का किसानो ने बडा जोरदार विरोध किया था। डोरीन वॉरीनर ने अपनी पुस्तक 'रेवोल्यूशन इन इस्टर्न यूरोप' मे लिखा है कि सोवियत रूस के इस प्रयोग मे बहुत-से कड़वे सबक भरे पडे है। वह लिखते है—

"सामूहीकरण का परिणाम आ दो वर्ष का अकाल और बहुत-से मवेशियो का वध, जिसकी पूर्ति अगले दस वर्ष तक नही हो सकी।"

कोलखोज (सामूहिक खेत) के अतिरिक्त रूस मे ऐसे हर बडे खेत पर काम करनेवाले मजदूर को आधे एकड से लेकर ढाई एकड तक का जमीन का एक छोटा-सा टुकडा स्वतन्त्र दिया जाता है, जिसपर वह जो चाहे वह कर सकता है। इस छोटे-से टुकडे पर रूसी किसान अपने परिवार की जरूरत की चीजे बोते है और दिल लगाकर मेहनत करते है। जैसा कि 'दि लैण्ड ऐण्ड दि पेजैण्ट इन रूमानिया' के लेखक ने लिखा है, वास्तविकता यह है कि खेत का आकार ज्यो-ज्यो बडा होता जाता है, फी एकड़ उपज का परिमाण अनेक कारणो से घटता जाता है।

इसका अर्थ यह नही है कि इन छोटे-छोटे खेतो मे सहकारिता की कोई गुजाइश नही है, बल्कि सच तो यह है कि ऐसे किसानो को अपने खेती के कामो मे आपस मे खूब सहयोग करना चाहिए। उससे बडा लाभ है। अपने खेतो को वे मिलावे नही, परन्तु कामो मे अर्थात् जुताई-निदाई, फसल की कटाई, बेचना, अपनी निजी तथा खेती की जरूरी चीजे खरीदना इन सबमे वे एक-दूसरे की पूरी मदद कर सकते है। वे सहकारी बैंक स्थापित करके सहकारी कर्ज का प्रबन्ध कर सकते है, मवेशी की बीमारी, अकाल, अतिवर्षा, आदि से बचने के लिए कोई बीमा-योजना बना सकते है, अथवा सिचाई, अतिरिक्त पानी की निकासी, दुग्धालय, पशु-पालन और फसलो का सयोजन आदि कार्य ग्राम-सभा की सहायता से सहकारिता के आधार पर कर सकते है। खेत बहुत छोटे हो तो उनको मिलाकर एक बडा खेत भी बना सकते है।

बेजमीन मजदूरो मे बेकारी कम करने तथा उनकी जमीन-सम्बन्धी भूख को शान्त करने के लिए भी जमीन का बडे पैमाने पर पुनर्वितरण

आवश्यक है। विनोबा का भूदान-आन्दोलन सद्भाव और सहानुभूति-पूर्वक बगैर मुआवजे के धनवानो से गरीबो को जमीने दिलाने के लिए वातावरण बनाने का महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। यह वातावरण ही देश को खूनी क्रान्ति से बचा सकता है, जिसके लिए साम्यवादी इतने उतावले हो रहे है।

इस दृष्टि से आचार्य विनोबा का भूदान-यज्ञ-आन्दोलन केवल भारत की नही, समस्त ससार की एक जबरदस्त समस्या को सुलझाने की दिशा मे एक अत्यन्त महान कार्य है। इस नि शस्त्र क्रान्ति के बीज सारे देश मे बोने मे आचार्य को बहुत भारी सफलता मिली है। इस कार्य की महत्ता को आज शायद हम पूरी तरह नही पहचान पावे, परन्तु इसमे कोई शक नही कि आज सत् और असत्, हिंसा और अहिंसा तथा शान्त नवनिर्माण तथा विनाशकारी पागलपन के बीच ससार मे जो महान सघर्ष छिडा हुआ है, उसमे विनोबा का यह भूदान-आन्दोलन एक जबरदस्त शक्ति के रूप मे इतिहास मे सदा याद किया जायगा।

३६

ग्रामदान की क्रान्ति

केरल के कालडी ग्राम मे हुए सर्वोदय-सम्मेलन ने ग्रामदान-आदोलन से उत्पन्न होनेवाली बहुत बडी-बडी सम्भावनाओ को सारे देश के सामने रख दिया है। भारत मे जमीन का प्रश्न कठिन और अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसके हल का इसमे एक सुन्दर रास्ता मिल जाता है। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने इस आन्दोलन का यह कहकर स्वागत किया था कि सहकारी खेती के प्रयोग के लिए यह आन्दोलन आदर्श वातावरण तैयार करने का काम करेगा। इस आन्दोलन के अनेक पहलुओ पर आचार्य विनोबा से चर्चा करने का अवसर मुझे मिला था। इसलिए इस नवीन और क्रान्तिकारी हलचल की एक साफ तस्वीर देना उपयोगी होगा।

प्रारम्भ मे आचार्य भावे ने हर किसान से उसकी जमीन का केवल छठा हिस्सा गाव के बेजमीन मजदूरो के लिए भूदान मे देने की माग की थी। इस प्रकार विनोबा अभी तक लगभग पैतालीस लाख एकड जमीन

भूदान मे प्राप्त कर चुके है। परन्तु उत्तर प्रदेश, बिहार और बाद मे उडीसा तथा तामिलनाड के कुछ ग्राम-वासियों ने अपनी सारी-की-सारी छोटी-बडी जमीने पुनर्वितरण के लिए विनोबा को भूदान मे देना स्वीकार कर लिया। भूदान-आन्दोलन के इस नवीन रूप को ग्रामदान कहा गया है। विनोबा इस ग्रामदान-आन्दोलन को अहिंसा के क्षेत्र मे एक महान क्राति मानते है और कहते है कि इसका महत्व बहुत गहरा है। कल्पना तो कीजिये कि एक गाव के सारे जमीदार-किसान अपनी जमीनो का स्वामित्व स्वेच्छा-पूर्वक छोड देते है और फिर इन जमीनो का बंटवारा प्रत्येक को उसके घर के मनुष्यो की सख्या के अनुसार सबकी सम्मति से किया जाता है। यह कितनी बडी बात है। कितना बडा त्याग है, सहयोग की कितनी गहरी भावना है। मनुष्यो के दिलो और दिमागो को बदलनेवाली इससे भी बढ-कर और अधिक आश्चर्यजनक कोई क्रान्ति हो सकती है? कोरापुट मे एक किसान के पास चौबीस एकड जमीन थी, परन्तु ग्रामदान के बाद जमीने फिर से बाटी गई तब उसे केवल साढे तीन एकड जमीन ही मिली और एक-दूसरा बेजमीन मजदूर था, उसे पाच एकड जमीन मिल गई, क्योकि उसके यहा अधिक मनुष्य थे और खूबी यह कि इस चौबीस एकड के दाता ने साढे तीन एकड का दान बडी कृतज्ञतापूर्वक और समर्पण की भावना से विनोबा के हाथ से लिया।

ग्रामदानी गावो मे कुल रकबे का दसवा हिस्सा सहकारी पद्धति की सम्मिलित खेती के लिए रक्खा जाता है। इसकी उपज को गाव के सार्व-जनिक कामो मे जैसे पचायत-शासन, पाठशाला, सूतिका-गृह, सफाई, सास्कृतिक कार्यक्रम और ग्राम के अन्य उत्सव-कार्यों मे खर्च किया जाता है। यदि गाव के लोगो की इच्छा हो तो सारे गांव की जमीनो की काश्त सहकारी पद्धति से कर सकते है। विनोबा इस प्रकार की सहकारी खेती को

सम्बन्ध न रख सके। सहकारी खेती पूर्णत स्वेच्छा की वस्तु हो, ऊपर से लादी न जाय। ग्रामीणो को सहकारिता के लाभ समझा दिये जाय और प्रारम्भ मे प्रयोग भी करके दिखा दिया जाय। इससे वहुत लाभ होगा। वे इसके लाभ को अपने-आप समझ जायगे।

यदि सारे गाव की जमीनो की या उसके दो-तीन वडे-वडे भाग करके उनकी सहकारी पद्धति पर सम्मिलित तौर पर काश्त करना सम्भव नही हो तो सब परिवारो को अलग-अलग जमीने दे दी जाय। ये केवल उपयोग के लिए होगी। इनपर उनका खानगी स्वामित्व नही होगा। इन जमीनो को न वे बेच सकेंगे और न रहन रख सकेंगे। इन परिवारो के पास वे तभी तक रहेगी जवतक समस्त ग्राम की योजना के अनुसार वे इनकी अच्छी तरह काश्त करेंगे। इन परिवारो से आशा की जायगी कि वे भले ही सम्मिलित रूप से खेती न करे, परन्तु खेती की विविध प्रक्रियाओ मे पूरी तरह से एक-दूसरे को सहयोग दे,—अर्थात् जोतना, निदाई, कटाई, सिंचाई, खाद देना, फसल को बेचना इनसब कामो मे वे एक-दूसरे की मदद करे। इस प्रकार की पारस्परिक मदद भी एक प्रकार की सहकारिता ही समझी जायगी, परन्तु मुख्य वात यह है कि सारी जमीन गाव की होगी, परिवारो की खानगी नही। प्रत्येक परिवार से ग्राम-सभा जमीन का किराया वसूल करके शासन को दे दिया करेगी।

विनोवा की राय है कि खेत या जोत के आकार के अनुसार जमीन का उत्पादन नही घटता-बढता। भारत जैसे देश मे गहरी (इटेन्सिव) खेती करना वहुत जरूरी है। वेशक, जमीन के टुकडे वहुत छोटे न हो और वीच मे मेडे बनाकर जमीन बेकार भी न जाने दी जाय। जापान मे जमीनो को अलग-अलग बताने के लिए प्रत्येक खेत की सीमा पर अलग रग की फसल बो दी जाती है। भारत मे ऐसा किया जा सकता है। इसके अलावा खेती के जितने भी कामो मे सम्भव है सहकारी पद्धति से काम लिया जाय।

जो-जो ग्राम अपनी सारी जमीनो को सहकारिता की पद्धति पर जोतने के लिए तैयार हो, उनका हम स्वागत करे और उस गाव की ग्राम-सभा को लागत-खर्च, सिंचाई, अच्छे वीच आदि की सुविधाए देकर उसे प्रोत्साहन दे। ग्रामदानी क्षेत्रो मे सामुदायिक विकास-योजनाए खास तौर पर खोली

जाय या वे खास तौर पर अधिक सुविधाए दे। पश्चिम के देशों मे सामूहिक खेती का प्रयोग असफल रहा है, क्योकि वहा यह किसानो की इच्छा के विरुद्ध उनपर लादी गई थी। यदि ग्रामदानी गावो मे लोग अपनी इच्छा से सामुदायिक सहकारी खेती करना पसन्द करे तो निश्चय ही वह सफल होगी। मुद्दे की बात है कि सहकारिता मे लोगो को विश्वास हो और पूरा उत्साह हो।

ग्रामदानी गावो की ग्राम-सभाओ मे प्रत्येक परिवार का एक प्रतिनिधि होता है। इन ग्राम-सभाओ मे प्रत्येक काम, जैसे सहकारी खेती, कानूनी प्रश्न, अन्य विकास-कार्यक्रम आदि के लिए अलग-अलग समितिया होती है। सभा मे जहातक सम्भव हो निर्णय सर्वसम्मति से ही होते है। विनोवा बहुत पसन्द करे कि शासन और सामुदायिक विकास-योजना मे इन ग्रामदानी गावो की मदद करे और अपनी सामुदायिक विकास-योजनाए तथा राष्ट्रीय विकास-खण्डो की प्रवृत्तियो को इनके काम के साथ जोड दिया जाय। वह वहुत चाहते है कि राज्य सरकारे जल्दी-से-जल्दी ऐसे कानून वना दे, जिनसे ग्रामदानी गावो को कानूनी मान्यता दे दी जाय ताकि शासकीय कर्ज और सहायताए आदि उन्हे मिलने मे आसानी हो जाय और ग्राम-सभा के द्वारा गाव का लगान सरकारा खजाने मे अदा किया जा सके। अभी ग्रामदानी गाव को कई प्रकार की निश्चित असुविधाए है। उदाहरणार्थ यदि कोई किसान अपनी जमीन भूदान मे देता है तो राज्य की सरकार और सहकारी विभाग उसे तकावी या अन्य कर्ज देने से इन्कार कर देते है। जमीन का दान हो जाने पर भी शासकीय कर्मचारी लगान के लिए उसी व्यक्ति के पीछे पडे रहते है। यदि शासन 'ग्रामदान' को कानून द्वारा मान्यता दे दे और वह ग्राम-सभा द्वारा लगान वसूल कर लिया करे और उसीको कर्ज, तकावी वगैरा भी देने लग जाय तो ये कठिनाइया दूर हो सकती है।

विनोवा की यह भी वहुत इच्छा है कि अव ये ग्रामदानी गांव नवीन प्रकार का जीवन शुरू कर दे। जमीन के पुनर्वितरण के साथ जीवन के पुराने मूल्य भी वदल जाय। नवीन ग्राम-रचना मे वे चार वातो पर अधिक जोर देते है—

१ जमीन का न्याय-पूर्वक पुनर्वितरण और सहकारी खेती।
२ ग्रामोद्योगो को प्रोत्साहन और उनका विकास।
३ बुनियादी शिक्षा का प्रारम्भ।
४. भारतीय पद्धति से और वनौषधियो के उपयोग द्वारा स्वास्थ्य-रक्षा।

इसके अलावा भी गावो के नव-निर्माण के अनेक दूसरे काम है। परन्तु ये चार अर्थात् भूदान, ग्रामोद्योग, बुनियादी शिक्षा और आरोग्य नवीन ग्राम-रचना के आधार-स्तम्भ है। विनोबा यह भी बहुत चाहते है कि ग्रामीणो को अपनी सूझ-बूझ का विकास करने तथा अपनी योजनाए खुद बनाने का मौका देना चाहिए। अवश्य ही राज्य इसमे उनकी मदद करे, परन्तु गावो को बहुत अधिक आर्थिक और राजनैतिक सत्ता देने की जरूरत है। विनोबा की राय है कि यदि हम सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना करना चाहते है तो हमे ग्रामराज स्थापित करने की दिशा मे तुरन्त कदम उठाने चाहिए। वह कहते है, "जिस परिमाण मे सत्ता सरकार के पास से ग्रामीणो के हाथो मे जायगी, उसी परिमाण मे अहिसा बढेगी और शासन की सत्ता कम होते-होते अन्त मे वह अदृश्य हो जायगा।"

इस प्रकार भूदान और ग्रामदान का आन्दोलन दिन-ब-दिन अधिकाधिक क्रान्तिकारी रूप धारण करता जा रहा है। सच तो यह है कि सर्व-सत्तावाद (ऑथॉरिटेरियनिज्म) की चुनौती का वही सबसे जोरदार और अधिक अच्छा जवाब है। वह जीवन के मूल्यो मे ही क्रान्ति कर रहा है और यह सब द्वेष, वर्ग-सघर्ष और हिसा से नही, अहिसा, लोकतन्त्र और हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया के द्वारा। इसके अलावा भूदान और ग्रामदान का आन्दोलन सबसे पिछडे हुए और गरीब-से-गरीब लोगो पर असर डालने की शक्ति रखता है। शासक तो केवल उन्ही लोगो को कर्ज दे सकता है, जिनके पास जमीन या अन्य किसी प्रकार की जायदाद है। जिनके पास कुछ नही है, उन्हे राज्य से अबतक कोई मदद नही मिल सकी है। इस विषय मे ग्रामदान हमे एक नया रास्ता दिखाता है। ग्रामराज का सहकारी मार्ग गरीब-से-गरीब आदमी की जरूरते भी पूरी करने का सफल यत्न करता है। इसीलिए ग्रामदान का आन्दोलन

अधिक-से-अधिक प्रोत्साहन का पात्र है।

३७ :

करों के सम्बन्ध में नई नीति

राजनैतिक स्वतन्त्रता के बाद भी सच्ची स्वतन्त्रता तो तभी आई कही जा सकेगी जब हम देश मे हर आदमी के लिए आर्थिक स्वतन्त्रता भी स्थापित कर सकेगे। भारतीय सविधान मे राजनीति के मार्गदर्शक सिद्धान्तो मे लिखा है, "शासन का कर्तव्य है कि प्रत्येक मनुष्य के लिए वह रोजी उपलब्ध कर दे।" और यह भी कि "अर्थ-सम्बन्धी नीति का अमल इस प्रकार न हो कि सम्पत्ति और उत्पादन के साधन इस तरह केन्द्रित हो जाय, जिससे सर्वसाधारण का अहित हो।" राज्य इस वात का पूरा प्रबन्ध करे कि "जरूरत-मन्दो को रोजी का अभाव, शिक्षा की कमी और वेकारी, वृद्धावस्था, बीमारी, पगुता और अन्य प्रकार की अकारण दरिद्रता की अवस्था मे शासकीय सहायता मिलती रहे।" सविधान का शासन को यह भी आदेश है कि "वह आवश्यक कानून के द्वारा या कोई आर्थिक सगठन निर्माण करके या अन्य किसी प्रकार से ऐसा प्रवन्ध करे कि खेती मे, उद्योगो मे तथा अन्यत्र काम करनेवाले मजदूरो को काम, निर्वाह के योग्य मजदूरी, अच्छे रहन-सहन के योग्य काम करने की सुविधाए, फुरसत का पूरा लाभ तथा अन्य सामाजिक और सास्कृतिक कार्यक्रमो मे भाग लेने के अवसर मिलते रहे और खास तौर पर यत्न करे कि ग्रामीण क्षेत्रो में व्यक्तिगत रूप मे या सहकारिता के आधार पर गृहोद्योगो को भी प्रोत्साहन मिलता रहे। प्रकट है कि ये सारी वाते तभी सम्भव होगी जव हम अपनी वर्तमान अर्थ-रचना को योजना-बद्ध तरीको से ठीक करेंगे।

आर्थिक संयोजन के तरीके दो है, एक तो डिक्टेटरशाही का और दूसरा लोकतत्र का। पहले तरीके मे जवरदस्ती से काम लिया जाता है और वडी जोरदार सामाजिक उथल-पुथल होती है। दूसरा तरीका शाति का है। इसमे समाज के सभी अगो का सद्भाव और सहयोग होता है। भारत ने कल्याण राज्य की स्थापना के लिए दूसरे अर्थात् लोकतत्री तरीके को अधिक अच्छा माना है। यह मानना गलत है कि डिक्टेटरी पद्धति की अपेक्षा यह

तरीका—लोकतत्री तरीका—सदा धीमा ही होता है। हमने सतुलित अर्थ-व्यवस्था को अपनाने का निश्चय किया है, जिस मे पूजीशाही और डिक्टेटर-शाही इन दोनो छोरो को छोडकर मध्यम मार्ग का अवलवन किया जाता है। राष्ट्र-पिता गाधीजी ने भी स्वतत्र भारत के लिए इसी मार्ग को अच्छा बताया था। इस प्रकार के सामाजिक और आर्थिक सुधार लाने के लिए यह अत्यत आवश्यक है कि जमीन, खेती, उद्योग, शासन और सार्वजनिक कोष से सम्बन्धित दूरगामी सुधार तेजी से लानेवाले उपयुक्त कानून बनाये जाय।

यह कहना सही नही है कि भारत मे करो का बोझ पहले ही बहुत भारी है और अब करो को अधिक बढाने की गुजाइश नही है। राष्ट्रीय आय और करो का अनुपात भारत मे ७ प्रतिशत है, जब कि श्रीलका मे वह २१ प्रतिशत, मिस्र मे १६ प्रतिशत, सयुक्त राज्य अमरीका मे २६ प्रतिशत, और इग्लैड मे ४१ प्रतिशत है। यह भी याद रहे कि भारत मे आबादी का केवल ६ २४ प्रतिशत आय-कर देता है, जबकि इगलैड मे ४४ प्रतिशत, सयुक्त राज्य अमरीका मे ३७ प्रतिशत, आस्ट्रेलिया मे ३४ प्रतिशत और कनाडा मे २० प्रतिशत लोग आयकर देते है। निश्चय ही हमारे देश मे करो को बढाने की अभी काफी गुजाइश है और अभी तो कितनी ही विकास-योजनाए चल रही है। ये लोगो की हैसियत और भी अच्छी कर देगी। जैसा कि स्वर्गीय श्री रमेशचन्द्र दत्त ने अपने 'इकॉनोमिक हिस्ट्री ऑफ इडिया' मे लिखा है, "कर तो सूर्य की किरणो के समान है। वे पृथ्वी से पानी खीचकर वर्षा के रूप मे पुन उसे लौटा देते है, जिससे अच्छी फसल आती है।' सच तो यह है कि सबकुछ इसीपर निर्भर करता है कि करो का उपयोग किस प्रकार होता है। भारत के लोगो को यदि यह निश्चय हो जाय कि इन करो का उपयोग उन्हीकी और आनेवाली पुश्तो की भलाई के लिए होगा तो उन्हे शक्ति से अधिक कर लगाने पर भी कोई शिकायत नही होगी, परन्तु इस लाभ के सिद्धान्त के अलावा लोगो की शक्ति का भी ध्यान अवश्य रक्खा जाना चाहिए। भारत जैसे अविकसित देश मे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करो के रूप मे जो राज्य-कोष एकत्र किया जायगा, वह जनता के सभी वर्गो से इकट्ठा किया जायगा। गरीब, मध्यम और धनी वर्ग

के लोगो पर उनकी हैसियत के अनुसार यह बोझ बट जायगा।

इस समय साधन-सपन्नो और निर्धनो के बीच एक बहुत बडी खाई है। इस खाई को तुरन्त एक न्याय-युक्त कर-प्रणाली द्वारा व्यवस्थित रीति से भर दिया जाना चाहिए। अगर गरीबो को यह विश्वास हो जायगा कि शासन अमीरो की अमीरी कम करके समाज मे समानता लाने का निश्चय कर चुका है तो वे इस अतिरिक्त बोझ को खुशी-खुशी उठा लेगे। हमे मानना होगा कि वर्तमान आर्थिक और सामाजिक रचना ऐसी है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता आ जाने पर भी समाज मे जो अखरनेवाली विषमताए है, वे कम नही हुई है। फिर गरीबो को आजादी की गरमी का अनुभव कैसे होगा ? और जबतक उन्हे इस गरमी का अनुभव होने नही लगता, उनसे हम यह आशा नही कर सकते कि वे नवीन समृद्ध भारत के निर्माण के महान किन्तु कठिन कार्य मे प्रसन्नता के साथ योग दे सकेगे। मेरा सुझाव है कि हमारी आर्थिक नीति का लक्ष्य यह हो कि एक साधारण परिवार की मासिक आय कम-से-कम १००) हो और समाज मे सबसे अधिक आय इससे बीस गुनी अर्थात् दो हजार मासिक से अधिक न हो। यह भी ध्यान रहे कि यह १:२० का अनुपात कुछ समय के बाद १.१० तक हमे ले आना चाहिए।

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए मैं कुछ ठोस प्रस्ताव भी रखना चाहता हू।

१. धनवानो को यह अनुभव करा देना चाहिए कि भारत में यदि लोक-तन्त्र को सफल बनाना है तो उनकी शोभा इसीमे है कि वे जनता की भलाई के लिए अधिक करों का बोझा सहकर के अपनी सम्पत्ति कम करने के लिए खुशी-खुशी तैयार हो जाय। यह सच है कि इस देश मे १,५००००) से ऊपर जिनकी वार्षिक आय है, ऐसे व्यक्ति केवल १२८६ हैं। परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि प्रति वर्ष कर वसूल करनेवालो के जाल से बीस करोड़ रुपये बच जाते है। इसलिए सरकार तथा धनवानो को चाहिए कि यह रकम शासकीय कोष मे प्रतिवर्ष आ जाया करे। करों को चुराना एक राष्ट्रीय पाप—देश-द्रोह—माना जाना चाहिए और इसलिए उसपर सजा होनी चाहिए।

२ ५००००) से ऊपर की आमदनियों पर आय-कर और उच्च-

कर (सुपर टैक्स) की दरे अधिक भारी कर दी जाय। इसी प्रकार कमाई जानेवाली आय और वगैर कमाई हुई आय पर भी दरे अलग-अलग हो। इग्लैड की भाति भारत मे भी कुटुम्ब के आकार के अनुसार भत्ते देने की प्रथा शुरू कर दी जानी चाहिए। यह मानना गलत है कि इससे परिवारो की वृद्धि को प्रोत्साहन मिलेगा।

३ जायदाद-सम्बन्धी कर (एस्टेट ड्यूटी) अभी बहुत कम है। इसे एक करोड के ऊपर की जायदादो पर ७५ प्रतिशत तक वढा दिया जाना चाहिए, परन्तु इसमे अनुचित सख्ती न हो। करदाताओ को यह सुविधा दी जाय कि वे अपने जीवन-काल मे पेशगी तौर पर सरकारी कोष मे जायदाद-कर जमा करवाने लग जाय। इस कर से जो आय हो उसे ग्रामीण क्षेत्रो के विकास के लिए जमा कर दिया जाय।

४ विलास की चीजो पर बिक्री-कर की दरे भारी हो, किन्तु ग्रामोद्योग और गृहोद्योगो से वनी चीजे पूरी तरह कर-मुक्त रहे। भारत सरकार को चाहिए कि बिक्री-कर की दरे, जितनी जल्दी सभव हो, सभी राज्यो मे समान कर दे। राज्यो के बीच चलनेवाले व्यापार-सम्बन्धी प्रश्नो को भी अविलम्ब ठीक तरह से हल कर देना चाहिए। फिर बिक्री-कर भी केवल एक ही जगह लिया जाय, जगह-जगह नही। करो-सम्बन्धी सभी मामले जल्दी से निपटा दिये जाय। लोगो को परेशान न होना पडे। काम की विधि के नियम सरल-से-सरल हो।

५ जमीन के लगान की वर्तमान पद्धति हटा दी जाय और उसके स्थान पर खेती का आयकर जारी कर दिया जाय। एक निश्चित सीमा से जिनकी आय कम हो, उन्हे करो से एकदम मुक्त कर दिया जाय और अधिक आयवालो पर भारी दरे लगा दी जाय। इस पद्धति से जमीनो का वितरण भी अपने-आप वाजिब तौर पर हो जायगा।

६ जमीन पर से तो सामन्तवाद भारत मे लगभग उठ गया है। अब यह उद्योग-क्षेत्र से भी उठा दिया जाना चाहिए। मैनेजिग एजेण्ट की प्रथा एक प्रकार से सामन्तवाद ही है। इसे तुरन्त जड-मूल से बदल देना चाहिए। मुनाफे की उच्चतम सीमा निश्चित कर दी जाय। इसी प्रकार मैनेजिग

एजेण्ट्स का पारिश्रमिक भी असली मुनाफे का साढे सात प्रतिशत मुकर्रर कर दिया जाय।

७ लोग करो की चोरी नही करने पावे और खानगी कम्पनियो पर आवश्यक नियन्त्रण रहे, इसलिए जरूरी है कि इनके हिसाबो की जाच शासकीय और प्रमाणित (चार्टर्ड) हिसाब-निरीक्षको द्वारा अनिवार्य कर दी जाय। आज सारी जाच खानगी तौर पर होती है। इससे करों को टालने के लिए झूठे हिसाब तैयार किये जाते है।

८. हमारे देश मे वहुत वडी-वडी रकमे अमानत के तौर पर बेकार पडी हुई है। इनपर यदि कर लगा दिया जाय तो या तो लोग इन्हे मजबूरन खर्च करने लगेगे या किसी उपयोगी काम या व्यापार मे लगा देगे। दोनो हालतो मे लोगों को रोजी मिलने की सम्भावनाए वढ जायगी।

९ आर्थिक नीति का अन्तिम उद्देश्य यह हो कि महत्वपूर्ण और मातृ-उद्योगो (मदर इन्डस्ट्रीज) का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय और उपभोग्य वस्तुओ के उद्योगो को विकेन्द्रित कर दिया जाय। यह उद्देश्य कपडा, तेल, चीनी, चमड़ा, कागज, दियासलाई आदि उपभोग्य वस्तुओ के शक्तिचालित वडे उद्योगो पर उत्पादन-कर लगाकर इन्ही वस्तुओ के गृहोद्योगो और ग्रामोद्योगो को मदद देकर सिद्ध किया जाय। सरकार ने हाथ-करघा-उद्योग तथा खादी की मदद के लिए मिल के कपडे पर कर लगाकर इस सिद्धान्त को पहले ही मान्यता दे दी है। यही सिद्धान्त दूसरी उपभोग्य वस्तुओ के उद्योगो पर भी लागू कर दिया जाय।

१० धनवानो मे धर्मादे की वृत्ति को प्रोत्साहन देने के लिए खास प्रकार की धार्मिक सस्थाओ को दिये जानेवाले दानो की रकमो को पाच प्रतिशत से वढाकर दस प्रतिशत तक आय-करो से मुक्त कर दिया जाय। इन कर-मुक्त सस्थाओ मे अलबत्ता वे ही हो, जो राष्ट्रीय विकास-योजनाओ मे आती हो।

११ पचवर्षीय योजना मे स्थानीय कामो की योजनाओ के लिए जनता ने जो प्रशसनीय उत्साह दिखाया है, उससे सिद्ध है कि करो की योजना बनाते समय लोगो को सीधा और प्रत्यक्ष लाभ हो, यह सिद्धान्त सदा ध्यान मे रहे। साधारणत राष्ट्रीय योजनाओं के लिए लोगो पर सीधा

या अप्रत्यक्ष कर लगाने की अपेक्षा प्रत्येक क्षेत्र मे लोगो के लाभ की जो स्थानीय योजनाए हो और जिनकी जरूरत वे महसूस करते हो, उनके लिए नकद, अनाज या श्रम के रूप मे दान द्वारा सहयोग देने के लिए लोगो को राजी किया जाय तो वहुत अच्छा हो। इसी प्रकार मैं राष्ट्रीय वचत योजना, राष्ट्रीय बचत कोष और राष्ट्रीय योजना ऋण-कोष के प्रमाण-पत्र वेचते समय खास योजना या हेतुओ के लिए इन रकमो को निश्चित कामो के लिए अकित कराने की पद्धति भी शुरू की जा सकती है।

१२ देश मे बेकार पडे हुए धन को वाहर निकलवाने के लिए ग्रामीण जनता के लिए छोटे-छोटे बैंक या बीमा-योजनाए बनाई जाय। व्यापारी बैंको को भी प्रोत्साहन दिया जाय कि वे ग्रामो मे अपनी शाखाए खोले। उन्हे यह भी सहूलियत दी जाय कि वे इन शाखाओ मे काम करनेवाले आदमियो को भले ही कम तनख्वाह दे। डाकघरो की बीमा-योजनाए अभी सरकारी नौकरो तक ही सीमित है। उन्हे आम जनता के लिए भी लागू किया जा सकता है।

१३ देश के गृहोद्योगो और ग्रामोद्योगो को प्रोत्साहन देने तथा सीमा-शुल्क (कस्टम्स) की आय बढाने के लिए प्रसाधन-सामग्री (कॉस्मेटिक्स), सुगधित चीजे, फलो के डिब्बे, चीनी का सामान,बिस्कुट, मिठाइया,शरावे, मोटरे, सिगरेटे, कपडे, चाकू-कैंची वगैरा विदेशो से आनेवाली विलास की चीजो पर भारी आयात-कर लगा दिया जाय। इन चीजो की बाहर से वहुत मात्रा मे आयात के कारण लोगो की स्वदेशी वृत्ति मन्द हो गई है। देश के उद्योगो को वढावा देने के लिए उसे फिर से जिलाना वहुत जरूरी है।

१४ अभी तक करो की सपत्ति गावो से आती रही है और शहरो मे उसका उपयोग हुआ है। परन्तु अब इस प्रक्रिया को उलटा देना जरूरी है। प्रारम्भ इस प्रकार किया जा सकता है कि किसी भी प्रदेश से जो सीधे कर वसूल किये जाय उनका पचास प्रतिशत वही की स्थानीय विकास-योजनाओ के लिए छोड दिया जाय। सिचाई के या विशेष लाभवाले कर (वैटरमेन्ट लेवीज)उन्ही भागो पर लगाये जाय, जिनको इन सुविधाओ से प्रत्यक्ष लाभ मिलता है। मतलब यह कि अतिरिक्त कर का प्रयोजन और लाभ लोगो को प्रत्यक्ष दीखना चाहिए।

१५. उपभोग्य वस्तुओं के कारखानों के लिए देश में अब अधिक विदेशी पूंजी नहीं आने दी जाय। अभी वस्तुओं के बनाने में जो विदेशी पूंजी लगी हुई है उसे दूसरे प्रकार के कारखानों में लगाने पर स्वदेशी (इण्डिया लिमिटेड) नामधारी इन विदेशी कारखानों के माल पर अतिरिक्त उत्पादन-कर और बिक्री-कर लगा दिया जाय।

१६. स्थानीय करों को अधिक वैज्ञानिक और पद्धतियुक्त कर दिया जाय। नगरपालिकाएं आदि स्थानीय संस्थाएं अपने क्षेत्र में जो कर सही रूप में कितना लगावें, इस सम्बन्ध में उन्हें सलाह देने के लिए राज्य सरकारें खासतौर पर कुछ आयोग रखें जिनका खर्च राज्य-सरकारें और स्थानीय संस्थाएं आपस में बांटकर उठा लें। विकास-योजनाओं के कारण कुछ जमीनों की कीमतें बेहद बढ़ जाती हैं। कर लगाते समय इसका भी ध्यान रहे। लोग सिर्फ लाभ के लिए महलों के समान बड़ी इमारतें बनाते हैं। ऐसी इमारतों पर नगरपालिकाएं और नगर निगम अवश्य ऊंचे कर लगावें।

१६. आज हमारी वार्षिक आय की आधी रकम सुरक्षा पर खर्च हो रही है। इसे शायद निकट भविष्य मे हम कम भी न कर सके। परन्तु हमारी सेनाओ का उपयोग राष्ट्रीय विकास योजनाओ के उत्पादक और विकास कार्यो मे वडी अच्छी तरह किया जा सकता है। इसके लिए गभीरता-पूर्वक यत्न किया जाना चाहिए। इससे जनता पर अधिक ऊचे कर लगाने की जरूरत कुछ कम रहेगी। शान्ति के समय मे सेनाओ का उपयोग गावो के रास्ते, पुल, शालाए, अस्पताल, जमीन कटने के उपाय करने, जगलात लगाने और खेती का नुकसान करनेवाले जगली पशुओ को नष्ट करने आदि के लिए किया जा सकता है।

२० करो के अलावा मूलोद्योगो का राष्ट्रीयकरण करके, लोकोपयोगी सेवाए स्थापित करके और कुछ चीजो का व्यापार खासतौर पर वैदेशिक व्यापार अपने हाथो मे लेकर शासन अपनी आय के कुछ अन्य साधन भी निर्माण कर सकता है। अनुभव की दृष्टि से ऐसे व्यापार के लिए प्रारम्भ मे कुछ खास चीजे ही ली जाय।

२१ सवसे बड़ी बात, शासन को ठेठ ऊपर से अपने ही उदाहरण द्वारा देश मे सादगी, सयम और कठोर परिश्रम का वातावरण बनाने का यत्न करना चाहिए। जबतक ऊचे पदो पर बैठे हुए लोग और अधिकारी खुद सयम और सादगी का उदाहरण पेश नही करेगे तबतक लोगो से इसकी आशा नही की जा सकती। वडे शहरो मे जो दावते, स्वागत-समारोह वगैरा होते है, बन्द हो जाने चाहिए। हमारे राष्ट्रीय कार्यक्रम के रूप मे शराब की पूरी वन्दी हो जानी चाहिए। इससे शासन को आबकारी आय की जो हानि होगी उसका बदला जनता की बचत के रूप मे पूरी तरह से राष्ट्र को मिल जायगा, जो उत्पादक कामो के लिए अवश्य ही उपलब्ध हो सकेगी।

३८

शराबबन्दी की नीति

हमारी शराबबन्दी की नीति के बारे मे अभी तक वडी गलतफहमी है। अनेक राजनीतिज्ञ और समाज-सुधारको की भी समझ मे वह नही

आ रहा है। वे तो मानते है कि यह भी गाधीवादियों की एक सनक है, जिसके कारण राष्ट्र के कोष मे प्रतिवर्ष ५० करोड का घाटा हो रहा है। राज्यो की विधान-सभाओ मे और ससद मे भी 'इस गलत और दुर्भाग्यपूर्ण' नीति और कार्यक्रम पर वे सरकार की निन्दा करते नही थकते। शायद बहुत-से लोग नही जानते कि भारतीय सविधान ने शासन को इस नीति के बारे मे वडा स्पष्ट आदेश दिया है। सविधान की धारा ४७ मे साफ लिखा है कि "शराव और दूसरे नशीले पदार्थ मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए हानिकर है। इसलिए राज्य इनके उत्पादन और औषधि के काम को छोडकर अन्य सब प्रकार के उपयोग पर पूरी वन्दी लगाने का यत्न करे।" इस स्पष्ट आदेश के होते हुए भारत मे शराववन्दी और नशावन्दी की नीति को रद्द कर देने की वाते करना एकदम विधान के विरुद्ध है। हा, इस नीति पर अमल किस प्रकार किया जाय, सुधार की गति क्या हो, इसके वारे मे प्रत्येक राज्य की आर्थिक स्थिति या अन्य परिस्थितियो के अनुसार अलग-अलग राये हो सकती है और वे उचित भी हो सकती है। परन्तु शराववन्दी की प्रत्यक्ष नीति को वुरा वताना और जो राज्य-सरकारे साहसपूर्वक उसे कार्यान्वित कर रही है, उनकी निन्दा करना—सौम्य-से-सौम्य भाषा मे कहे तो—देश-भक्ति के विरुद्ध है। वह हमारे महान राष्ट्र के पवित्र सविधान के विरुद्ध पाप भी है।

राष्ट्रीय कोष की हानिवाली दलील न केवल गलत वल्कि शरारत से भरी भी है। अगरेज सरकार हमेशा वडे गर्व के साथ आवकारी की आय को शिक्षा के कामो के लिए अकित कर देती थी। पहले तो शराव पिलाकर लोगो को पतित वनाया जाय और फिर इस पाप से कमाये पैसे का उपयोग इन्ही लोगो के वच्चो की पढाई मे खर्च करने के शुभ कार्य का श्रेय लिया जाय। इससे अधिक वेवकूफी की और गलत वात दूसरी क्या हो सकती थी। जो भी सरकार शराव जैसी वुरी चीज से मिलनेवाली आय के भरोसे पर अपने विकास-कार्य चलाने की आशा रखती है, वह कल्याण राज्य कभी स्थापित नही कर सकती। और वह अपनी इस सोने के अण्डे देनेवाली मुर्गी को मारना कभी पसन्द नही करेगी। वह तो स्वभावतः सदा यही चाहेगी कि अधिकाधिक लोग शराव पीये। उन्हे वह शराव

पीना सिखावेगी ताकि उसे अधिकाधिक पैसे मिले। लोक-कल्याण और शराबखोरी बढाने की वृत्ति दोनो साथ-साथ नही चल सकते। फिर हमे एक यह वात भी याद रखनी चाहिए और वह महत्वपूर्ण है कि शराबबन्दी से लोगो का अनायास बहुत भला होता है। जिसे हम सरकारी आय की हानि मानते है वह वास्तव मे लोगो का बडा हित करना है। शराब-बन्दी के लाभो का हिसाब लगाते समय हम कभी-कभी बडे डर जाते है कि लोग गैरकानूनी शराब बनाने या वाहर से चुराकर लाने लग जायगे। किन्तु वर्धा की कुछ सस्थाओ ने जो सर्वेक्षण किया है, उससे ज्ञात हुआ है कि शराबबन्दी की नीति से जनता का बडा लाभ हुआ है। जनता का यह जो प्रत्यक्ष लाभ हुआ है, क्या उसे हम भुला दे और किसी काल्पनिक अनिश्चित लाभ के लिए राज्य की आय बढाने का यत्न करे ? क्या यह बुद्धिमानी की बात होगी ? राजस्व-शास्त्र के सभी जानकार जानते है कि भारत जैसे गरीब देश मे शराब से होनेवाली आय का बोझ अधिकाश मे गरीबो पर ही पडेगा। इस प्रकार इस मार्ग से होनेवाली आय पाप की कमाई है, जो देनेवाले और लेनेवाले दोनो के लिए, हानिकर और गिरानेवाली है।

कुछ लोगो का सुझाव है कि पूरी शराबबन्दी करने की अपेक्षा उस-पर कुछ नियत्रण लगा दिया जाय। शराब पीनेवाले परमिट ले लिया करे और उसकी मात्रा भी बाध दी जाय। यह दलील भी भ्रममूलक है। इसमे मनुष्य की स्वाभाविक कमजोरी का ख्याल नही किया गया है। चीन मे एक लोकोक्ति है, जिसका आशय है, 'पहले आदमी शराब पीता है और अन्त मे शराब आदमी को पी जाती है।' इसे हमे सदा याद रखना चाहिए। शराब मे सयम का नाम लेना ही गलत है। इस सयम का अर्थ है, इस जाल मे अधिक लोगो को खीचना। यह आबकारी की आय बढाने की नीच तरकीब है। शराबखोरी एक बहुत बडी बुराई है। उससे किसी प्रकार का समझौता नही हो सकता। उसमे न अर्थशास्त्र है, न राजनीति। नीति-शास्त्र तो है ही नही।

यह भी कहा जाता है कि अमरीका की भाँति शराब-बन्दी की नीति भारत मे भी सफल नही होगी और यह कि शराबबन्दी के उठते ही गैरकानूनी शराब का बनना भी अपने-आप कम हो जायगा। यह कथन

भी वास्तविकता से दूर है। डॉ जॉर्ज बी कटन ने अपनी 'शुड प्रोहिबिशन रिटर्न' नामक पुस्तक मे लिखा है कि शराबबन्दी के दिनो मे किस प्रकार वहा के परिवारो मे नई रौनक आ गई थी, बचत बढ गई थी, लोग बीमे कराने लग गये थे और दूध, फल और अन्य पौष्टिक पदार्थ अधिक खाने लग गये थे। फेडरल डिपार्टमेट के सरकारी कागजात बताते है कि सयुक्त राज्य से शराबबन्दी उठते ही शराब की खपत एकाएक बुरी तरह २३५ प्रतिशत बढ गई। इसके अलावा अत्यधिक नशा करनेवालो की गिरफ्तारियो की सख्या पहले से दूनी हो गई। लोगो की बचते बैंक मे तेजी से घटने लगी और घरो मे फिर निराशा का अधेरा छा गया। बहुत-से अक बताये जा सकते है, जो सिद्ध करते है कि सयुक्त राज्य अमरीका में भी शराबबन्दी की नीति एक प्रकार से महान वरदान सिद्ध हुई है। उस देश मे शराबबन्दी का उठना लोक-कल्याण के प्रयत्नो पर स्वार्थी तत्व की विजय का प्रकट सबूत है और फिर हम क्षणभर मान ले कि शराबबन्दी की नीति वहा असफल सिद्ध हुई, तो इसका अर्थ यह नही हो सकता वह यहा भी असफल ही रहेगी। अमरीका की टेम्परैंस सोसायटी के एक्जीक्यूटिव सेक्रेटरी प्राध्यापक शार्फेनबर्ग बम्बई आये थे। उन्होने बम्बई के एक सम्वाददाता-सम्मेलन मे कहा—

"भारत की जनता का धर्म पर दृढ विश्वास है, उसकी अपनी सास्कृतिक और दार्शनिक परम्पराए है। उसकी दृष्टि आदर्शवादी और यथार्थवादी दोनो है। इसके अलावा बनाने, बेचने, बाहर से मगाने और उसके उपभोग के बारे मे उसके विचार और दृष्टि सदा साफ और निश्चित रही है। अत आज वह ऐसी स्थिति मे है कि वह यदि एक राष्ट्र की हैसियत से शराबबन्दी का निश्चय कर ले तो उसके सयम और निश्चय से सारा ससार प्रभावित हो सकता है।"

परन्तु हमे याद रखना चाहिए कि पूरी शराबबन्दी की नीति केवल कानून और पुसिस के बल पर सफल नही हो सकती। यह एक ऐसा नैतिक और सामाजिक सुधार है, जो लोक-शिक्षण और गैर-सरकारी सहयोग के बगैर कभी सफल नही होगा। इसीलिए तो गाधीजी ने अपने रचनात्मक कार्य-क्रम का उसे एक प्रधान अग माना है। इसलिए शराबबन्दी

के कार्य-क्रम की स्थायी सफलता समाज-सुधारको की श्रद्धा और पुरुषार्थ पर ही अन्तत निर्भर करेगी। शराबबन्दी की नीति नि सन्देह एक अच्छी, व्यावहारिक और महान नीति है। जो हो, उसे सफल करके दिखाना हम सबका कर्तव्य है। वह सविधान का आदेश है, अत हमपर डाली गई एक जिम्मेदारी है। उसे हमे प्रसन्नतापूर्वक पूरी करनी चाहिए। यदि शराबबन्दी भारत मे सफल नही होगी तो मानवता की आशा का सारा आधार टूट जाता है।

३९

सुरक्षा का अर्थशास्त्र

"हम कभी किसी देश से नही कहेगे कि वह सैनिक सहायता भेजकर हमारी रक्षा करे। प्रसग आने पर हमारे पास पूरा सैनिक बल हो या न हो, परन्तु हमारे पास शायद एक दूसरी चीज है—पुरुषार्थ, वीरता, जो हमारी उससे भी अच्छी रक्षा कर सकती है। यदि भारत अपनी इस आत्मा को ही खो बैठता है तो दूसरे की मदद से क्या होना, जाना है।"

प्रधान-मन्त्री जवाहरलाल नेहरू के इन शब्दो मे वह तत्व-ज्ञान भरा हुआ है, जो गाधीजी हमे और ससार को दिया करते थे। राष्ट्र का अतिम बल उसकी सेनाए नही, बल्कि उसकी आत्मा है, जो समस्त आक्रमणो का मुकाबला कर सकता है। आजकल के मानस-शास्त्र की भाषा मे कहे तो किसी भी राष्ट्र का बल उसकी जनता की हिम्मत—मॉरेल—मे है। राष्ट्र की सुरक्षा के साधन न केवल जल, थल और आसमान मे लडनेवाली सेना के रूप मे जुटाने की जरूरत है,बल्कि लोगो के दिलो मे भी उसे निर्माण करना जरूरी है।

यह तभी सभव है, जब जनता को अपने पुरुषार्थ मे और अपने नेताओ की कान्तिशीलता मे विश्वास होगा।

आजकल के राजनीतिज्ञ जनता मे भय और द्वेष फैलाते रहते है और अन्त मे उनसे पूछते है कि बताइये, मक्खन और बन्दूक इन दोनो मे से आप किसे पसन्द करेगे। आजकल की बन्दूके भयकर महगी है। वे मनुष्य के शरीर और आत्मा दोनो को खा जाती है। मतलब यह नही कि भारत को

अपनी फौजे विसर्जित कर देनी चाहिए। आज के इस अपूर्ण युग मे राष्ट्र को कुछ तो फौजे रखनी ही पडती है, परन्तु हमे याद रखना चाहिए कि आज के इस अणु-शक्ति के युग मे केवल सैनिक शक्ति का होना काफी नही है। उस अणु बम का मुकाबला करने के लिए गाधीजी के बनाये 'आणविक मनुष्य' का विकास हमे अपने अन्दर करना होगा। अणुबम का सच्चा जवाब तो आत्म-बल मे है। यह निरा मौखिकत त्वज्ञान नही है। यह तो आधुनिक चितन और मानस-शास्त्र का सार है।

आज हम एक नई क्रान्ति के द्वार पर खडे है, जो डेढ सौ वर्ष पहले आई औद्योगिक क्रान्ति से कही अधिक महान होगी। दस या पन्द्रह वर्षो मे इसका इतना विकास हो जायगा कि वह ससार के तमाम उद्योगो का ढाचा ही बदल देगी। कोयला जबतक हमारी शक्ति का साधन रहा तबतक किसी खास प्रदेश मे—जहा वह बहुतायत से पाया जाता था—उद्योगो का केन्द्रित होना स्वाभाविक और अनिवार्य था, परन्तु बिजली के आविष्कार से उद्योगो का विकेन्द्रीकरण अब शक्य हो गया है, परन्तु आणविक शक्ति के युग मे तो उद्योगों का विकेन्द्रीणरण अनिवार्य हो जायगा। विज्ञान के इस युग मे केन्द्रीकरण न केवल अवैज्ञानिक है, अपितु युद्ध की दृष्टि से खतरनाक भी है। इस आणविक युग मे तो केवल विकेन्द्रित उद्योग-पद्धति ही अणु-बमो के प्रयोग से बचने की आशा कर सकती है। पश्चिम मे आज केन्द्रित पद्धति के जो बडे-बडे उद्योग चल रहे है, उनके लिए आज अपना स्वरूप बदलना बहुत कठिन है, परन्तु भारत तो उनके समान केद्रित उत्पादन के बडे-बडे कारखाने बनाने की भूल जान-बूझकर न करे। राष्ट्र की रक्षा की दृष्टि से उद्योगो का विकेन्द्रीकरण न केवल इष्ट, बल्कि अनिवार्य है। चीन मे औद्योगिक सहकारिता की पद्धति ने राष्ट्र की रक्षा मे दूसरी रक्षा-पक्ति का काम किया है। यदि यह सगठन चीन के गाव-गाव मे नही फैला होता तो चीन की जनता जापान के आक्रमणो का मुकाबला कभी नही कर सकती थी। रूस और अमरीका दो भिन्न-भिन्न विचार-प्रणालियो का प्रतिनिधित्व करते है और दोनो एक-दूसरे से डरते है। अगर ये विचार-प्रणालिया शाति की पोषक होती तो ससार के अन्य राष्ट्र दोनो मे से किसी-न-किसी एक को पसन्द कर लेते, परन्तु उनका मार्ग शान्ति का

मार्ग नही है और हरेक मानता है कि वह दूसरे के विरुद्ध धर्म-युद्ध कर रहा है। सयुक्त राष्ट्र अमरीका जी-जान से इस प्रयत्न मे लगा है कि वह साम्यवाद के वढते हुए कदमो को किसी तरह रोके। इसके लिए वह सोचता है और इस भोली आशा मे है कि उसकी शस्त्र-तैयारी को देखकर दुश्मन दव जायगा और उससे ससार मे शान्ति का वातावरण वनेगा। परन्तु कही हिसा से अहिसा, शान्ति और सद्भाव पैदा हो सकता है? यह कल्पना ही अजीव और आत्मघातक है। महात्मा गाधी हमसे सदा कहा करते थे कि गलत तरीको से कभी सही उद्देश्य नही प्राप्त हो सकते। हाइड्रोजन वम की मदद से आप किसीको अपनी आर्थिक नीति का कायल कभी नही कर सकते और उसका जिस नीति मे पक्का विश्वास है, उसे वह कभी इस प्रकार छोडने पर मजवूर नही किया जा सकता। इस प्रकार ताकत के वल पर वैचारिक सघर्षो पर विजय नही पाई जा सकती। यह तो तभी होगा जव दोनो पक्ष शान्ति के साथ वैठेगे और सच्चे दिल से एक-दूसरे को समझने की कोशिश करेगे। यदि अमरीका का यह प्रामाणिक विश्वास है कि खानगी व्यापार और पूजीवादी योजना से ही मानव-जाति का कल्याण होगा तो वह दूसरे प्रकार के विचारवालो के गले यह वात उतार दे। इसी प्रकार यदि रूस मानता है कि साम्यवादी अर्थ-रचना से ही मनुष्य-जाति सुखी और समृद्ध हो सकती है तो वह भी प्रत्यक्ष नतीजे वताकर खुले दिल से चर्चा करके खुली और साफ-साफ नीति के पालन द्वारा अपनी वात को सिद्ध करके दिखा दे।

जहातक भारत का सम्वन्ध है, उसने सदा अपने दिल को खुला रक्खा है। जहा भी उसे कोई अच्छी वात दीखी है, उसे ग्रहण करने का उसने यत्न किया है। जैसा कि एक वार गाधीजी ने कहा था, भारत ने अपने मकान की खिडकिया चारो तरफ से वाहर की हवा के आने के लिए खुली रखी है। परन्तु वह नही चाहता कि किसी आधी मे उसकी आखे आधी हो जाय और वह तिनके की तरह इधर-उधर उडता फिरे। गाधीजी चाहते थे कि भारत फिर सहकारिता पर आधारित स्वाश्रयी तथा स्वशासित छोटी-छोटी ग्रामीण इकाइयो अर्थात् पचायतो पर अपने स्वराज की नीव खडी

करे। इस प्रकार वे भारत को पूजीवाद और साम्यवाद के भी दोषो से वचाना चाहते थे। विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था मे व्यक्ति और समूह दोनो अपनी स्वतन्त्र बुद्धि और शक्ति की रक्षा और विकास कर सकते है। उसमे शोषण की अधिक गुजाइश नही रहती। स्वतन्त्र व्यापार और रूस के सैनिक पद्धति के नियन्त्रण मे जो भी गुण-दोष है उनका इसमे उचित समन्वय हो जाता है। इसकी जड़ मे दो सिद्धान्त है—अहिसा और मनुष्य की आत्मा के प्रति आदर। गाधीजी मनुष्य को यन्त्र से वहुत ऊचा मानते थे। क्या पूजीवादी और क्या साम्यवादी दोनो विचार-प्रणालिया एक प्रकार से अधूरी, कच्ची और अशुद्ध है। अत राष्ट्र के और ससार के हित मे भारत को इनसे दूर ही रहना चाहिए। भारत मे तो पूजीवादी या साम्यवादी अर्थ-रचना के स्थान पर हम भारत की प्रकृति और सस्कृति के अनुरूप एक सतुलित व्यवस्था कायम करना चाहते है। उसमे बहुजन सुखाय का नही, सर्वजन सुखाय 'सर्वोदय' का मार्ग हम ग्रहण करना चाहेगे। दूसरे के परिश्रम का अनुचित लाभ उठाने की अपेक्षा हम चाहेगे कि हर मनुष्य अपने पसीने की कमाई खाय।

इसलिए शस्त्रो की इस होड के दूरगामी परिणामो को समझने के लिए यह जरूरी है कि हम उसके अर्थशास्त्र को समझ ले। इस आधुनिक शीत-युद्ध का एकमात्र और कारगर जवाव गाधीजी के सिद्धान्त अर्थात् अहिसा, विकेन्द्रीकरण, सर्वोदय और आत्म-वल है। इन वमों की जडे वड़ी गहरी है। आर्थिक और वैचारिक सघर्षो को जवतक हम नही हटावेगे तवतक इन-से छुटकारा पाना असम्भव है। हमारा यह भी निश्चय हो चुका है कि विज्ञान के इस युग मे एकमात्र व्यावहारिक मार्ग अहिसा का ही रह गया है, क्योकि हिंसा के साथ यदि विज्ञान भी हो जायगा तो उसका अर्थ होगा मानवता का सम्पूर्ण विनाश। विज्ञान के साथ यदि अहिसा होगी तो ससार को सुख मिल सकता है और हम अच्छे दिनो की आशा कर सकते हैं। हाइड्रोजन बम नि सन्देह तमाम शान्ति-भक्तो के लिए एक चुनौती है। वह मानवता के प्रति पाप है। ईश्वर को मानने से इन्कार—नास्तिकता—है।

४०

खानगी क्षेत्र

"सार्वजनिक और खानगी इन दोनो क्षेत्रो मे ऐसा कोई अन्तर नही है। वास्तव मे दोनो का अर्थ है 'जनता का क्षेत्र' अर्थात् जनता और देश के कल्याण का क्षेत्र। यह ससार वडा परिवर्तनशील है। अन्य चीजो के साथ कल्पनाओ और विचारो मे भी वडा क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाता है। आज केवल पूजी से काम नही वन सकता। उसके लिए बुद्धि और श्रम की भी जरूरत होती है, तव जाकर उत्पादन वढता है। वर्ग-सघर्ष तथा वर्गगत स्वार्थो की भाषा मे सोचना हानिकर है। समाज के कल्याण के लिए सबको परिश्रम करना होगा।" —जवाहरलाल नेहरू

इन दिनो सार्वजनिक और खानगी क्षेत्रो के उद्योगो के वारे मे वडी चर्चाए होती रहती है, परन्तु यह विवाद न केवल अनावश्यक है, अपितु हानिकर भी है। वह नाहक लोगो का ध्यान दूसरी तरफ बटा देता है और समाज मे कडवाहट पैदा कर देता है, जिसमे किसीका लाभ नही है। दूसरी पचवर्षीय योजना मे साफ तौर पर कह दिया गया है कि सार्वजनिक क्षेत्र के विकास-कार्यो को खानगी क्षेत्र के विकास-कार्यो के साथ-साथ ही देखा जाना चाहिए। दोनो को मिलकर काम करना है, क्योकि वे एक ही यन्त्र के दो अग है। पूरी योजना तभी सफल होगी जब दोनो अग साथ-साथ काम करेगे और दोनो का सतुलन कायम रहेगा। खानगी क्षेत्रो के कार्यो को प्रभावित, सचालित और नियन्त्रित करने की सारी शक्ति राज्य के पास है। इसलिए यह जरूरी नही कि वह खानगी क्षेत्र के उद्योगो का राष्ट्रीयकरण कर ले या उन्हे अपने हाथो मे ले ले। फिर आज हमारे आर्थिक साधन भी सीमित है। उनको नये-नये और खास तौर पर बुनियादी उद्योगो के खडे करने मे लगाना कही अधिक लाभदायक हो सकता है। खानगी व्यक्तियो द्वारा चलाये जानेवाले पुराने निकम्मे कारखानो को खरीदने मे उन्हे खर्च करना बुद्धिमानी की वात नही होगी। योजना मे साफ कह दिया गया है कि यदि कोई असाधारण स्थिति उत्पन्न हो गई तो शासन जब चाहे

राष्ट्र की सुरक्षा के लिए उपयोगी किसी भी उद्योग को अपने अधिकार मे ले सकता है, परन्तु जो उद्योग बुनियादी या बहुत महत्व के नही है, उनको अपने हाथ मे लेना अनावश्यक है।

खानगी क्षेत्र के उद्योगो का एक बहुत बडा भाग तो छोटे-छोटे उत्पादको और कारीगरो का है जो सारे देश मे फैले हुए है। इन कारीगरो की स्वतन्त्रता और सूझ-बूझ पर कोई अकुश या शासकीय नियन्त्रण लगाना अच्छा नही होगा। सबसे अच्छी नीति तो यह होगी कि उन्हे अपनी-अपनी सहकारी औद्योगिक समितिया बनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। केंद्रीय सरकार और राज्य सरकारे भी इसी नीति से काम ले रही है। इस सहकारी क्षेत्र का देश मे जितना भी विकास किया जा सके, करने की जरूरत है। इसमे खानगी और सार्वजनिक क्षेत्र दोनो के गुण है और समाजवादी स्वरूप की समाज-रचना की तरफ जल्दी बढने मे यह बहुत मदद भी कर सकता है। इस पद्धति मे कारीगर स्वय उत्पादन के साधनो के मालिक वन जाते है। मालिक और मजदूरो के बीच सघर्ष की सारी समस्या अदृश्य हो जाती है और सहकारिता की इस पद्धति का विस्तार मध्यम वर्ग के और बडे-वडे उद्योगो मे भी क्यो न किया जाय ? हमे तो इसमे कोई आपत्ति नही दिखाई देती। बम्बई राज्य के चीनी के कारखानो मे यह प्रयोग शुरू किया गया है और वहा वह अच्छी तरह चल रहा है। पश्चिम के देशो मे और खास करके ग्रेट ब्रिटेन मे कई बडे-वडे कारखानो को इसी पद्धति से चलाया जा रहा है। भारत जैसे शासन को अपने उद्योगो मे इस पद्धति को दाखिल करना चाहिए, क्योकि हम यहा लोकतन्त्र की पद्धति से समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहते है।

हमारा अन्तिम उद्देश्य सुनियोजित समाज और लोक-कल्याण है। इस पर सरकारी और खानगी दोनो क्षेत्रो मे काम करनेवालो को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। खानगी क्षेत्रो मे काम करनेवाले उद्योगपति शासन से लगातार अधिकाधिक सहूलियतो की माग करते रहते है, ताकि उनको अधिक मुनाफा मिले। दुर्भाग्य से उनकी उचित मुनाफे की परिभाषा दूसरे देशो के उद्योगपतियो की अपेक्षा विल्कुल भिन्न है। आजकल का कोई भी राज्य उपभोक्ताओ को नुकसान पहुंचाकर उद्योग-

पतियो को एक सीमा से अधिक मुनाफा नही लेने दे सकता। इसलिए अच्छा हो कि अब भारत के उद्योगपति सुनियोजित समाज-रचना मे अपने मुनाफो की सीमा बाध ले। साथ ही वे यह भी विश्वास रक्खे कि सरकार आर्थिक विकास का प्रयत्न कर रही है, अत उसकी जरा भी यह इच्छा नही कि वह खानगी क्षेत्रो को समाप्त कर दे, उन्हे निकम्मा बना दे। हमारी समझ मे नही आता कि शासन की आर्थिक नीति के बारे मे कुछ उद्योगपति इतने भयभीत क्यो है, जबकि अनेक बार यह साफ कर दिया गया है कि शासन ने राष्ट्रीय सयोजन मे खानगी क्षेत्र को एक निश्चित स्थान प्रदान कर दिया है। हा, इसका अर्थ यह जरूर है कि खानगी क्षेत्र राष्ट्र के हितको ध्यान मे रखकर ही काम करेगा और राष्ट्र के हित मे अपना हित समझेगा।

लोक-कल्याण की दृष्टि से देखे तो सार्वजनिक अर्थात् सरकारी क्षेत्र मे भी बहुत सुधार की जरूरत है। छागला जाच-कमीशन ने अपने प्रतिवेदन मे सार्वजनिक क्षेत्र के सगठन के बारे मे कई महत्वपूर्ण बाते कही थी। उनपर गम्भीरतापूर्वक विचार होना चाहिए। पहले यह माना जाता था कि भारत के उच्च सरकारी अधिकारियो मे ऐसी कोई आश्चर्यजनक योग्यता है कि वे हर प्रकार का काम सफलता के साथ कर सकते है। अब ऐसी मान्यता रखना भूल है। अब तो प्रत्येक विशेष सेवा के कार्य के लिए योग्य आदमियो का चुनाव करके उन्हे आवश्यक प्रशिक्षण देना चाहिए। इसमे जरा भी ढील-ढाल या मुरव्वत न हो। प्रसन्नता की बात है कि शासन ने अर्थ-विभाग मे काम करने के लिए सेवको का एक नवीन वर्ग खोलने और उन्हे आवश्यक प्रशिक्षण देकर फिर शासकीय उद्योग कारखानो मे काम करने के लिए भेजने का निश्चय किया है। यह बहुत पहले हो जाना चाहिए था। परन्तु खैर, अब सही। अब यह ध्यान मे रहे कि इन प्रशिक्षित आदमियो को एक उद्योग से दूसरे उद्योग मे जल्दी-जल्दी न बदला जाय। आदमियो को इस प्रकार बार-बार बदलने से उनमे जिम्मेदारी की भावना का विकास नही हो पाता और वे मन लगाकर काम नही कर पाते, जिससे कि उद्योग सफल हो।

प्रधान मन्त्री ने सार्वजनिक (सरकारी) क्षेत्र और खानगी क्षेत्र

के अन्तर को भुलाकर सबको जनता का क्षेत्र अर्थात् जनता और देश के कल्याण को सदा याद रखने की वात कही है। तो हमे देखना चाहिए कि इसका सही अर्थ क्या है? देश का अर्थात् देश के करोडो निवासियो के कल्याण का सबसे पहला अर्थ नि सन्देह यह है कि उनका रहन-सहन अच्छा हो जाय। लोगो की आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयत्न करते हुए हमे यह नही भूलना चाहिए कि ससार मे खाना-पीना अर्थात् पेट के गढे का भर लेना ही सवकुछ नही है। मनुष्य को खाना मिल गया, मकान मिल गया, कपडे हो गये, और कुछ अन्य सुविधाए और मान लीजिये कि विलास की चीजे भी मिल गई तो केवल इनसे समाज मे उसका जीवन ऊचा नही हो सकता। राष्ट्र के लिए सयोजन करते हुए उसके निवासियो का जीवन नैतिक और सास्कृतिक दृष्टि से भी ऊचा उठे, इस वात का भी सयोजको को ध्यान रखना चाहिए। स्वयं प्रधान मन्त्री ने कई वार कहा है कि राष्ट्र की महानता ऊचे-ऊचे महलो, विशाल कारखानो और शक्तिशाली सेनाओ मे नही, वल्कि उसके नागरिको—स्त्रियो और पुरुषो—की सस्कारिता मे है।

जनता के कल्याण का दूसरा अर्थ है उनको पूरा-पूरा काम मिलना। हर नागरिक का हक है कि उसे खरे पसीने की रोजी मिले। उद्योगो का क्षेत्र सरकारी हो या खानगी, देश के हर नागरिक को पूरा काम मिलना ही चाहिए। यह सबसे महत्वपूर्ण वात है। परन्तु चूकि उद्योगो के सरकारी क्षेत्र मे केवल वडे-वडे और महत्वपूर्ण उद्योग ही होगे, उसमे अधिक लोगो को काम मिलने की गुजाइश नही है। इस विषय मे मुख्य भार खानगी क्षेत्र पर ही आवेगा। यान्त्रिक सुधारो के महत्व से कोई इन्कार नही कर सकता, परन्तु भारत अथवा कोई भी देश सयोजन मे अपने नागरिको को रोजी देने के प्रश्न की अवगणना नही कर सकता, क्योकि आखिर सयोजन का मूल उद्देश्य जनता की सेवा और भलाई ही तो है। अत उसे सयोजन मे गौण नही माना जा सकता।

४१

शासन का विकेन्द्रीकरण

स्थानीय स्वायत्त-शासन-सस्थाओ की केन्द्रीय परिपद की श्रीनगर-वाली बैठक के सुझाव के अनुसार दूसरी पचवर्षीय योजना मे सामुदायिक विकास-योजनाओ के कार्यक्रम को पूरा करने की जिम्मेदारी ग्राम-पचायतो पर डाल दी गई है। इससे शासन का और खास तौर पर उसके विकास-कार्यक्रम का व्यापक विकेन्द्रीकरण हो जाता है। ग्राम-पचायतो को अधिकाधिक अधिकार देकर शासन-यन्त्र को विकेन्द्रित करना तो सविधान के मार्ग-दर्शक सिद्धान्तो के अनुकूल ही है। उसमे यही चाहा गया है कि शासन की बुनियादी इकाई ग्राम-पचायत ही हो। सामुदायिक विकास-योजना मन्त्रालय भी इसी बात पर जोर देता रहा है। वह भी चाहता है कि आज सरकार जो कार्यक्रम बनाती है और जनता उसमे सहयोग देती है, उसके बदले अब जनता स्वय कार्यक्रम बनाये और शासन उसमे सहयोग दे।

स्वायत्त-शासन-सस्थाओ की कार्य-विधि मे भी इस प्रकार का परिवर्तन हो जाना चाहिए।

सारे ससार के प्रगतिशील विचारक अब यही मानने लग गये है कि प्रजातन्त्र तभी सफल होगा जब उसका बहुत बडे पैमाने पर विकेद्रीकरण होगा। लोकतन्त्र मे सत्ता के अत्यधिक केन्द्रीकरण से नौकरशाही की ताकत बढ जाती है और वह अन्त मे राजनैतिक डिक्टेटरशाही ले आती है। लोक-नन्त्र की आत्मा तो है मनुष्य के व्यक्तित्व का आदर। इसलिए लोकतन्त्र का काम है स्थानीय नेतृत्व निर्माण करके जनता का आत्म-विश्वास जागृत करना। ग्राम-पंचायतो, नगरपालिकाओ और अन्य स्थानीय स्वायत्त-सस्थाओ को अधिकाधिक जिम्मेदारिया सौपी जाय और वे अपने काम खुद करने लग जाय तभी यह हो सकेगा। इसका मतलब यह हरगिज नही कि ग्राम-पचायते और अन्य स्वायत्त-सस्थाए कटकर अलग हो जायगी और इनका आपस मे किसीसे कोई सम्बन्ध नही होगा। इन सस्थाओ को अपने-अपने क्षेत्र मे शिक्षा, अर्थ और सस्कृति आदि सम्बन्धी कार्य करने की जरूर

आजादी हो, परन्तु साथ ही यह भी प्रबन्ध हो कि तहसील और जिले के स्तर पर भिन्न-भिन्न पचायतो के काम का सहयोग और समन्वय होता रहे। विकास-योजनाओ और उनके कार्यक्रमो को अमल करने की जिम्मेदारी यदि स्थानीय नेताओ पर छोड दी जाय तो इससे अवश्य ही काम अधिक और अच्छा भी होगा। नि सन्देह ग्राम-पचायतो के काम मे अव्यवस्था और कुछ भ्रष्टाचार भी पाया जा सकता है। परन्तु यह बुराई स्थानीय होगी और इसे ठीक करने की जिम्मेदारी स्थानीय नेताओ पर ही होगी, जो जनता के प्रति उत्तरदायी होगे।

फिर भी एक बात है, जिसपर गौर करना जरूरी है। ग्राम-पचायतो को आर्थिक और राजनैतिक सत्ता अधिक व्यापक रूप मे सौपने मे पहले स्वयं ग्रामीण समाज के अन्दर आज जो आर्थिक और सामाजिक विषमताएं है, उनको ठीक करना होगा। आज भी उनमे जात-पात का भेद और आर्थिक असमानता बहुत है। जमीन-सम्बन्धी सुधारो मे भी हम बडे ढीले रहे है। आज भी गाव की बहुत सारी जमीन थोडे-से लोगो के हाथो मे पडी है। जमीन का बटवारा अधिक न्यायपूर्वक होना जरूरी है, परन्तु अनेक राज्यो मे जमीन की अधिकतम सीमा अभीतक निश्चित नही हो पाई है। जात-पात और सम्प्रदाय आज भी स्वस्थ लोकतन्त्र के मार्ग मे खतरे के रूप मे खडे ही है। ऐसी हालत मे आर्थिक और राजनैतिक सत्ता पचायतो के हाथो मे सौंपते समय योजनापूर्वक और कुछ सावधानी से ही काम लेना होगा। हर क्षेत्र मे आर्थिक और सामाजिक न्याय की स्थिति क्या है, यह देखकर वहा की पचायतो को अधिक या कम सत्ता सौंपी जाय। उदाहरणार्थ एक ग्रामदानी गाव मे सारे लोग अपनी जमीन का स्वामित्व खुद ही ग्राम-सभा को दे देते है। ऐसे गावो को आर्थिक प्रयोजन मे अवश्य अधिक सत्ता दे दी जाय, क्योकि वहा सामाजिक या आर्थिक शोषण के लिए बहुत कम गुंजाइश रह जायगी। परन्तु जिन गावो मे जमीदारी अधिकार नही मिटाये गये है और खातो के आकार मे बहुत असमानताएं है वहा ग्राम-पचायतो को अधिक आर्थिक या राजनैतिक सत्ता सौंपना खतरनाक होगा। जैसा कि आचार्य विनोबा कहा करते है—'जहा सामाजिक और आर्थिक न्याय नही है, ऐसे गावो मे पचायते निरंकुश [illegible] शोषण का [illegible]

साधन बन जायगी। इसलिए पचायतो के दो या तीन वर्ग कर दिये जाय और जहा जैसी स्थिति हो, उसके अनुसार उनके अधिकार और कर्तव्य भी निश्चित कर दिये जाय। इनमे ग्रामदानी गावो की पचायते निश्चय ही प्रथम श्रेणी मे आयगी। दूसरी श्रेणी मे उन गावो की पचायते होगी, जहा का आर्थिक और सामाजिक वातावरण काफी स्वस्थ और न्याययुक्त होगा और जहा के चुनाव सर्व-सम्मत या लगभग सर्व-सम्मत होगे। किन्तु जिन गावो मे राग-द्वेष भरा पडा है, आएदिन लडाई-झगडे होते रहते है, जहा आर्थिक और सामाजिक न्याय की परवा ही नही है, उनकी पचायते तीसरी श्रेणी मे जायगी। पहली श्रेणी की पचायतो को उनके क्षेत्र की जमीन के लगान का पचास प्रतिशत भी लौटाया जा सकता है। लगान की उगाही पर उन्हे खासा मिहनताना भी दिया जा सकता है। अपने क्षेत्र की आर्थिक विकास-सम्बन्धी योजनाए बनाने और उनको कार्यान्वित करने का काम भी उन्हीको सौपा जा सकता है। इसी प्रकार दूसरी और तीसरी श्रेणी की पचायतो को भी उनकी शक्ति और योग्यता के अनुसार काम सौपा जा सकता है। इस तरह पचायतो का वर्गीकरण करके तदनुसार उन्हे सत्ता और अधिकार दे देने से काफी विकेन्द्रीकरण हो जायगा और वह व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक भी होगा। इससे पचायतो के अन्दर अपने-अपने क्षेत्र की आर्थिक और सामाजिक स्थिति सुधारने के बारे मे स्वस्थ होड भी होने लगेगी। आज की शासन-पद्धति मे क्षेत्रगत अहकार और अनिष्ट स्पर्धा पैदा होती है। नई विकेन्द्रित पद्धति मे शुद्ध सामाजिक और सहकारी जीवन का विकास होगा।

गाधीजी हमसे हमेशा कहा करते कि लोकतन्त्र का विकास अहिसा और सहकारिता के वातावरण मे ही हो सकता है। भारतीय सविधान भी लोक-तन्त्र और शान्तिपूर्ण मार्ग पर चलने के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध है और सच्ची अहिसा का निवास विकेद्रित आर्थिक तथा राजनैतिक सगठन मे ही रह सकता है। इसीलिए गाधीजी ग्राम-पचायतो और सहकारी सस्थाओ के सगठन पर इतना जोर देते थे। यदि हम भारत को अत्यधिक केन्द्रित सत्तावाला लोकतन्त्र अथवा एकाधिकार-वाला (टोटेलिटेरियन) राज्य नही, बल्कि अहिसा पर आधारित एक राज्य बनाना चाहते है तो हमे बहुत योजना

और व्यवस्था के साथ राजनैतिक और आर्थिक सत्ता को विकेन्द्रित करना होगा।

: ४२ :

साम्प्रदायिक विकास और जनता

सामुदायिक विकास-योजनाओ पर विचार करने के लिए एक परिषद आवू मे हुई थी। उसके लिए भेजे गये अपने सन्देश मे प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने लिखा था—"सामुदायिक विकास की यह हलचल अव तेजी से लोगो के हाथो मे चली जानी चाहिए। सरकारी मदद और सहयोग भी आवश्यक है। वह मिलता रहेगा, परन्तु अव इसे उत्तरोत्तर जनता की प्रवृत्ति वन जाना चाहिए। इसको सरकार द्वारा ऊपर से नही चलाया जाना चाहिए।" प्रधानमन्त्री ने यह भी कहा कि हमारे राजनैतिक, आर्थिक और सास्कृतिक विकास का आधार प्रत्येक गाव मे पाठशाला, पचायत और सहकारी समिति हो। स्वावलम्वी सहकार की मदद से ही हम आगे वढ सकेंगे। मेरा ख्याल है, नवीन भारत के निर्माण मे शासन को अभी वहुत अधिक काम करना है, परन्तु मुझे विश्वास है, इसमे असली उत्साह-शक्ति सरकार की नही, जनता की अपनी ही होगा।

योजना-आयोग के तत्कालीन उपसभापति श्री वी० टी० कृष्णमाचारी ने भी इस वात पर जोर दिया कि सामुदायिक विकास की सारी योजनाओ मे गाव की सभी सस्थाओ को भाग लेना चाहिए। अपने प्रारम्भिक भाषण मे उन्होने ग्राम-पचायतो और सहकारी समितियो के द्वारा सिचाई के वर्तमान साधनो का पूरा-पूरा उपयोग किस प्रकार किया जाय, इसपर विस्तार से चर्चा की। उन्होने वताया कि दूसरी पचवर्षीय योजना मे सिचाई की केवल वडी योजनाओ मे किसानो को अपने खेतो मे से १,६०००० मील की नहरें खोदनी होगी। फिर इन नहरों को हर वर्ष अच्छी हालत मे रखने के लिए और उनके अन्दर से कहीं पानी वेकार न वह जाय, इसके लिए समय-समय पर उनकी मरम्मत भी करते रहना पडेगा। फिर अन्न की पैदावार वढाने के लिए अच्छे वीज लाने होगे तथा कम्पोस्ट और हरी खाद वनानी होगी। यह सारा कार्यक्रम पचायतो और सहकारी समितियो की मदद से

ही हो सकता है। श्री कृष्णमाचारी ने कहा कि इसलिए आनेवाले दो-तीन वर्षो मे सबसे पहले गावो मे यही काम—इन सस्थाओ की स्थापना का—करना होगा। अन्त मे उन्होने कहा कि इस काम की सफलता का हिसाब मानव-मूल्यो पर से लगाया जायगा, इस प्रकार कि स्त्री-पुरुष अपने कर्तव्यो और जिम्मेदारियो को कितना समझने और उन्हे पूरा करने लगे है, क्योकि व्यक्तिश और सामूहिक रूप से भी इसी प्रकार तो मनुष्य का और समाज का भी पूरा-पूरा विकास हो सकेगा और इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्र मे सामाजिक और नैतिक एकता की भावना भी पैदा हो सकेगी, जोकि राष्ट्रीय एकता का एकमात्र आधार है।

आबू की परिषद मे श्री बलवतराय मेहता कमेटी की लोकतन्त्र के विकेन्द्रीकरण-सम्बन्धी सिफारिशो पर बडे विस्तार से विचार किया गया और उसने महसूस किया कि सारे राज्यो की सरकारो को उनपर जल्दी-से-जल्दी अमल करना चाहिए। देश के सारे गावो मे पचायतो की स्थापना जल्दी-से-जल्दी हो जानी चाहिए। परिषद ने यह भी महसूस किया कि सामुदायिक विकास योजनाओ का कार्यक्रम तबतक पूरा नही हो सकेगा जबतक इस काम के लिए स्थानीय नेता खडे नही होगे और यह तभी सम्भव होगा जब ग्राम-पचायतो को काफी अधिकार दे दिये जायगे। सबकी राय यह रही कि जबतक यह सब नही हो जाता तबतक विकास-खण्डो की सलाहकार-समिति का सभापति गैर-सरकारी व्यक्ति रहे।

परिषद ने इस बात पर भी जोर दिया कि सामुदायिक विकास-योजना और ग्रामदान-आन्दोलन के कार्यो का समन्वित किया जाना बहुत आवश्यक है। यह स्वीकार किया गया कि ग्रामदान द्वारा सामाजिक जीवन की वृत्ति बढाने मे बडी मदद मिलेगी, क्योकि सहकारिता और एक-दूसरे की मदद तो उसमे है ही। सरकार स्वय भी ग्रामदान या भूमिदान मे जमीने दे सकती है, परन्तु सरकारी कागजातो से दान-पत्रो की जाच मे, जमीनो की सीमाए लगाने मे, चकबन्दी करने और जमीनो के बाटने मे राज्य के सम्बन्धित अधिकारी अवश्य मदद कर सकते है। यह भी निश्चय किया गया कि सामुदायिक विकास-खण्डो के काम के प्रशिक्षण मे ग्रामदान-आन्दोलन के अध्ययन को भी शामिल कर लिया जाय और ग्रामदानी गावो के कार्य के

लिए खास आदमी को तैयार करने का यत्न किया जाय। ग्रामदान-आन्दोलन भी अपनी तरफ से इन गावो मे सामुदायिक विकास-योजना के विविध कार्यो को अपने ग्राम-राज्य-कार्यक्रम मे शामिल कर लेगा।

शुरूमे सामुदायिक विकास के काम का प्रारम्भ तो सरकार ने किया और उसमे जनता का सहयोग मागा, अर्थात् कार्य-क्रम सरकार का और जनता का सहयोग, ऐसी बात थी। अब ऐसा समय आ गया है कि यह कार्य-क्रम जनताका हो जाय और सरकार उसमे मदद कर दिया करे। लोग जब स्वय अपनी मदद करने लग जायगे तब सरकार भी उन्हे जरूर मदद देगी। यदि यह आन्दोलन वास्तव मे जनता के हाथो मे नही चला जाता है और निरा एक सरकारी कार्यक्रम ही रह जाता है तो निश्चय ही इससे भारत के लोकतत्र को खतरा हो सकता है। इससे नौकरशाही बलवान बन जायगी और लोग लाचार बनकर उसके पहिए के साथ बधकर उसके पीछे-पीछे घिसटते जायगे। समस्त ससार मे पहला देश भारत है, जिसने लोकतत्र के अन्दर यह सयोजन का प्रयोग पहले-पहल सच्चे दिल से अपने हाथो मे लिया है। यह प्रयोग तभी सफल होगा जब शहरो और गावो की स्वायत्त शासन-संस्था मे सामुदायिक विकास के कार्यक्रम को अपने-अपने क्षेत्र मे उठा लेगी। लोकतत्र के विकेन्द्रीकरण का वह कार्य नियमोपनियम अथवा कानून बना देने से भी नही बनेगा। यह तभी सफल होगा, जब स्वय राज्य-सरकारे और राज्य के अधिकारी भी लोकतत्र के तरीको से समाज के विकास के इस महान कार्य को सही वृत्ति से हाथ मे लेगे और उसे लगातार आगे बढावेगे। नि सन्देह इस विकेन्द्रीकरण मे देरी लगेगी। लोगो के हाथो मे सत्ता क्रमश और एक खास विधि से ही दी जा सकेगी, परन्तु जिस दिशा मे हमे जाना है, उसके विषय मे रत्ती भर भी भ्रम या सन्देह न रहे।

गाधीजी बार-बार यही कहते थे कि जब ग्राम-पचायते पुन प्राणवान बन जायगी और जनता की सामाजिक, आर्थिक और नैतिक भलाई के काम करने लगेगी तब सच्चा स्वराज आयगा। स्वयं भारतीय सविधान के मार्ग-दर्शक सिद्धान्तो मे लिखा है कि स्वराज्य की बुनियादी इकाई ग्राम-पचायते ही होगी। अत राज्य-सरकारो का कर्तव्य है कि इसका परिपालन वे सच्चे

दिल से और जल्दी-से-जल्दी करे, क्योकि जितनी मात्रा मे देश मे लोकतत्र होगा उतनी ही मात्रा मे सामुदायिक विकास मे हम आगे वढेगे।

यह भी प्रसन्नता की वात है कि इस परिषद मे ग्रामीण समाज के गरीव अगो अर्थात् वेजमीन मजदूरो, छोटे किसानो, हरिजनो और आदिवासियो की जरूरतो की तरफ भी खास तौर पर ध्यान दिया गया। इस वात पर खास जोर दिया गया कि कर्ज-सम्वन्धी सुविधाए देते समय इनकी जरूरतो का अवश्य ध्यान रक्खा जाय। सहकारी सस्थाओ के कार्यकर्ज देने के लिए योग्य व्यक्तियो की अपेक्षा कर्ज की किन कार्यो के लिए आवश्यकता है, इसका ध्यान रखना चाहिए। गाधीजी हमेशा कहा करते कि जो मनुष्य सवसे नीचे-वाली सीढी पर खडा है, उसकी जरूरत की पूर्ति पहले करो। किन्तु दु ख की वात है कि सामुदायिक योजना मे अवतक तो ऐसा नही हुआ है। हम आशा करते है कि ऐसी शिकायत अव नही होगी।

परिषद् को भेजे अपने सन्देश के अत मे प्रधान मन्त्री ने खास तौर पर इस वात का उल्लेख किया कि सामुदायिक विकास-योजना मे वहनो का हिस्सा क्या हो। उन्होने कहा—लोगो को जगाने के मानी है वहनो को जगाना। वह जाग जाती है तो सारा घर, गाव और देश भी जग जाता है और काम मे लग जाता है।

यही नही, वल्कि बहनो के जाग जाने पर वच्चो के रूप मे देश का भविष्य भी जाग पडता है। वच्चो को अच्छे सस्कार मिलते है, उनकी आदते सुध-रती है, वे उद्योगशील बनते है और इस प्रकार भावी भारत का निर्माण शुरू हो जाता है।

सामुदायिक विकास-योजना और राष्ट्रीय विकास-खण्डो के तमाम कार्यक्रमो मे प्रधान-मन्त्री के ये शब्द याद रहे। स्त्रिया आधा भारत है। शहरो मे और गावो मे वे परिवार का केन्द्र होती है। प्रत्येक परिवार मे जव मा किसी दीपक को जलाती है तो उसकी लौ पीढियो तक जलती रहती और प्रकाश देती रहती है। इसलिए देश की प्रगति और समृद्धि मे स्त्रियो का स्थान कितना महत्वपूर्ण है, इसे हमे कभी नही भूलना चाहिए।

खण्ड ५

भारतीय संयोजन की आधारभूत दृष्टि

: १ :

संयोजन और लोकतंत्र

अक्सर पूछा जाता है कि क्या लोकतत्र मे भी सयोजन किया जा सकता है या उचित है?

यह प्रश्न इसलिए पैदा होता है कि आर्थिक सयोजन व्यापक रूप से पहले-पहल सोवियत रूस मे एकाधिकार (टोटेलिटेरियन) की स्थिति मे किया गया और चूकि रूस मे आर्थिक और राजनैतिक सत्ता का बहुत अधिक केन्द्रीकरण है, लोगो का यह ख्याल बन गया कि सयोजन वही सफल हो सकता है, जहा केन्द्रीय सरकार के हाथों नियमन, नियन्त्रण और समाज से फौजी अनुशासन से भी काम लेने की सत्ता होती है और तमाम साम्यवादी देशो मे आर्थिक सयोजन इसी प्रकार व्यवस्थापूर्वक किया जा रहा है। परन्तु भारत ही एक ऐसा देश है, जहा लोकतत्र के अदर संयोजन का प्रयोग हो रहा है। सयुक्त राज्य अमरीका मे उस महान मदी के बाद राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 'न्यू डील' के रूप मे राष्ट्रीय जीवन के कुछ क्षेत्रो मे सयोजन का प्रयोग करने का यत्न किया था। इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन मे भी कुछ क्षेत्रो मे, लोकसेवा की कुछ सस्थाओ मे और व्यापारी निगमो (कॉर-पोरेशन्स) मे लोगो को काम देकर सुरक्षा की स्थिति पैदा करने के हेतु से सयोजन का प्रयोग किया गया था, परन्तु पश्चिम के प्रसिद्ध लोकतत्री राज्यो मे से एक ने भी अभी तक अपने सारे राज्य के लिए और जीवन के सभी क्षेत्रो के लिए सयोजन का प्रयत्न तक नही किया है। इस दृष्टि से भारत के सयोजन का यह प्रयोग न केवल एशिया के लिए, बल्कि सारे

ससार के लिए अत्यत महत्वपूर्ण है। इसलिए यदि वह प्रयोग सफल रहा, और हमे निश्चय है कि यह सफल होगा, तो हमारा यह अनुभव अनेक देशो के लिए और कम विकसित देशो के लिए खास तौर पर वडा मार्गदर्शक होगा।

सयोजन का मुख्य उद्देश्य और सार यह है कि देश के धन, जन और अन्य साधनो का पूरा-पूरा उपयोग कर लिया जाय, जिससे इनमे से कोई चीज जरा भी बेकार न जाने पाये। स्वतत्र व्यापार और प्रतिस्पर्धा की पद्धति मे एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के अज्ञान, गरीबी और अन्य असुविधा का अनुचित लाभ उठाकर उसका शोषण करना चाहता है, जिसके कारण मनुष्य की शक्ति और साधनो का भी बहुत अपव्यय होता है। कहने मात्र को वह खुला बाजार और स्वतत्र व्यापार कहा जाता है, लेकिन उसमे बेहद प्रतिस्पर्धा होती है और वह होती है इस सिद्धान्त पर कि जो सबसे अधिक योग्य होगा वह जियेगा। इसलिए अब पूजीवादी देशो मे भी यह स्वीकार किया जाने लगा है कि स्वतत्र व्यापारवाला यह सिद्धान्त पुराना और निकम्मा है। वे मानते है कि उसके स्थान पर अब राज्य का सारे व्यापार-व्यवसायो पर अपना नियन्त्रण रखना चाहिए और सारे काम योजना-पूर्वक किये जाने चाहिए। यदि हम यह मान लेते है कि लोकतत्र मे सयोजन सभव नही है तो उसका अर्थ यह है कि उसके सविधान मे राष्ट्र की सपत्ति के व्यवस्थित उपयोग की गुजाइश ही नही है। यह तो बिल्कुल अटपटी बात है। सच तो यह है सच्चा सयोजन अर्थात् व्यक्ति और समाज के हितो का समन्वय तो लोकतत्र मे ही सभव है। मेरा तो दृढ मत है कि भारत मे लोकतत्री व्यवस्था मे सयोजन का हम जो यह प्रयोग कर रहे है, यह सारे ससार के सामने एक ऐसा आदर्श उपस्थित करेगा, जिसका बहुत-से राष्ट्र अनुकरण करके लाभ उठायेगे। आधुनिक ससार मे सयोजन का अर्थ है जनता का अधिक-से-अधिक और प्रसन्नतापूर्वक दिया हुआ सहयोग और यह तो लोकतत्र मे ही सभव है। एकाधिकारवाले राज्यो मे जिस प्रकार का आर्थिक सयोजन किया जाता है, वह तो वास्तव मे आर्थिक और फौजी बेगार होती है।

परन्तु एक बात साफ तौर पर समझ ली जाय। लोकतन्त्र मे सयोजन का मतलब होता है आर्थिक और राजनैतिक सत्ता का बडे पैमाने पर

विकेन्द्रीकरण और वितरण। इसी प्रकार यदि सयोजन [illegible] न रहे तो लोकतन्त्र मे भी सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीकरण, यहातक कि फौजी कडाई तक आ सकती है। इसलिए यह ठीक ही है कि भारत मे सामुदायिक विकास-योजना, पचायत, सहकारिता तथा विद्यालय जैसी लोकतत्रीय ग्राम-सस्थाओ के ठोस आधार पर बनाई जा रही है। प्रारम्भ मे सामुदायिक विकास-योजनाओ को सरकारी योजनाए बताया गया था और लोगो से कहा गया था कि वे उनमे सहयोग दे। परन्तु अब इतने वर्षो के अनुभव के बाद केन्द्र और राज्यो की सरकारो ने यह निश्चित किया है कि ये योजनाए वास्तव मे जनता की अपनी हो और सरकार का वे सहयोग ले लें। यह केवल शब्दो का अन्तर नही है, इसमे तो सारी दृष्टि और काम करने की पद्धति ही बदल जाती है। लोकतन्त्री सयोजन का सारा उद्देश्य यह है कि स्वय लोगो की शक्ति का विकास हो, उनमे सूझ-बूझ आये और वे अपनी बुद्धि से सारे काम अच्छी तरह करके राष्ट्र की सपत्ति को बढाये। यदि सयोजन मे यह नही होता है तो वह सच्चा लोकतन्त्री सयोजन ही नही है। गाधीजी सदा कहा करते थे कि सही साधनो से ही अच्छे काम हो सकते है। जहा भलाई के लिए भी सत्ता के केन्द्रीकरण और हिसा से काम लिया जाता है, वहा लोकतन्त्र है ही नही। वहा ऐसी आर्थिक और राजनैतिक सत्ता खडी हो जायगी, जो लोकतन्त्र की विरोधी होगी। प्राध्यापक कोल ने लिखा है कि लोकतत्र और केन्द्रीकरण परस्पर विरोधी चीजे है, क्योकि जहा-जहा भी समाज अपनी इच्छा प्रकट करना चाहता है उसे इसका अवसर तत्काल और पूरा-पूरा मिलना ही चाहिए। यदि उसे एक प्रवाह-विशेष मे ही चलने या वहने के लिए मजबूर किया जायगा तो वह अपनी सहज स्फूर्ति और उत्साह खो देगा। पश्चिम के अनेक देशो मे कहने को लोकतन्त्र है, परन्तु सत्ता के अत्यधिक केन्द्रीकरण के कारण वहा उसमे अनेक दोष पैदा हो गये है। इसलिए प्राध्यापक ऐडम्स ने अपनी पुस्तक 'दि मॉडर्न स्टेट' मे आजकल की लोकतन्त्री हुकूमतो का विश्लेषण-परीक्षण करने के बाद अन्त मे लिखा है कि हमे बुराई की जड मे पहुचना चाहिए और साहसपूर्वक सत्ता का विकेन्द्रीकरण और वितरण करना चाहिए। प्राध्यापक लास्की भी यही सलाह देते हुए कहते है कि निरे

आज्ञापालन से सृजन-शक्ति मर जाती है। जहा राज्य मे सत्ता अत्यधिक केन्द्रित होती है, वहा आज्ञापालन मनुष्य को यन्त्र, जड और निष्प्राण वना देता है। इसीलिए अमरीका के प्रसिद्ध समाजशास्त्री लेविस ममफोर्ड ने देहात मे छोटे-छोटे सतुलित समाजो के निर्माण पर जोर दिया है। ये समाज नौकरशाही वृत्ति को पैदा ही नही होने देगे और लोकतन्त्र की स्वस्थ पद्धति की नीव वन जायगे।

यदि हम भारतीय लोकतन्त्र का अध्ययन करते है तो देखते है कि इस देश मे पचायत-प्रथा अज्ञात काल से चली आई है। ठेठ वैदिक काल मे भी शासन की वुनियादी इकाई गाव माना जाता था। उपनिषदो मे, जातको मे और स्मृतियो मे ग्राम-सभाओ का उल्लेख मिलता है। सर चार्ल्स मेट-काफ ने इन पचायतो को छोटे-छोटे गणराज्य कहा है और लिखा है कि वे एकदम स्वतन्त्र थे, किसी वाहरी शक्ति के अधीन नही थे। अग्रेजो के राज्य मे इनपर बडा कठोर प्रहार हुआ, परन्तु अव वे फिर अपने पुराने स्थान को प्राप्त करने जा रही है। भारतीय सविधान मे पचायतो को शासन की बुनियादी इकाई माना गया है। अत इनको जितने स्वतन्त्र और स्वस्थ वातावरण मे अपना विकास करने का अवसर दिया जायगा, हमारा आर्थिक सयोजन उतना ही सफल होगा। पचायतो को और सह-कारी समितियो को सयोजन का आधार बनाने के वदले यदि हम केवल सरकारी नौकरो और अधिकारियो से ही यह काम लेगे तो इनकी एक विशाल फौज खडी हो जायगी, जो बहुत बुरी चीज होगी और काम कुछ नही होगा। नि सन्देह सरकारी नौकर भी एक हद तक तो आवश्यक है ही, परन्तु इनकी सख्या अधिक वढाना और उन्हीके भरोसे रहना लोकतन्त्र का नही, एकाधिकार का मार्ग है।

इसलिए हमे भारत मे स्वतन्त्र व्यापार और फौजी कडाई इन दोनो पद्धतियो से एकदम वचना है। हमे अपने देश का सयोजन इस प्रकार करना है कि जिससे व्यक्ति और समाज दोनो एक-दूसरे के विकास और प्रगति मे सहायक हो। इस व्यवस्था मे दो क्षेत्र होगे एक सरकारी और दूसरा निजी। परन्तु दोनो इस प्रकार सहयोग के साथ काम करेगे कि दोनो मिलकर सही अर्थ मे लोकहित के क्षेत्र वन जायगे। हमने भारतीय

लोकतन्त्र को सोशलिस्ट कोग्रॉपरेटिव कॉमनवेल्थ कहा है। लोकतन्त्र मे समाजवाद तभी सध सकता है जब जीवन के सभी क्षेत्रो मे सहकारिता के तत्वो से काम लिया जाय। आचार्य विनोबा भावे का ग्रामदान-आन्दोलन बताता है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे किस प्रकार सहकारिता के आदर्श पर अमल किया जा सकता है। हमे आशा है कि इस सिद्धान्त को धीरे-धीरे औद्योगिक क्षेत्रो मे भी लागू किया जा सकता है। कोई कारण नही दिखाई देता कि हमारे बडे-से-बडे कारखाने भी सहकारिता के आधार पर क्यो न चलाये जाय। आज के ससार मे समाजवाद और लोकतन्त्र एकदम बेमेल से लगते है, परन्तु बात ऐसी नही है। विकेन्द्रित सहकारिता की पद्धति से यदि हम काम ले तो दोनो एक-दूसरे के पूरक हो सकते है और परस्पर को मजबूत बना सकते है।

भारत एक भाग्यशाली राष्ट्र है। अपनी प्रकृति के अनुसार हमारी परम्पराओ और कार्य-पद्धति का विकास करने के बजाय यदि हम दूसरे देशों के प्रयोगो की नकल करने लगेगे तो वह हमारे लिए घातक होगा। मुझे विश्वास है कि लोकतन्त्र मे आर्थिक सयोजन का हमारा यह प्रयोग अवश्य सफल होगा और वह दूसरे राष्ट्रो को बता देगा कि सयोजन न केवल लोकतन्त्र से सुसगत है, अपितु उसका आवश्यक भाग है।

: २ :

संयोजन का ध्येय

राष्ट्रपिता महात्मा गाधी कहा करते थे कि केवल स्वतन्त्र हो जाने से हमारी सारी समस्याए नही सुलझ जायगी। उससे तो हमारे आर्थिक और सामाजिक विकास के मार्ग की केवल कुछ रुकावटे ही दूर करने मे हमे मदद मिलेगी, परन्तु इन बाधाओ को भी पूरी तरह से दूर करने के लिए हमे व्यवस्थित रूप से और पद्धतिपूर्वक यत्न करना होगा। इसीलिए तो स्वराज्य-प्राप्ति के बहुत पहले से गाधीजी रचनात्मक कार्य की पूर्ति पर इतना जोर देते रहते थे। स्वराज्य अपने-आपमे कोई लक्ष्य नही था। हमारा असली लक्ष्य तो था अपने करोडो देश-भाइयो का सर्वांगीण विकास और प्रगति। भारत के सविधान मे यही बात 'न्याय, स्वतन्त्रता, समानता

और वन्धुता पर आधारित लोकतान्त्रिक गणराज्य की स्थापना' इन शब्दो मे कही गई है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए खेती और उद्योगो की उपज वढाना तथा वेकारी को मिटाना जरूरी है।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के वाद तुरन्त भारत सरकार ने देश के सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक विकास के लिए एक राष्ट्रीय योजना वनाने का निश्चय किया। तदनुसार सन् १९५० मे योजना-आयोग की स्थापना हुई और सन् १९५१ से हमारी पहली पचवर्षीय योजना शुरू भी हो गई। सन् १९५६ मे वह समाप्त हुई और उसके वाद दूसरी पचवर्षीय योजना शुरू हो गई और अब तीसरी योजना की तैयारी है।

भारत जैसे कम विकसित देश को जिन समस्याओ का मुकावला करना पडता है, उनमे से कुछ ये है—

१ खेती और उद्योगो की उपज वढाना।

२. अधिक-से-अधिक लोगो को रोजी देना।

३ सामाजिक और आर्थिक विषमताए कम करना।

४ विकास के लिए आवश्यक साधन उपलब्ध करना।

भारत कृषि-प्रधान देश है और राष्ट्र की आय का लगभग आधा भाग खेती से प्राप्त होता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि आर्थिक विकास की किसी भी योजना मे खेती का हिस्सा प्रमुख होगा। पहली पचवर्षीय योजना मे खेती की उपज वढाने पर वहुत जोर दिया गया है। दूसरी पचवर्षीय योजना मे भी भारी उद्योगो के साथ-साथ खेती की उपज वडाने पर जोर दिया गया। परन्तु वीच मे कुछ वर्ष खराव गये। इस कारण हमे सफलता नही मिल सकी। इसलिए अब यह जरूरी समझा गया कि खेती की उपज वढाने के कुछ ऐसे उपाय किये जाय, जिनसे हमे केवल वर्षा पर निर्भर न रहना पडे, भले ही इसके लिए हमे लगातार कई वर्षो तक प्रयत्न करना पडे। परन्तु यह स्मरण रखना जरूरी है कि खेती की उपज इस प्रकार स्थायी रूप से वढाने के लिए जनता को स्वय पूरा-पूरा यत्न करना होगा। कोई भी सरकार, चाहे वह कितनी ही कुशल और कार्यक्षम हो, राष्ट्र के साधनो का स्वय इस प्रकार उपयोग नही कर सकती। इसीलिए तो सामुदायिक ग्रामीण क्षेत्रो मे पचायतो और सहकारी समितियो की स्थापना

पर विकास-योजनाओ मे इतना ध्यान दिया गया है। इन सस्थाओ को राष्ट्रीय सयोजन मे अपनी पूरी-पूरी शक्ति लगा देनी होगी। पशु-पालन और गृहोद्योग ये दो और ऐसे काम है, जिनका राष्ट्र के निर्माण मे बहुत महत्व है। पचायतो और सहकारी समिनियो को इनका भी ध्यान रखना होगा।

प्रधानमन्त्री इन दिनो सहकारी पद्धति की खेती पर बहुत जोर देते है। इनकी राय यह है कि छोटे-छोटे खेतो की खेती महगी पडती है। उनके बडे-बड़े चक वना लिये जाय और उनपर सहकारी पद्धति से खेती हो। इस पद्धति मे किसानो का अपने खेतो पर हक बना रहेगा और सारे चक की जो उपज होगी, उसमे से उनकी जमीन की अनुपात मे उनको उपज का हिस्सा मिल जाया करेगा। इसके अलावा जो सम्मिलित खेती मे काम करेगे, उन्हे उनके काम के अनुसार मजदूरी मिल जायगी, चाहे उनकी जमीन हो या न हो। प्रधानमत्री यह भी चाहते है कि इस प्रकार की सहकारी खेती करने से पहले लोगो मे सहकारी भावना का निर्माण करने के लिए सारे देश मे अन्य अनेक प्रकार की सेवा सहकारी समितिया स्थापित हो जानी चाहिए। ये समितिया गाव के सारे काम करे—वीज दे, खाद लायें, छोटी-छोटी सिंचाई योजनाए बनाये और उन्हे चलाये, खेती मे सुधरे हुए तरीको से काम ले, किसानो को कर्ज देने का प्रबन्ध करे और उनकी फसलो के वेचने का भी प्रबन्ध करे।

औद्योगिक उत्पादन बढाने के लिए भी पहली तथा दूसरी पचवर्षीय योजना मे सरकार ने काफी यत्न किया है। सारे देश मे भारी उद्योगो से लेकर छोटे-छोटे और गृहोद्योगो के विकास की तरफ भी उसने पूरा ध्यान दिया है। दूसरी पचवर्षीय योजना मे उसने लोहा, इस्पात, विजली, कोयला, परिवहन, सचार, यन्त्र-निर्माण तथा रासायनिक चीजो के निर्माण-सम्वन्धी बडे उद्योगो के विकास पर खास तौर पर अधिक ध्यान दिया है।

इसमे उद्देश्य यह रहा है कि हमारे विकास का कार्यक्रम वहुत लम्वा होगा। उसके लिए अनेक छोटे-वडे उद्योग शुरू करने होगे, जिनके लिए यत्रो की जरूरत होगी। ये सव यत्र हमे अपने देश मे ही वना लेने चाहिए। लोहा-इस्पात-विजली और यन्त्रो के इन वड़े कारखानो की हमे इसीलिए वहुत

जरूरत है। इन सारे उद्योगो का स्वामी राज्य या राष्ट्र ही होगा। छोटे और ग्रामोद्योगो का विस्तार सहकारिता के आधार पर किया जायगा। खादी, खाद्य तेल, चावल, गुड, खाण्डसारी, माचिस आदि का उत्पादन इन छोटे और ग्रामोद्योगो के द्वारा होगा और इनका सचालन खादी ग्रामोद्योग-आयोग, हाथ करघा बोर्ड, दस्तकारी बोर्ड, रेशम बोर्ड और नारियल-जटा-बोर्ड जैसी सस्थाए करेगी। छोटे और वडे उद्योगो के बीच सघर्ष न हो, इसका सरकार को बराबर ध्यान है और यद्यपि भारी उद्योगो को सरकार अपने हाथ मे रक्खेगी और छोटे उद्योगो का सचालन सहकारी समितियो द्वारा होगा, फिर भी निजी उद्योगपतियो के लिए काम करने की काफी गुजाइश रह जायगी। केवल उन्हे राष्ट्रीय सयोजन की चौखट मे अपनेको बैठा लेना होगा और राष्ट्र के हितो को सर्वोपरि स्थान देना होगा।

खेती और उद्योगो के उत्पादन बढाने के अतिरिक्त एक मुख्य समस्या है बेकारी को मिटाने की। इसलिए राष्ट्रीय सयोजन की हर योजना मे आदमियो की बचत का नही, अधिक-से-अधिक आदमियो को किस प्रकार काम दिया जा सकता है, इसका ध्यान हमे रखना होगा। कम विकसित देशो मे खेती मे भी सर्वत्र शक्ति-चालित यन्त्रो से काम लेना लाभदायक नही होता। ट्रैक्टरो आदि भारी यन्त्रो का उपयोग नई जमीने तोडने के लिए हो सकता है, परन्तु खेती-सम्बन्धी दूसरे कामो मे तो देशी औजारो से काम लेने मे ही लाभ है। हा, उनमे जरूरी सुधार अवश्य कर लिये जाय। यह ख्याल भी गलत है कि खेती मे भारी यन्त्रो के उपयोग से उसकी प्रति एकड उपज बढ जाती है। हा, आदमी कम लगते है, इसलिए उसमे प्रति एकड लागत जरूर कम हो जाती है। परन्तु सुधरे हुए साधनो का उपयोग हो, और सिंचाई की सहायता से अधिक फसले ली जाय तो छोटे खेतो की प्रति एकड उपज अवश्य बढ जायगी। उद्योगो के क्षेत्र मे गृहोद्योगो, ग्रामोद्योगो और छोटे उद्योगो मे अधिक आदमियो को काम देकर बेकारी की समस्या को हल करने मे वडी मदद मिलती है और पूजी भी कम लगती है। इसीलिए भारत सरकार छोटे उद्योगो और ग्रामोद्योगो के विस्तार पर इतना अधिक जोर देती है। इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण अम्बर चरखा है।

खादी ग्रामोद्योग-आयोग प्रति वर्ष एक लाख अम्बर चरखे गावो मे वितरित कर रहा है। इस कारण सादी और अम्बर की खादी के उत्पादन में लगभग ग्यारह लाख कातने और बुननेवालो को काम मिल रहा है, जबकि देश की सारी कपडा और सूत की मिलें केवल सात लाख मनुष्यो को काम दे रही हैं। फिर खादी-कार्य मे कुल मिलाकर केवल आठ से दस करोड रुपये की पूजी लगी हुई है, जबकि मिलो मे तीन सौ करोड की पूजी लग रही है। इन अको से ज्ञात होता है कि यदि हम छोटे उद्योगो के सगठन को व्यापक बनाये तो इसमे बहुत-से आदमियो को रोजी दी जा सकती है। पहली पंचवर्षीय योजना के अन्त मे पचास लाख आदमी इस देश मे बेकार थे। दूसरी पचवर्षीय योजना मे खेती के बाहर एक करोड आदमियो को काम देने की योजना बनाई थी, परन्तु अभी जो अक उपलब्ध है, उनसे ज्ञात होता है कि दूसरी योजना के अन्त तक पचास लाख से अधिक आदमियो को काम नही दिया जा सकेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि तीसरी योजना मे और भी अधिक आदमियो को काम देने का प्रबन्ध करना होगा। यह तभी सम्भव होगा जब हम ग्रामोद्योगो को और गृहोद्योगो को और भी अधिक व्यापक रूप से फैलायगे।

हम भारत मे समाजवादी लोकतत्र स्थापित करना चाहते हैं, जिसके अदर सबके लिए समान अवसर होगे और आर्थिक असमानताए उत्तरोत्तर कम होती जायगी। यो जीवन मे सपूर्ण समानता का लाना तो सभव नही है, परन्तु ऐसी बडी-बडी असमानताए तो अखरती ही हैं। वे लोकतंत्र और समाजवाद के विपरीत हैं। इनको मिटाना जरूरी है। यह अपने भाग्यहीन भाइयो को जीवन का स्तर ऊपर उठाने के अवसर प्रदान करके ही हो सकता है। कुछ वर्ष पहले कर-जाच-आयोग ने सुझाया था कि सबसे नीची और सबसे ऊची आमदनियो के बीच का भेद १:३० तक घटा दिया जाना चाहिए, परन्तु यदि व्यवस्थित रूप से यत्न किया जाय तो वह १:२० तक भी लाया जा सकता है। निश्चय ही यह काम आसान नही है। सोवियत रूस मे समानता निर्माण करने के प्रयोग गत चालीस वर्षों से चल रहे हैं, परन्तु वहा भी आज आमदनियो मे बड़ी विषमताए हैं। १:५० तक और उससे भी अधिक अन्तर सबसे नीची और ऊची-से-ऊची आमदनियो मे है। परन्तु हम अपने

देश मे इसे उचित सीमा तक क्यो नही लाये ? यह केवल यत्र की तरह काम करने से नही होगा। इसके लिए कर-प्रणाली का उपयोग करना होगा। आय कर की ऊची दरे, सपत्ति और व्यय का कर, भेट (गिफ्ट) कर और ऊची आयवाली जायदादो पर जायदाद-कर लगाने से इन विषमताओ को कम करने मे काफी मदद मिली है।

परन्तु केवल करो से भी पूरी समानता नही आयेगी। उत्पादन के तरीको को ही हमे बहलाना होगा, जिससे सपत्ति के केन्द्रीकरण की जड मे प्रहार हो सके। आज निजी कारखानो मे उत्पादन होता है और लोग बहुत मुनाफा कमाते हैं। इसके बजाय उत्पादन सहकारिता की पद्धति से विकेन्द्रित कर दिया जाय तो थोडे-से लोगो के हाथो मे इस प्रकार सपत्ति एकत्र नही होगी। भारी और बुनियादी उद्योगो पर तो राज्य का स्वामित्व है ही। इनका लाभ किसी व्यक्ति की जेब मे नही, राज्य-कोष मे जाता है, जिससे सारे समाज की सेवा होती है। इसी प्रकार उपभोग्य वस्तुओ के उद्योग यदि सहकारिता के आधार पर और छोटे कारखानो के रूप मे चलाये जाय तो थोडे-से खानगी आदमियो के हाथ मे धन एकत्र होने का प्रश्न ही पैदा नही होगा। आगे चलकर देश के भीतरी और बाहरी व्यापार मे सभी बिचौलियो को हटाया जा सकता है। राष्ट्रीय विकास-परिषद् लोक-निर्माण-कार्यों के ठेको का भी नियमन करने की योजना बना रही है। इन कार्यों को अबतक खानगी ठेकेदार करते आ रहे है और देश की बहुत बडी धनराशि इनमे खर्च होती है। इस काम को भी शासन भवन-निर्माण-सहकारी समितिया बनाकर अपने हाथ मे ले ले तो यहा भी गिनती के आदमियो के हाथो मे धन एकत्र होना रुक जायगा।

कारखानो और मिलो के प्रबन्ध की पद्धति मे भी इने-गिने आदमियो के हाथ मे सम्पत्ति एकत्र होती रहती है। इस बारे मे कम्पनी-सम्बन्धी कानून मे काफी सशोधन कर दिया गया है और आशा है, प्रबन्धको की वर्तमान पद्धति शीघ्र ही समाप्त हो जायगी। इस प्रबन्धक पद्धति—मैनेजिग एजेन्सी—के स्थान पर हमे तमाम छोटे-बडे कारखानो मे सहकारिता का तत्त्व जारी कर देना चाहिए। इग्लैड, फ्रास, जर्मनी, नार्वे और स्वीडन जैसे पश्चिम के कई देशो मे बडे उद्योग भी इसी सहकारिता की पद्धति से चलाये

जा रहे है। भारत मे भी हम ऐसा क्यो न करे ? वडे उद्योगो का भी संचालन हम सहकारिता के आधार पर करने लगेगे तो उससे थोडे-से पूजीपतियो के हाथो मे सम्पत्ति का केन्द्रीकरण नही हो सकेगा। प्रकाशन के उद्योग मे भी यदि इस सहकारिता के तत्त्व को शुरू कर दिया जाय तो आज लेखकों और ग्रन्थकारो का शोषण करके प्रकाशक जो अपनी जेवे भर रहे है वह बन्द हो जायगा। इस प्रकार उत्पादन मे सहकारिता की मदद लेकर हम असमानताओ को काफी कम कर सकते है।

परन्तु असमानताए गावो और शहरो के बीच भी है। प्राप्त आकडो से ज्ञात होता है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे प्रति वर्ष आवादी की वृद्धि जहा दो प्रतिशत है, वहा शहरो मे वह चार प्रतिशत है। इस प्रकार गावो की आवादी घटती और शहरो की आवादी वढती जा रही है। इसका कारण ग्रामीण क्षेत्रो मे रोजी के साधनों की कमी है। वहुत-से भागो मे जमीन पर मनुष्यो को पूरा काम नही मिलता और वहा गृहोद्योग, ग्रामोद्योग जैसे रोजी के कोई सहायक साधन नही है। इस कारण किसानो को और खास तौर पर भूमिहीन मजदूरो को विवश होकर कुछ समय के लिए या हमेशा के लिए शहरो मे चले जाना पडता है। इन लोगो के शहरो मे आ जाने से मकानो की कमी, गन्दगी जैसी अनेक समस्याए शहरो मे पैदा होती रहती है। फिर इन घर छोड़नेवालो का पारिवारिक जीवन टूट जाता है। गाव मे रोजी की कमी तो होती ही है, किन्तु शहरो मे जीवन की दूसरी भी कुछ सुविधाए जैसे विजली, पानी, शिक्षा, डाक्टरी सहायता आदि होती है, जो गावो मे नही होती। इसलिए शहरो और गावो के वीच पडी हुई खाई को पाटने के लिए यह जरूरी है कि वहा रोजी के साधन निर्माण करने के अलावा नागरिक जीवन की ये अन्य सुविधाए भी धीरे-धीरे पहुचाई जाय। आशा है, तीसरी पचवर्षीय योजना मे बिजली तथा शिक्षा और आरोग्य-सम्बन्धी काफी सुविधाए गावो मे पहुंचाने का प्रबन्ध हो जायगा। शिक्षा-संस्थाए और अस्पताल आदि सब केवल शहरो मे ही इकट्ठे कर दिये जाते है। इस कारण बेचारे ग्रामीणो को अपना घर और खेती छोड-छोडकर पढने या बीमारो का इलाज करवाने के लिए शहरो मे दौड-दौडकर आना पडता है। यदि ये सुविधाए गावो मे ही पहुचा दी जाय तो उनको बडी सहूलियत

हो जाय। ऐसा करने से इनके भवन वहा सस्ते मे वन जाय। यातायात के साधनो का वोझा कम हो जाय और लोगो को अपना घरवार छोड-छोडकर इधर-उधर मारा-मारा नही फिरना पड़े। तव खेतो, कारखानो और दूकानो के कामो मे समन्वय होकर ग्रामो का जीवन सुखी और समृद्ध भी हो सकता है।

सामाजिक और आर्थिक असमानताओ को मिटाने का काम हाथ मे लेते समय सवसे पहले उन लोगो के कामो को हाथ मे लेना चाहिए, जिनकी जरूरते गावो और शहरो मे भी सवसे वडी हैं। उदाहरण के लिए सयोजन की हमारी तमाम योजनाओ मे वेजमीन मजदूरो और खासतौर पर हरिजनो की तरफ हमे सवसे पहले ध्यान देना चाहिए। जमीन के सुधारो के सम्वन्ध मे अनेक राज्यो मे अनेक कार्यक्रम चल रहे है। इनका मुख्य उद्देश्य यही है कि जमीन की अधिकतम सीमा निश्चित करने के वाद जो जमीन वचे वह वेजमीन मजदूरो मे वाट दी जाय। उन वेजमीनो की जरूरतो की हम उपेक्षा नही कर सकते, जिनकी आवादी ग्रामीण क्षेत्रो मे पाचवा हिस्सा है और जिनकी वार्षिक औसत आय केवल एकसौ चार रुपये के करीव है। इसी प्रकार शहरी क्षेत्रो मे मेहतरो की हालत वहुत खराब है। जिन औजारो से उन्हे काम लेना पडता है, वे वहुत गन्दे और मनुष्यो के लायक नही हैं। हमारे देश की वहुत कम नगरपालिकाओ का ध्यान इस तरफ गया है। मजदूर वस्तिया भी वहुत गन्दी हैं। उनकी तरफ भी ध्यान देना वडा जरूरी है। अत जवतक वेजमीन मजदूरो, मेहतरो और शहरो की मजदूर-वस्तियो की हालत नही सुधारी जाती, समाजवादी समाज की स्थापना की वाते करना व्यर्थ है।

अन्त मे इन सारे विकास-कार्यों के लिए साधन प्राप्त करने का प्रश्न हैं। भारत जैसे कम विकसित देश मे गरीवो पर करो का अधिक वोझ डालना उचित नही। पहले ही यहा काफी अधिक कर लगे हुए है, इसलिए उनकी आय वढाने के साधन निर्माण करने से पहले और अधिक कर नही वढाये जा सकते। कम विकसित देशो मे विविध उद्योगो के लिए पूजी भी कम ही होती है। दूसरा उपाय है विदेशो से कर्ज लेना। यदि इस कर्ज के साथ दूसरी कोई राजनैतिक या आर्थिक शर्तें जुडी हुई न हो तो कर्ज भी

लिया जा सकता है। परन्तु यह बाहरी मदद भी स्वभावत' मर्यादित ही होगी। अगर उसमे सावधानी से काम नही लिया गया तो उससे स्वय हमारी आजादी को खतरा हो सकता है। इसलिए भारत जैसे कम विकसित देश के लिए तो केवल एक चारा रह जाता है। वह यह कि अपने मनुष्य-बल का समुचित उपयोग करे। हमारे देश मे बहुत लोग बेकार है और उनसे भी अधिक आंशिक बेकारो की सख्या है।

प्रत्येक घर मे कमानेवाला तो एक होता है और न कमानेवाले कई होते है। वे देश की सम्पत्ति मे कुछ भी वृद्धि नही करते। तो मुख्य सवाल यह है कि देश की सम्पत्ति बढाने मे इन बेकारो का उपयोग किस प्रकार किया जाय। यह प्रश्न सयोजन और सगठन से सम्बन्ध रखता है। प्रकट है कि यह काम ग्रामीण क्षेत्रो मे ग्राम-पचायतो और सहकारी समितिया को अपने हाथ मे ही लेना चाहिए और शहरो मे इसे लोकल बोर्डो, नगर-पालिकाओ और वार्ड तथा मुहल्ला कमेटियो को करना चाहिए। यह काम सरकारी नौकरो के बल-बूते का नही, भले ही वे कितने ही कुशल हो। वे लाखो-करोडो आदमियो को काम मे नही लगा सकते। वे तो जनता को इन विकास-कार्यो मे कुछ योग मात्र दे सकते है। लोकतन्त्र मे प्रेरक शक्ति तो इन गैर-सरकारी सस्थाओ मे ही होती है। इसीलिए तो शासन इन लोक-सस्थाओ को अर्थात् पचायतो, सहकारी समितियो और शालाओ को इतना महत्व प्रदान कर रहा है और उनके अच्छे सगठन तथा अच्छे सचालन पर जोर दे रहा है। ये संस्थाए अपने-अपने स्थान के विकास-कार्यों को नकद, अनाज या श्रम के रूप मे मदद भी कर सकती है। इसके लिए उन्हे केन्द्र या राज्य की सरकारो का मुह देखने की जरूरत नही होगी। वे अपनी जरूरतो को देखकर कार्यक्रम खुद बना लेगी और उन्हे कार्यान्वित भी कर लेगी। नदी घाटी-योजना, रेले, लोहा और इस्पात के कारखाने, जैसे बडे-बडे और बुनि-यादी तथा महत्व के उद्योग स्वभावत उनकी शक्ति से बाहर की चीजे है। इसलिए इन्हे राज्यो और केन्द्र की सरकारे ही कर सकते है। गावो मे रहनेवाले साधारण लोगो को तो अपने तत्काल उपभोग की और जरूरत की चीजों और निकट की छोटी योजनाओ मे ही दिलचस्पी होती है और इनमे से बहुत-सी योजनाओ को वे स्वयं हिलमिलकर पूरी भी कर सकते

है। इनके लिए नकद, अनाज या परिश्रम के रूप मे सहायता की जरूरत हो तो स्थानीय लोग इसे स्वय अधिक आसानी से प्राप्त भी कर सकते है।

पिछले वर्षों के अनुभव से हमने देख लिया कि लोकतन्त्र मे सयोजन तभी सम्भव और सफल होता है जब आर्थिक और राजनैतिक सत्ता को व्यापक तौर पर बाट दिया जाता है। देश के साढे पाच लाख गावो का सयोजन दिल्ली मे या राज्यो की राजधानियो मे बैठकर नही हो सकता। इसलिए भारत सरकार की यह मुख्य नीति है कि वह इन पचायतो को काफी अधिकार और सत्ता सौप दे।

यद्यपि शासकीय तौर पर हम जो बचत कर सकते हैं अथवा कर्ज ले सकते है, उसकी अपनी कुछ मर्यादाए होती है तथापि नागरिको द्वारा खानगी रूप से और खासकर ग्रामीण क्षेत्रो मे काफी बचत हो सकती है और इस बचत को कोष के रूप मे एकत्र करके उसका राष्ट्रीय कामो के लिए उपयोग हो सकता है। इस कल्पना पर अभी केवल शहरो मे ही मुख्यतया अमल हुआ है। परन्तु इसे अब व्यापक रूप से गावो मे भी फैलाने की जरूरत है और पचायते, सहकारी समितिया तथा शालाए इसको एकत्र करने मे काफी मददगार हो सकती है। आज इस बचत से एकत्र होनेवाले कर्ज को लौटाने की एक निश्चित अवधि होती है। इस नियम को कुछ ढीला किया जा सकता है। ग्रामीण क्षेत्रो मे छोटी-छोटी बचत की रकमे राष्ट्रीय कार्यों के निकल-वाले मे बीमा-पद्धति का भी उपयोग हो सकता है। गावो के लिए ऐसी योजनाए अवश्य बनाई जाय। सरकारी और खानगी नौकरियो मे काम करनेवालो के लिए छोटी-छोटी अनिवार्य बचत की कोई योजना भी बनाई जा सकती है।

जहातक शासकीय उद्योगो से सम्बन्ध है, उनमे मुनाफा कमाने की काफी गुजाइश है। इनमे कोई मुनाफा नही किया जाय—न लाभ हो न हानि—यह विचार गलत है। रेलवे, डाकतार, नदी-घाटी-योजनाए, लोहा, इस्पात, खाद आदि के बड़े-बडे कारखानो मे मुनाफे की काफी गुजाइश है। इसी प्रकार भीतरी और बाहरी व्यापार मे भी लाभ कमाया जा सकता है। इनसे सयोजन के लिए धन प्राप्त किया जा सकता है।

इसके अलावा लोग करो की चोरी तो करते ही है, परन्तु वसूली की

पद्धति मे भी ढिलाई है। इसलिए वसूली के काम को व्यवस्थित करने की जरूरत है। कर की चोरी और वसूली के कुप्रबन्ध के कारण कितना नुकसान होता है इसका ठीक अनुमान लगाना कठिन है, परन्तु वसूली के हमारे तन्त्र मे सुधार कर लिया जाय तो काफी लाभ हो सकता है, इसमे कोई सदेह नही।

एक वात और है। आर्थिक विकास का प्रश्न आवादी की वृद्धि से बहुत जुडा हुआ है। इसलिए आवादी की वृद्धि को नियन्त्रित करना बडा जरूरी है। यह या तो लोक-शिक्षण के द्वारा सयम से हो सकता है या शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रो मे परिवार-नियोजन के अन्य आधुनिक उपचारो के द्वारा भी किया जा सकता है। देश मे आरोग्य-रक्षा और रोगो के उपचार-सम्बन्धी अनेक योजनाए चल रही है। इनकी सहायता से मृत्यु-सख्या तो स्वभावत प्रतिवर्ष घटेगी ही, परन्तु इसके साथ ही जन्म-सख्या भी यदि नही घटेगी, बल्कि वढती ही जायगी तो हमारी सारी योजनाए गलत और अधूरी सिद्ध होगी। इसलिए देश की आवादी को नियन्त्रण मे लाने का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

जैसा कि ऊपर वताया गया है, अपनी अनेक समस्याओ को हम सयोजन के द्वारा हल कर सकते है, वशर्ते कि खुद सयोजन का हमारा यन्त्र अच्छा और कारगर हो। हमारा शासन-यन्त्र मूलत. लगान वसूल करने, शान्ति तथा व्यवस्था की रक्षा के ख्याल से बनाया गया था। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद देश के आर्थिक सयोजन और विकास की बहुत बडी जिम्मेदारी उसपर आ गई है। इस काम के लिए वह अपने-आपको तैयार कर रहा है, परन्तु इसमे सन्देह नही कि अभी उसमे बहुत सुधार की जरूरत है। शासन-यत्र का ईमानदार और कार्यकुशल होना चाहिए, नही तो सयोजन सफल कदापि नही होगा। सयोजन के यत्र को सुधारने के लिए कर्मचारियो को प्रशिक्षण की व्यवस्था वडे पैमाने पर करना आवश्यक है। इसके अलावा हमारी साधारण प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षण की पद्धति मे भी बहुत-से सुधार करने होगे। यदि सयोजन का आधार खेती और भारी उद्योग उसका हार्द है तो हमे खूब समझ लेना चाहिए कि शिक्षा उसकी प्रत्यक्ष आत्मा है।

३

गांधीवादी संयोजन के मूल तत्व

महात्मा गाधी ने अपने जीवन का अधिकाश भाग गावो मे राष्ट्रीय जीवन के विविध अगो के नव-निर्माण के महत्वपूर्ण कार्य मे बिताया है। ग्रामीण जीवन को मजबूत और स्थायी आधार पर खडा करने के हेतु से वह सेगाव चले गये। वहा वह दस वर्ष रहे और वहा खेती, गोपालन, ग्रामोद्योग, बुनियादी शिक्षा, आरोग्य, सफाई और अत्यजो के जीवन-सुधार जैसे ग्रामीण जीवन के हर पहलू पर ध्यान दिया। मुझे कुछ ऐसा लग रहा है कि सामुदायिक विकास का एक देशव्यापी और महान कार्य तो हमने हाथ मे ले लिया है, परन्तु इसमे हम राष्ट्रपिता के अनुभवो और सलाह से लाभ उठाने का यत्न नही कर रहे हे। इसमे हम विदेशी विशेषज्ञो की बातो को अत्यधिक महत्व प्रदान कर रहे है। यह ठीक नही है। सभव है, उन्होने अपने-अपने देशो मे अवश्य ही बहुत काम किया होगा, परन्तु भारतीय सस्कृति, परपरा और परिस्थितियो का उन्हे स्वभावत इतना ज्ञान नही हो सकता। उदाहरण के लिए गाधीजी सदा कहा करते थे कि हमारे सारे आर्थिक सयोजन का आधार गाव हो। उनकी यह निश्चित राय थी कि सयोजन ऊपर से नीचे नही, नीचे से ऊपर की तरफ होना चाहिए। इतने वर्षो के अनुभव के बाद अब हम यह अनुभव करने लगे है कि गाधीजी की बात ही सही थी। जबतक पचायतो, सहकारी समितियो और शालाओ को हम अपने सामुदायिक विकास की योजनाओ के बुनियादी आधार नही बनायेगे, हमे कोई ठोस सफलता नही मिल सकेगी। यदि हम गाधीजी की सलाह को शुरू से ही मान लेते तो हमारा बहुत-सा समय, शक्ति और साधनो की बचत हो जाती, जिसका उपयोग अन्यत्र अधिक अच्छी तरह कर सकते।

फिर खेती के सुधार के प्रश्न को लीजिये। गाधीजी कुए, तालाब, नालो और झरनो के पानी को रोकना आदि सिचाई की छोटी-छोटी योजनाओ पर हमेशा बडा जोर दिया करते थें। इन छोटी-छोटी योजनाओ पर ध्यान देने के बजाय हम बडी-बडी बहुद्देशीय योजनाओ के चक्कर मे पड गये, जिनमें सैकडो-करोड रुपये हमने लगा दिये। हमारा मतलब यह नहीं कि ये

बडी योजनाए बेकार है। राष्ट्र के विकास मे उनका स्थान भी अवश्य है। परन्तु ये छोटी योजना कम खर्चीली है। इनका निर्माण और मरम्मत भी जल्दी हो सकती है और फायदा भी ये तुरन्त देने लग जाती है। बडी नदी घाटी योजनाओ पर हमने सैकडो-करोड खर्च कर दिये, किन्तु उनसे हम केवल पैसठ-सत्तर लाख एकड की सिंचाई कर सकेगे। इसके विपरीत पहली पचवर्षीय योजना मे हमने छोटी योजनाओं पर केवल सौ करोड़ रुपये खर्च किये, परन्तु उनकी मदद से हमे एक करोड एकड की सिचाई का लाभ मिल गया। इससे स्पष्ट है कि भारत जैसे गरीब देश को बहुत खर्चीली योजनाए नही पुसा सकती। एक दिन महाभारत पढते-पढते नारद और युधिष्ठिर का सवाद देखकर मुझे आश्चर्य मिश्रित आनन्द हुआ। नारद युधिष्ठिर की राजसभा मे पहुचे तब उन्होने युधिष्ठिर से कितने ही प्रश्न पूछे। राज्य की खेती के बारे मे उन्होने पूछा

"युधिष्ठिर, तुम्हारे राज्य मे खेती केवल वर्षा पर तो अवलम्बित नही है न ?

"हर गाव का अपना तालाब है न ?

"और उनकी मरम्मत भी हर वर्ष होती रहती है न ?"

इन तीन प्रश्नो मे भारत की खेती-सम्बन्धी बुनियादी नीति आ गई। आर्थिक प्रश्नो के बारे मे हमारे पूर्वज कितने व्यावहारिक थे, इससे यह स्पष्ट है। अत अपने सयोजन मे हमे अपने पूर्वजो के अनुभव से पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिए।

इसके अलावा पूरी और आशिक बेकारी के प्रश्न की तरफ भी हम पूरा ध्यान नही दे पाये है। यदि देश की सम्पत्ति बढती है, परन्तु उसके साथ-ही-साथ लोगो की खरीदने की शक्ति नही बढती है तो इस बढी हुई सम्पत्ति से समाज मे आर्थिक और सामाजिक न्याय नही बढेगा। हमने अनुमान लगाया था कि दूसरी पचवर्षीय योजना मे खेती को छोडकर अस्सी लाख अधिक आदमियो को रोजी मिल जायगी, परन्तु बाद मे जब फिर हिसाब लगाया गया तो यह आकड़ा पैसठ लाख तक आ गया और वस्तुस्थिति तो इतनी आशा भी नही दिलाती। अबतक जो आकडे प्राप्त हुए है, उनके अनुसार दूसरी योजना के विविध कामो मे केवल पच्चीस लाख अधिक

आदमियो को काम मिल सका है। इस गति से तो जाहिर है कि दूसरी योजना के अन्त तक सशोधित अनुमान के अनुसार भी हम लोगो को रोजी नही दे पायगे। हमे भूले नही कि देश मे केवल मजदूर वर्ग मे प्रतिवर्ष पन्द्रह लाख नये लोग बढ जाते है। इन तथ्यो से हम इसी नतीजे पर पहुचते है कि यदि देश से बेकारी को मिटाना है तो हमे ऐसी गृहोद्योगो और ग्रामोद्योगो की योजनए ही बनानी होगी, जिनमे अधिक-से-अधिक मजदूरो को काम दिया जा सके। यह सच है कि हमारे विकास-खण्डो मे ऐसी छोटी योजनाए शुरू की जा रही है, परन्तु हमारी गति बहुत धीमी है। इस गति से काम नही चल सकेगा।

४

भूमि-सम्बन्धी नीति

पहली और दूसरी पचवर्षीय योजनाओ मे जो भूमि-सम्बन्धी नीति बनाई गई है, उसके आधार दो विचार है—(१) खेती मे अधिक उत्पादन और (२) आर्थिक तथा सामाजिक न्याय। योजना-आयोग की यह निश्चित राय है कि भूमि-सम्बन्धी सुधारो के अमल मे जितनी देरी होगी, उसका असर खेती के उत्पादन पर विपरीत पडेगा। भूमि-सम्बन्धी सुधारो का कार्यक्रम इस प्रकार बनाया गया है कि खेती पर काम करनेवालो को अपने काम मे अधिक प्रेम और उत्साह हो। राज्य और किसान के बीच यदि कोई मध्यजन होता है तो जमीन की उपज बढने मे बाधा होती है। इसीलिए योजना-आयोग की यह राय है कि जो जमीन को जोते वही उसका मालिक भी हो। मध्यजनो को हटा देने से किसान को उसका अपना हक का स्थान मिल जाता है और उसे जमीन की पैदावार बढाने मे उत्साह होता है।

आर्थिक और सामाजिक न्याय की दृष्टि से भी जमीन के स्वामित्व के बारे मे समाज मे जो असमानताए है, उनको हटाना जरूरी है। इसीलिए योजना-आयोग चाहता है कि एक आदमी के पास कितनी जमीन हो, इसकी अधिकतम सीमा निश्चित कर दी जाय। दूसरी पचवर्षीय योजना मे यह स्वीकार भी कर लिया गया है, परन्तु दूसरी योजना मे इसके कुछ अपवाद

भी रख दिये गए है। उसमे मूल उद्देश्य यही है कि उपज घटे नही। उदाहरणार्थ चाय, कॉफी और रबर के बागान, फल-बाग, पशु-सवर्धन के प्रयोग मे लगे हुए खेत, दुग्धालय, ऊन के क्षेत्र, चीनी की मिलो के द्वारा की जानेवाली गन्ने की खेतीवाले क्षेत्र और व्यवस्थित रूप से जहां खेती होती है ऐसे बडे-बड़े खेत, जिनपर बहुत लागत लगाई गई है और बडी-बडी इमारते खडी कर दी गई है। इन सबको अधिकतम सीमावाले निर्बन्ध से मुक्त कर दिया गया है। मुख्य कल्पना यह है कि गावो मे जमीन के स्वामित्व-सम्बन्धी असमानताए उत्तरोत्तर कम होती जाय, परन्तु खेती का उत्पादन किसी प्रकार कम न होने दिया जाय। जब आदमी के पास अधिक जमीन होती है तो वह उससे पूरी उपज नही ले सकता। इसलिए उसे कोई अधिकार नही कि वह अधिक जमीन अपने पास रक्खे इसलिए राज्य का कर्तव्य है कि वह ऐसे लोगों के पास से फालतू जमीन लेकर उन लोगो को दे दे, जो उसपर मेहनत करके उससे पूरी उपज ले सकते है। परन्तु जिन बडे खेतो मे खेती अच्छी तरह हो रही है, पूरी बल्कि साधारण से अधिक उपज की जा रही है और जिनपर बहुत लागत लगी हुई है, उन्हे न छेडा जाय।

यह ख्याल भी गलत है कि योजना-आयोग ग्रामीणो की आय की सीमाए बाध देना चाहता है। जमीन की अधिकतम सीमा बांधने का अर्थ यह हरगिज नही कि अमुक सीमा से अधिक कोई कमाई न करे। इसके विपरीत आयोग तो चाहता है कि जमीनो का एक बार फिर बटवारा हो जाने के बाद प्रत्येक किसान अपनी फी एकड उपज बढाने की पूरी कोशिश करे। इसके अलावा योजना मे यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि सरकार देहात मे छोटे-छोटे कारखानो, ग्रामोद्योगो तथा गृहोद्योगों का एक जाल बिछा देना चाहती है। इन उद्योगो की सहायता से तरह-तरह के काम करके ग्रामीण अपनी आय को बढा सकेंगे।

फिर इसी प्रकार शहरो मे भी जमीन और जायदाद के ऊपर उच्चतम सीमाए लगाई जा सकती है। समाजवादी समाज बनाने की क्रिया राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रो मे काम करेगी। धनवानो पर कर, मृत्यु-कर, सम्पत्ति-कर, व्यय-कर और इनाम-भेट (गिफ्ट) जैसे विविध कर लगा-

कर ऊची आय और सपत्तिवालो की आय को कम करने के कदम शुरू भी कर दिये है। कम्पनियो के कानून मे कई सशोधन करके प्रवन्धक-प्रथा (मैनेजिग एजन्सी) को समाप्त कर दिया गया है। परन्तु फिर भी अभी अनेक प्रकार की विषमताए रह गई है। इन सबको और शहरो तथा गावो के बीच की विषमताओ को भी दूर करने के लिए अभी और कई कदम उठाने होगे। उदाहरणार्थ शहरो और खासकर बढते हुए शहरो के वाहर जो जमीने है,उनपर कोई सीमा लगानी होगी।

योजना-आयोग की राय है कि भारत को अन्त मे सहकारी खेती पर ही आना होगा। जो खेत छोटे-छोटे है और जिनकी खेती महगी पडती है, उनकी समस्या वडी पुरानी है। अत एक बार किसान अपनी-अपनी जमीन के मालिक हुए कि फिर इन जमीनो की तुरन्त चकवन्दी कर लेनी होगी। फिर उसमे खेती का हर काम मिल-जुलकर सहकारी पद्धति से होगा। हलना, खाद डालना, सिंचाई, कटाई और उपज की बिक्री सब सहकारी पद्धति से हो। इस सहकारिता मे से सामुदायिक सहकारी खेती का विकास होगा, जिसमे किसान अपने-अपने खेत मिला लेगे, मिलकर खेती करेगे, परन्तु फिर भी वे अपनी जमीनो के मालिक वने रहेगे और उन्हे अपनी जमीन के आकार के अनुपात मे लाभ भी मिलता रहेगा। इसके अलावा जमीन पर जो खुद काम करे, उन्हे घण्टो के हिसाव से पारिश्रमिक अलग मिलेगा। इस प्रकार की सामुदायिक सहकारी खेती के लिए ग्रामदानी गाव सबसे अधिक अच्छे प्रयोग-क्षेत्र होगे, क्योकि वहा लोग अपनी इच्छा से ही जमीनो के स्वामित्व का विसर्जन करके सारी जमीन गाव को दे देते हैं। यह प्रयोग उन जमीनो पर भी किया जा सकता है, जो अभी-अभी आबाद हुई है। वहा खेती के नये प्रयोगो के लिए शासकीय मदद भी मिल सकती है। आज जो किसान छोटे-छोटे खेतो पर अच्छी कमाई नही कर सकते, उन्हे इस प्रकार अपने खेत मिला देने पर, वहा मिलकर खेती करने से, काफी लाभ हो सकेगा।

उद्योग के क्षेत्र मे भी, खास तौर पर छोटे-छोटे ग्रामोद्योगो और गृहोद्योगो मे, इसी प्रकार सहकारिता के सिद्धान्त पर काम करना लाभदायक होगा और वड़े उद्योगो मे भी अगर इसी सिद्धान्त से काम किया गया तो

हानि थोडे ही होगी। जब मजदूर स्वय उत्पादन के साधनो के मालिक बन जायगे तब मालिको और मजदूरो के बीच के सघर्ष बहुत बडी हद तक मिट जायगे। इस प्रकार जब हम खेती, उद्योग, व्यापार और व्यवसाय हर क्षेत्र मे सहकारिता की स्थापना कर देगे तब सामुदायिक सहकारी समाजवादी स्वरूप की राज्य-व्यवस्था करने मे अधिक कठिनाई नही होगा।

५

सहकारी खेती का अर्थशास्त्र

सहकारी खेती के बारे मे अखबारो मे तथा जनता मे बडी चर्चाए चल रही है। इसलिए इस प्रश्न पर तटस्थतापूर्वक और शास्त्रीय दृष्टि से विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

सहकारिता की कल्पना तो अब नई नही है। पहली पचवर्षीय योजना मे सहकारी समितियो के निर्माण के बारे मे किसानो के लिए कई सूचनाए दी गई है, जिससे उन्हे इनके बनाने मे सहायता हो। राज्य-सरकारो से कहा गया था कि वे सहकारी खेती के प्रचार का एक विशाल कार्यक्रम बना ले, परन्तु दु ख है कि इस दिशा मे कुछ भी नही हो सका। दूसरी पचवर्षीय योजना मे भी कहा गया है कि इस विषय मे सब सहमत है कि सहकारी खेती का विकास जितनी तेजी से किया जा सके, करने की जरूरत है। इस अवधि मे मुख्यत कुछ ऐसे जरूरी और ठोस कदम उठा लिये जाने चाहिए थे, जो अगले आठ-दस वर्षो मे सारे देश के काफी भाग मे सहकारी खेती शुरू कर देने के लिए बुनियादी काम करते। प्रत्येक राज्य की सरकार से सलाह करके उसके लिए सहकारी खेती के लक्ष्य निश्चित कर दिये जाने चाहिए थे, परन्तु किसी कारण राज्य सरकारे इस दिशा मे आगे नही बढ सकी। इसका एक कारण यह है कि सामुदायिक खेती के बारे मे अभी लोगो के दिमाग मे अनेक प्रकार को शकाएं भरी हुई है।

इन शकाओ का कारण यही है कि सहकारी खेती की सही-सही कल्पना ही लोगों को नही दी गई है। मोटे तौर पर सहकारी खेती तीन प्रकार की होती है। पहले प्रकार की वह, जिसमें सब मिलकर खेती करते हैं। जमीन पर व्यक्तियो का स्वामित्व कायम रहता है, परन्तु खेती की सुविधा के

लिए सारी जमीने मिला दी जाती है। सब मिलकर खेती करते है और उपज का बटवारा करते समय जमीन के मालिको का ख्याल रक्खा जाता है। इस प्रकार की सहकारिता मे यदि कोई चाहे तो अपनी जमीन को लेकर समिति से अलग भी हो सकते है, परन्तु इसकी कुछ शर्तें होती है उनके अनुसार।

दूसरा प्रकार यह है कि सब किसान केवल अपनी जमीने ही नही, वल्कि सारे साधन भी एकत्र कर लेते है। जहातक उपज के बटवारे का प्रश्न है, जमीनो का खानगी स्वामित्व समाप्त हो जाता है। जो जितना काम करता है, उस हिसाव से उसे उपज का हिस्सा मिल जाता है। ध्यान रहे, यह सोवियत रूस की और दूसरे साम्यवादी देशो की सामुदायिक खेती से भिन्न है, क्योकि वहा सहकारी खेती मे शामिल होना या न होना किसीकी इच्छा पर छोडा गया है। वह अनिवार्य नही है और इस खेती का सचालन भी लोकतन्त्र के सिद्धान्तो पर सदस्यो की इच्छा और सहमति से नही होता।

तीसरा प्रकार वह है, जिसमे खेतो को मिलाकर एकत्र नही किया जाता। केवल खेती-सम्बन्धी सब काम उदाहरणार्थ निदाई, कटाई, नाज निकालना, खाद का प्रवन्ध करना, फसल बेचना वगैरा किसान हिल-मिल-कर सहयोग से करते है। इसके लिए वे सहकारी सेवा-समितिया बना लेते है और उनके द्वारा सब काम होता है। जर्मनी के सहकारिता विशेषज्ञ डॉ० ऑटो शिलर ने इसे सहकारी आधार पर व्यक्तिगत खेती कहा है।

इस प्रकार भारत मे सहकारिता के प्रयोग के लिए बहुत क्षेत्र है। जहा जैसी अनुकूलता हो, उसके अनुसार अलग-अलग क्षेत्रो मे सहकारिता के अलग-अलग प्रकारो का प्रयोग बिल्कुल स्वेच्छापूर्वक किया जा सकता है। दूसरी पचवर्षीय योजना मे यह बात बिल्कुल स्पष्ट कर दी गई है कि इसमे किसी प्रकार की सख्ती न हो। प्रत्येक प्रयोग पूर्णत स्वेच्छा से हो। सहकारिता के कुछ खास नमूने निश्चित कर दिये जाय और जहा जो नमूना उपयुक्त समझा जाय उसका प्रयोग वहापर हो तो बहुत अच्छा परिणाम आ सकता है। उदाहरणार्थ सारा खेत सारे कामो के लिए या कुछ खास कामो के लिए एक इकाई मान लिया जाय। कुछ परिवार अपनी-अपनी एक

छोटी 'उप इकाई' उसीके अन्दर बना सकते है, अथवा सब अपनी-अपनी जमीने अलग-अलग रक्खे। केवल खेती की खास-खास क्रियाओ मे सहकारिता से काम ले। दूसरी योजना मे लिखा है—"हर जगह की परिस्थिति अलग-अलग होती है। इसलिए खेती तथा अन्य कामो मे सहकारिता शुरू करने के लिए काफी अनुभव की जरूरत होगी और सारे कामों मे श्रद्धापूर्वक शुरू से अखीर तक प्रयोग की वृत्ति से काम करना होता है। लगातार हम अध्ययन करते रहे, अच्छे-से-अच्छे तरीके ढूढने का यत्न करे और अपने अनुभव दूसरो के सामने रखते जायं। इससे किसान एक-दूसरे के अनुभव से लाभ उठाकर अपनी विशेष परिस्थिति के अनुसार रास्ता ढूढ लेगे।"

स्वय प्रधान मन्त्री ने अपने एक भाषण मे बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि सहकारी खेती का अर्थ सामुदायिक खेती कोई न समझे। सरकार किसानो पर किसी प्रकार भी सहकारी सम्मिलित खेती जबरदस्ती लादना नही चाहती। वह चाहती है कि सबसे पहले सारे देश मे सहकारी सेवा-समितियो (सर्विस कोऑपरेटिव) का जाल फैल जाय। ये समितिया खेती मे किसानो के लिए कितनी लाभदायक होती है, यह बताने की जरूरत नही होनी चाहिए। जहा-जहा भी सेवा-समितियो के अनुभव से प्रभावित होकर किसान सहकारी सम्मिलित (जॉइण्ट कोऑपरेटिव) खेती करने की इच्छा प्रकट करे, वहा उन्हे इसकी सुविधा कर दी जाय। हा, किसानो को यह बता दिया जाय कि ऐसे सम्मिलित खेत बहुत बडे न हो। रूस के सहकारी खेत तो दस, बीस, तीस बल्कि चौबीस हजार एकड तक के होते है। हमारे देश मे तो पच्चीस, पचास अथवा सौ किसान-परिवार अपने खेत मिला ले और एक सम्मिलित परिवार की तरह खेती करे तो काफी होगा। मुद्दे की बात यह है कि सहकारी किसान-परिवारो मे जितनी निकटता और प्रेम होगा, सहकारी खेती उतनी ही अधिक सफल होगी। जाहिर है कि ऐसी खेती ग्रामदानी गावो मे अधिक सफल होगी, क्योकि वहा किसानो के दिल पहले ही इतने तैयार हो गये है कि उन्होने अपना स्वामित्व-विसर्जन करके जमीने ग्राम-समाज को सौप दी है। इसी

प्रकार नई आबादी की जमीनो पर भी यह खेती अधिक अच्छी और सफल हो सकेगी।

पाठको को यह जानकर खुशी होगी कि स्वय गाधीजी इस प्रकार की सहकारी खेती को पसन्द करते थे। सन् १९४२ के १५ फरवरी के 'हरिजन' मे उन्होने लिखा था, "मेरा पक्का विश्वास है कि जबतक हम सहकारी खेती की पद्धति को नही अपनावेगे तबतक हमे खेती का पूरा-पूरा लाभ नही मिलेगा। बात बिल्कुल साफ है। सौ परिवार मिलकर किसी जमीन पर खेती करे और उत्पादन को आपस मे बाट ले तो निश्चय ही वे अधिक फायदे मे रहेगे, बजाय इसके कि उस जमीन को छोटे-बडे सौ टुकडो मे बाट ले। सहकारी खेती का अर्थ है जमीन, पूजी, साधन, पशु, बीज आदि सभी चीजो पर सबका सम्मिलित स्वामित्व हो और खेती मे सब मिलकर काम करे। यदि इस प्रकार खेती की जाय तो किसानो की सारी दरिद्रता और आलस भाग जायगा। परन्तु यह वही हो सकेगा, जहा किसान आपस मे मिल-जुलकर एक परिवार की भाति रहेगे।" पाठको को यह भी जान लेना चाहिए कि गाधीजी मानते थे कि केवल सहकारी सेवा-समितियो से काम नही चलेगा, सहकारिता पूरी और हर बात मे हो।

फिर सहकारी खेती का अर्थ यह नही कि वह यान्त्रिक खेती ही हो। यह ख्याल गलत है कि बडे-बडे खेतो मे उपज का मान अवश्य ही अधिक होता है। यदि बराबर मेहनत हो तो छोटे खेतो से भी काफी उपज ली जा सकती है। उपज के आकडो से तो यह सिद्ध होता है कि बडे खेतो की अपेक्षा छोटे खेतो की उपज का मान ही ऊचा होता है। उदाहरण के लिए अमरीका और आस्ट्रेलिया के बडे-बडे विशाल खेतो की अपेक्षा जापान की प्रति एकड उपज दूनी और डेनमार्क तथा स्विट्जरलैण्ड के छोटे खेतो की चौगुनी है। हा, बडे खेतो पर फी एकड के बजाय फी आदमी उपज का मान अवश्य अधिक होता है। भारत मे जो खेती की तरक्की चाहते है उन्हे यह बात याद रखनी चाहिए।

भारत मे सहकारी खेती को सफल बनाने के लिए प्रशिक्षित आदमियो का होना बहुत जरूरी है, जो इसके तत्व को अच्छी तरह समझे-बूझे हो और सेवा तथा त्याग की भावना से किसानो मे काम करने को तैयार हो। अत

उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था करना बहुत जरूरी है, क्योकि यदि ऐसे आदमी नही मिले तो सहकारिता के किसानो के शोषण का एक नया कारण बन जाने का भय रहेगा। अत एक निश्चित कार्यक्रम बना लिया जाय और उसके अनुसार काम शुरू कर दिया जाय। सहकारी सेवा-समितियों के प्रयोग की सफलता सम्मिलित सहकारी खेती के प्रयोग के लिए जमीन तैयार कर देगी। वह एकदम ऐच्छिक हो। उसमे किसी प्रकार का दबाव न हो। भारतीय किसान बहुत समझदार और व्यावहारिक है। यदि उसे सम्मिलित खेती की प्रक्रियाए और लाभ अच्छी तरह समझा दिये जायगे तो वह स्वय ही उसे उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लेगा।

: ६ :

भारत में कृषि का संयोजन

दूसरी पचवर्षीय योजना के अमल के प्रारम्भ से ही खेती के सयोजन का महत्व बहुत बढ गया है, परन्तु दु ख की बात है कि पिछले कुछ वर्षो मे सयोजन के इस महत्वपूर्ण अग की तरफ समुचित ध्यान नही दे पाये। इसका एक कारण शायद यह रहा कि इन पिछले वर्षो मे सौभाग्य से वर्षा अच्छी रही। उससे कुछ निश्चिन्तता की भावना पैदा हो गई, परन्तु अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि केवल अन्न-स्वावलम्बन की दृष्टि से ही खेती की उपज बढाना जरूरी नही है, वल्कि दूसरे देशो से हमें जो यन्त्र-सामग्री मगानी पडती है, उसके लिए भी विदेशी मुद्रा कमाने के लिए भी वहुत जरूरी है। इसके अलावा राष्ट्रीय सयोजन के लिए आवश्यक साधनों का ५० प्रतिशत हमे खेती की उपज वढाकर ही प्राप्त करना होगा। अगर हम वह नही वढावेगे तो योजना की भीतरी जरूरतों के लिए हमे साधन ही नही मिलेगे। इसलिए सयोजन की नीव को मजवूत करने के लिए हमे इस समस्या पर लम्वी दृष्टि से विचार करना होगा और आनेवाले कई वर्षो तक डटकर लगातार काम करना होगा। यदि हमने ऐसा किया तो मुझे विश्वास है हम अपनी खेती की उपज अवश्य ही काफी वढा सकेंगे। इसमे शंका या निराशा के लिए कोई कारण नही है।

हमारे लिए सवसे पहली विचारणीय वात यह है कि भारत के किसान

को अधिक उपज करने के लिए कैसे उत्साह दिलाया जाय। मेरा ख्याल है कि बोनी के छ महीने पहले उसे यह आश्वासन मिल जाना चाहिए कि उसे उसके माल की कम-से-कम इतनी कीमत तो अवश्य मिलेगी। मै तो समझता हू कि इस प्रकार न्यूनतम भाव दो-तीन वर्षो के लिए भी निश्चित कर दिये जा सके तो कोई हानि नही होगी। इससे वह अपने अगले आय-व्यय का हिसाब ठीक बैठा सकेगा, परन्तु ये न्यूनतम भाव उचित हो—उत्पादक और उपभोक्ताओ दोनो के लिए। इसी प्रकार वे शहरी क्षेत्र के उपभोक्ताओ और ग्रामीण क्षेत्र के उपभोक्ताओ दोनो को पुसाने भी चाहिए। उधर उत्पादक को जो लागत-खर्च और परिश्रम लगता है, उसको ध्यान मे रखकर उसे भी बराबर मुआवजा मिल जाना चाहिए। कपास और गन्ने के भाव निश्चित करने का परिणाम बहुत अच्छा हुआ है। इसी प्रकार यदि हम अनाजो का भाव भी निश्चिय कर दे तो भारत के किसानो पर अच्छा असर पडेगा और वे हमारे राष्ट्रीय सयोजन मे अच्छा योग दे सकेगे।

छोटे किसानो की जरूरतो को भी हमे भुलाना नही होगा। किसानो मे इन्हीकी सख्या अधिक है। ध्यान देने की बात है कि कर्ज, तकावी, खाद, बीज, वगैरा-सम्बन्धी जितनी भी सहूलियते सरकार से दी जाती है वे इस वर्ग तक या तो पहुचती ही नही या पहुचती है तो बहुत कम और वे भी समय पर नही। ये सहायताए देने के सम्बन्ध मे हमने जो नियम बनाये है, उनका आधार जायदाद है। इम कारण वे इनके विरुद्ध पडते है। केवल मालदार किसान ही उनसे लाभ उठा सकते है और छोटे किसान सहूलियते न मिलने के कारण अपना उत्पादन नही बढा पाते। इस दोष को जल्दी-से-जल्दी दूर किया जाना चाहिए।

फिर हमको खेती-सम्बन्धी ऐसी योजनाओ की तरफ अधिक ध्यान देना चाहिए, जिनमे बहुत अधिक सरकारी कार्यवाही की झझट न हो। उदाहरण के लिए हर गाव से कहा जाय कि वह अपने यहा पचायत और सहकारी समिति की भी स्थापना कर ले और सिचाई की छोटी-छोटी योजनाए, खाद, बीजो के खेत और अपने लिए सुधरे हुए औजार बनाने का काम इन्हीके द्वारा वे कराये। तालाबो मे यदि मिट्टी भर गई है, तो उसे निकालने और पुराने कुओ की मरम्मत का काम तुरन्त हाथ मे ले लिया जाना

चाहिए। जो राज्य-सरकारे अपने यहा इन कामो को अपने हाथ में लेगी उनकी सहायता भारत-सरकार और योजना-आयोग अवश्य करेगा। जहा-तक खादो का सम्बन्ध है, रासायनिक खादो का भी अपना महत्व अवश्य है। इससे कोई इन्कार नही कर सकता, परन्तु अब इस बात को सभी स्वीकार करने लग गये है कि अच्छे गुणोवाली फसल यदि लेनी है तो रासायनिक खाद को गोबर-मूत्र और मैले के खाद तथा हरी खाद के साथ मिलाकर काम मे लेना चाहिए। रासायनिक खाद वनावटी अन्न और सादा खाद, स्वाभाविक अन्न के समान है। वनावटी अन्न निश्चय ही महगा होता है, यद्यपि वह प्रारम्भ मे अधिक लाभदायक मालूम होता है। परन्तु हमे अधिक ध्यान तो मुख्यतया सादे खाद के ऊपर ही देना चाहिए। प्रत्येक गाव, बल्कि प्रत्येक किसान अपने लिए सादी खाद तैयार कर लिया करे। योजना-आयोग ने इस बारे मे एक योजना बनाई है, जो तमाम राज्य सरकारो के पास भेज दी गई है। फिर बहुत अधिक खर्चीले और कीमती ट्रैक्टर बाहर से मगाने के बजाय हमे अपने देशी औजारो से ही काम लेने की कोशिश करनी चाहिए। जहा आवश्यक हो, उनमे सुधार अवश्य कर लिया जाय। नई जमीने तोडने के लिए ट्रैक्टरो का उपयोग किया जा सकता है, परन्तु साधारण खेती के लिए हमारे इजीनियरो और इजीनियरिंग कालेजो को सुधरे हुए अच्छे औजार तैयार करने चाहिए। इससे सबमे स्वावलम्बन की और आत्मविश्वास की भावना जागेगी। बीज, खाद और औजार हर बात के लिए किसानो को सरकार का मुह नही तकना पडना चाहिए। इस प्रकार हम उत्पादन नही बढा सकते।

खेती के उत्पादन के साथ-साथ अनाजो के वितरण के काम को भी हमे अधिक व्यवस्थित बनाना होगा। अनाज के थोक व्यापार को अगर सरकार अपने हाथ मे ले लेती है तो इससे अनाज की कीमतो मे स्थिरता लाने मे काफी मदद मिल सकती है। समाजवादी समाज-व्यवस्था मे इस प्रकार के महत्वपूर्ण कामो पर शासन का नियन्त्रण है भी जरूरी। इसमे एक बात का ध्यान रहे। अनाज के नियन्त्रण को लेकर कही एक नया और लम्बा-चौडा नौकर वर्ग निर्माण न हो जाय। उत्पादन, विक्रय और वितरण का यह सारा प्रबन्ध सहकारी समितिया सभाल ले। आज

जो काम खानगी व्यापारी कर रहे है, इसे सहकारी समितिया करने लग जायगी, अर्थात् अनाज के थोक व्यापारियो का स्थान सहकारी समितिया ले लेगी। हम आशा करे कि योजना-आयोग और कृषि तथा खाद्य मन्त्रालय इस सम्बन्ध मे व्यवस्थित और पूरी योजनाए बनाकर उन्हे कार्यान्वित करने मे लग जायगे।

सबसे अधिक महत्व का काम तो है हमारे वर्तमान शासन-यन्त्र को समय की जरूरतो के लायक बना देना। राज्यो के खेती-सिचाई और राजस्व विभागो मे अधिक समन्वय और सहयोग होना चाहिए। एक ही काम की जिम्मेदारी अनेक आदमियो पर डालने से नुकसान होता है। होना यह चाहिए कि प्रत्येक आदमी के पास निश्चित काम हो और उसे यह काम अपनी शक्तिभर अच्छी तरह से करने का अवसर दिया जाना चाहिए। कर्मचारियो और अधिकारियो का काम बार-बार बदलने से कोई काम ठीक से नही हो पाता। इसका असर हमारी योजनाओ पर बुरा पडता है।

अन्तिम बात हमारी शिक्षा-योजनाओ मे विकास और खास तौर पर खेती के साथ सूत्रबद्धता लाने की बहुत जरूरत है। वर्तमान कृषि विद्यालय अपने खेतो मे विद्यार्थियो को कुछ व्यावहारिक शिक्षण अवश्य देते है, परन्तु इन्हे उपाधि देने से पहले गावो मे भेजकर वहा कम-से-कम छ महीने इनसे खेती का प्रत्यक्ष काम लिया जाना चाहिए। इस अवधि मे खेती के सुधार-सम्बन्धी किसी खास योजना को सफल बनाने का काम ये करे। इसी प्रकार मेडीकल कॉलेजो और इजीनियरिग कालेजो मे पढनेवाले विद्यार्थियो को भी गावो मे भेजकर उनसे विकास-सम्बन्धी किसी खास योजना को सफल करने मे एक निश्चित अवधि के लिए मदद ली जाय। तब उन्हे विश्वविद्यालयो की उपाधिया दी जाय। इस पद्धति से विकास-विभाग और शिक्षा-विभाग दोनो को लाभ होगा तथा योजनाओ का अमल भी अच्छा होगा।

७

तीसरी योजना की दृष्टि

तीसरी योजना का रूप तैयार किया जा चुका है। शासन और देश के

लिए वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अत तमाम राजनैतिक दलो को अपने भेद-भाव भुलाकर निर्माण के इस महान अभियान मे लग जाना चाहिए। इसमे सबसे बडा सवाल है साधनो का। वे कहा से आये ? हमे इस प्रश्न पर कुछ विस्तार से विचार करना होगा।

१ सबसे पहले तो शासकीय करो की वसूली करनेवाले यन्त्र को हमे पूरी तरह कार्यकुशल बनाना होगा। करो की जांच करने के लिए जो आयोग नियुक्त किया गया था, उसकी राय है कि करो की चोरी बहुत होती है। लोगो ने जो प्रारम्भ मे बताई और जो जाच के बाद पाई गई उसमे छः गुना फर्क था। इस हिसाब से उन्होने अनुमान लगाया कि शासन को प्रति वर्ष दो सौ से लेकर तीनसौ करोड रुपये का घाटा केवल करो की चोरी के कारण होता है। हम मान ले कि शायद यह अनुमान एकदम सही न हो, परन्तु आधा मानले तो भी यह बहुत बडी रकम हो जाती है। इसलिए इस विभाग को अवश्य ही कसने की जरूरत है।

२ फिर छोटी बचत की रकमे एकत्र करनेवाले, खास तौर पर ग्रामीण क्षेत्रो मे काम करनेवाले, सगठन को भी सुधारने की बडी जरूरत है, यो तो शहरो मे काम करनेवाले सगठन मे भी सुधार की काफी गुजाइश है। उदाहरणार्थ अहमदाबाद के व्यापारी महाविद्यालय के विद्यार्थियो ने शहर मे एक सर्वेक्षण किया था। उसमे पाया गया कि दो सौ मजदूरो मे से अठहत्तर को सरकार की इस छोटी बचतवाली योजना का पता ही नही था। ये सारे लोग मासिक दो सौ रुपये से कम की आयवाले लोग थे और इन शेप बाईस आदमियो मे से केवल एक के पास योजना मे काम करनेवाला आदमी पहुचा था। इससे प्रकट है कि शहरो मे भी योजना के यत्न को बहुत क्रियाशील बनाने की जरूरत है। परन्तु ग्रामीण क्षेत्र तो अभी एकदम अछूता ही पडा हुआ है। इसमे डाक-विभाग का उपयोग करना अधिक सुविधाजनक होगा। सेविग्स बैंक—अर्थात् बचत जमा करने की सुविधा बहुत अधिक गांवो मे कर दी जानी चाहिए। इसी प्रकार इसके नियमो मे भी खास तौर पर कर्ज की मियाद पक जाने पर अपनी रकम को निकालने की विधि कुछ अधिक सरल कर दी जाय। बीमे की पद्धति के लिए भी गावो मे बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ा हुआ है। राजस्थान के एक-दो सामुदायिक

विकास-खण्डो मे इसका प्रयोग करने पर उसमे काफी उत्साह-वर्धक सफलता मिली है। जयपुर जिले के केवल दो विकास-खण्डो मे छ महीनो मे १,३०००००० का बीमा हो गया। यदि देश के दूसरे भागो मे भी इसी प्रकार प्रयोग किया जाय तो मुझे विश्वास है, बहुत अच्छा परिणाम आ सकता है।

३ रेलवेसहित कई शासकीय कारोबार है। उनको लाभदायक बनाकर उस लाभ का उपयोग योजना के लिए हो सकता है। यह ख्याल गलत है कि इनमे कमाना नही चाहिए। इनमे नफा कमाकर जनता की ही सेवा मे लगाना क्यो बुरा है ?

४ मृत्यु-कर, व्यय-कर, सम्पत्ति-कर की दरे बढाई जा सकती हैं और अतिरिक्त लाभ के कर को स्थायी कर दिया जाय।

५. यदि खेती और उद्योगो के उत्पादन को हम बढा सकते है तो घाटे की अर्थ-व्यवस्था के बारे मे भी हमे अकारण घबराना नही चाहिए। उत्पादन बढेगा तो बचत भी अवश्य होगी ही, और बचत होगी तो हम अपनी योजनाओ के आकार को क्यो नही बढा सकते। ग्रामीण क्षेत्र मे यदि सहकारी सेवा-समितिया कायम हो जाय तो खेती की उपज अवश्य ही बढेगी, क्योकि इनकी मदद से खेती गहरी और वैज्ञानिक तरीको से होगी। उद्योग के क्षेत्र मे हमे सारे देश मे छोटे-छोटे उद्योगो-ग्रामोद्योगो और गृहोद्योगो का जाल बिछा देना होगा, जो सहकारी पद्धति पर काम करेगा। इस प्रकार तीसरी योजना का आधार न विशुद्ध रूप से खेती होगा, न उद्योग, बल्कि दोनो होगे और लोग इस प्रकार खेतो और छोटे-छोटे कार-खानो मे काम करेगे कि दोनो मिलकर एक ही है। दोनो एक-दूसरे के पूरक और सहायक होगे।

देश के तमाम साधनो को इन कार्यों के लिए उपलब्ध करने के लिए हमे शासन तथा सगठन मे भी बहुत-से सुधार और परिवर्तन करने होगे। उनपर भी विचार कर देना उचित होगा।

(अ) उत्पादन और उपभोग के क्षेत्रो मे हमे सहकारिता का खूब विस्तार करना होगा। खेती और औद्योगिक सहकारी समितियो की मदद से न केवल उत्पादन को बढाने मे, बल्कि पूजी के निर्माण मे भी हमे मदद

मिलेगी, जो कि अपनी प्रवृत्तियो के बढाने मे हमारी सहायता करेगी, गावो मे और मण्डियो मे बेचनेवाली सहकारी समितिया खरीद-बिक्री का थोक व्यापार करेगी। वार्ड और मोहल्ले के उपभोक्ताओ की सहकारी समितिया अनाज के वितरण मे सहायता करेगी। औद्योगिक क्षेत्र मे छोटे-छोटे उद्योगो के खोलने मे सहकारी समितिया बडा काम करेगी। मुझे तो लगता है कि यूरोप की भाति यहा भी वडे उद्योग सहकारी पद्धति से जरूर चलाये जा सकते है।

(आ) गावो और शहरो के जीवन-मान और पद्धति मे भी बडा अन्तर हो गया है। हम देखते है कि इधर कई वर्षो से बहुत बडी सख्या मे गावो के लोग गावो को छोडकर शहरो मे आकर बसते जा रहे है। इस कारण शहरो की समस्याए बढती जा रही है। लोग गावो को छोड-छोडकर शहरो मे आते है, इसके मुख्य कारण दो है—एक तो गावो मे रोजी का न मिलना और दूसरे शहरो मे शिक्षा, आरोग्य तथा जीवन की अन्य सुविधाओ का होना। इस प्रवाह को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि ये सुविधाए गावो मे भी उपलब्ध कर दी जाय। इस हेतु से गावो मे उद्योगालय खोलना प्रारम्भ भी हो गया है। इन उद्योगो के लिए गावो मे पानी की सस्ती बिजली भी दी जायगी। इससे उद्योगो के चलाने मे भी मदद मिलेगी और ग्रामीणो को प्रकाश की भी सुविधा हो जायगी। इस बिजली की सहायता से तेल, गुड, खाण्डसारी, चावल, कागज और चमडे के उद्योग वड़ी अच्छी तरह से गावो मे चलाये जा सकते है।

(इ) जहातक शिक्षा का सम्बन्ध है, सरकार को गावो मे भी माध्यमिक, उच्च तथा औद्योगिक विद्यालय खोल देने चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रो मे वहुत-सी बजर जमीन बेकार पडी हुई है। शहरो मे वडी कीमते देकर खर्चीली इमारते बनाने के वजाय गावो की इन वेकार पडी हुई जमीनो पर अगर शालाए और अच्छे-अच्छे अस्पताल वना दिये जाय तो वहुत सस्ते मे काम हो जायगा और जमीनो का भी उपयोग हो जायगा। यदि यह हो सका और रोजी तथा जीवन की ये अन्य सुविधाएं भी स्वयं गावो मे लोगो को घरबैठे मिल गई तो शहरो की तरफ जानेवाला जनता का प्रवाह अपने-आप बन्द हो जायगा, वल्कि उल्टे शहरो के लोग गावो के स्वास्थ्यप्रद

ावरण मे आकर बसना पसन्द करने लगेगे।

(ई) आर्थिक और सामाजिक न्याय के सिद्धान्त इस खेती और ागो की इस समन्वित व्यवस्था को मजबूत बनाने के लिए यह जरूरी ा विविध क्षेत्रो मे काम करनेवाले लोगो के वेतनो मे जो बहुत बडा र है, वह कम किया जाय और उसे न्याय और समता पर आधारित ा जाय। आज केन्द्रीय शासन के मातहत काम करनेवालो और ो के कर्मचारियो के वेतन मे काफी अन्तर है। राज्यो के कर्मचारियो ौर नगरपालिकाओ के कर्मचारियो के वेतनो मे भी अन्तर है। सर- ी और खानगी कर्मचारियो के वेतनो तथा नौकरी की शर्तों और परि- ्तियो मे अन्तर है। इस अन्तर को दूर करके सारे देश के लिए न्यूनतम अधिकतम वेतन का मान निश्चित करने की भी जरूरत है और ि कि कर-जाच-आयोग ने सुझाया है, न्यूनतम आय और अधिकतम के बीच का अन्तर १ ३० से किसी प्रकार अधिक न हो।

(उ) सहकारिता की पद्धति से स्थापित और चालित खेती और ागो को प्रोत्साहन देने के लिए उन्हे कर्ज-सम्बन्धी सहूलियतो का मिलना ी है। इस विषय मे हमे बैको की नीति मे ही सुधार करना होगा। धनवानो को और शहरवालो को कर्ज आसानी से मिल जाता है। देखते रह जाते है। बैको की नीति मे ऐसा सुधार करने की जरूरत जससे छोटे किसान और कारीगर भी इस सुविधा से लाभ उठा सके।

(ऊ) परिवहन और सचार-व्यवस्था के क्षेत्र मे भी गावो की जरूरतो रफ अधिक ध्यान देना चाहिए। उदाहरणार्थ बडी-बडी सडको और य मार्ग बनाने की अपेक्षा गाव के बीच मे आधी कच्ची सडके और छोटे पुल तथा रपटे बनाना अधिक अच्छा होगा, जिससे किसान अपनी बाजारो मे आसानी से पहुचा सके।

(ए) देहात मे खेती से निकट का सम्बन्ध रखनेवाले उद्योगो के ा और चलाने के लिए ग्रामीण स्वय प्रशिक्षण ले, ऐसा प्रयत्न करना ए। आज तो ये विद्यालय शहरी युवको से भरे रहते है, जो सरकारी ो पर भी गावो मे जाना बहुत कम पसन्द करते है।

(ऐ) विकास की किसी भी योजना मे मजदूरो का स्वेच्छित सहयोग

परम आवश्यक होता है, परन्तु आज यह कहना कठिन है कि उद्योगो मे अधिक उत्पादन करने मे मजदूर-सगठन दिल से सहयोग दे रहे है। इसलिए जितने भी उद्योगो और विभागो मे सभव हो, काम की तादाद को देखकर मजदूरी देने की पद्धति चलाना आवश्यक मालूम होता है। इसके साथ ही न्यूनतम मजदूरी भी निश्चित कर दी जाय और ऐसी व्यवस्था हो कि अन्त मे जाकर मजदूर स्वय सहकारी सिद्धान्तो पर कारखाने के मालिक वन जाय। तवतक सक्रामण काल मे कारखानो की व्यवस्था मे मजदूर अधिकाधिक भाग ले सके, ऐसी परिपाटी डाल दी जाय, जिससे उन्हे यह महसूस हो कि वे भी उसके सचालक है।

(ओ) राष्ट्रीय सयोजन मे जनता मे दिली उत्साह पैदा करने के लिए यह जरूरी है कि जनता की अपनी सस्थाओ अर्थात् पचायतो और सहकारी समितियो को सयोजन और विकास मे प्रभावशाली और क्रियाशील वनाया जाय। समाजवादी रचना के परिणामस्वरूप देश मे नौकरो का विशाल जाल नही फैलाना चाहिए। इसके विपरीत जनता और उसकी सस्थाओ को स्वयं अपनी योजनाए वनाकर उनका अमल करने का अवसर देना चाहिए। इससे उनकी बुद्धि, साहस-शक्ति और साधनो का पूरा-पूरा विकास वे कर सकेगे।

जनता परिश्रम करे, आवश्यक आर्थिक वोझ उठाने या अनाज अथवा अपनी उपज की अन्य कोई चीज दे तो उसे जीवन की न्यूनतम प्राथमिक आवश्यकताए तो अवश्य ही मिल जाय, इसके लिए सच्चे दिल से यत्न हो। उदाहरणार्थ एक भी गाव ऐसा न हो जहा पीने के लिए स्वच्छ-शुद्ध-मीठे पानी का साधन न हो, स्कूल न हो और समिति को जाने के लिए, निकटतम मण्डी और सहकारी समिति को जाने के लिए सडक न हो। गावो मे लोगो को काफी समय मिलता है। उसका उपयोग ये प्राथमिक सुविधाए प्राप्त करने के लिए वे अवश्य कर सकते है।

ये तो कुछ सूचनाए मात्र है। इनपर तथा और भी उपयोगी सूचनाओ पर सवको वैठकर विचार करना चाहिए और कोई निश्चित कार्यक्रम वनाकर उसे कार्यान्वित करने मे लग जाना चाहिए। योजना-क्षेत्रो मे और अन्यत्र हमको अवतक जो प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है, निस्सन्देह वह भी हमारा मार्ग-दर्शन करेगा।

खण्ड ६

उपसंहार

भारत का आर्थिक विकास जल्दी-से-जल्दी हो, यह आवश्यक है। हम सब यह चाहते है, परन्तु इसके लिए अति उत्साह मे हम कही जड की बात को न भुला दे। केवल भौतिक सुख-साधनो के वढ जाने से ही राष्ट्र प्रगतिशील नही वन जाता है। ये सुविधाए हम अपने नागरिको को जितनी भी सभव हो, अधिक-से-अधिक दे, अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को सतुलित भोजन मिले, शरीर-रक्षा के लिए पूरे कपडे हो, रहने के लिए आश्रय अर्थात् घर हो, शिक्षा और आरोग्य-सम्बन्धी सुविधाए हो—ये सव हो। परन्तु किसी भी राष्ट्र की प्रगति का सच्चा नाप तो उसके नागरिको की सस्कारशीलता और चरित्र ही माना जायगा। इस बात से कोई इन्कार नही कर सकता। परन्तु दु ख की बात है कि ऐडम स्मिथ से लेकर मार्क्स और कीन्स तक के तमाम आदर्शवादियो और भौतिक, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र पर चिन्तन करनेवालो ने इस प्रश्न के मानवी तथा नैतिक पहलू पर बहुत कम ध्यान दिया है। गाधीजी ने लिखा है कि "सभ्यता का असली अर्थ अपनी जरूरतो को बढाना नही, बल्कि स्वय उन्हे विवेकपूर्वक कम करना है।" पेट-भर उपभोग कर लेने के बाद अत मे ययाति इसी नतीजे पर तो पहुचा था कि भोग से कामना शान्त नही होती, उलटे वढती ही जाती है।

न जातु कामः कामनां उपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्ण-वर्त्मेव भूयएवाभिवर्धते ॥

आधुनिक अर्थशास्त्रियो द्वारा बनाये गए लॉ ऑव डिमिनिशिग युटिलिटी और लॉ ऑव इनसैशियेबल वान्ट्स का अर्थ भी तो यही है। इसलिए हमारे आर्थिक सयोजन का लक्ष्य केवल यह न हो कि हम बहुत सारी

चीजे पैदा करे ताकि लोगो की सुख-सुविधाए खूब बढे, बल्कि यह हो कि लोग अपने जीवन को अच्छा बनावे। अत. जीवन को ऐसा बनाने के लिए केवल आवश्यक चीजो का उत्पादन ही हम बढावे। आर्थिक सयोजन की जिस पद्धति मे केवल उपभोग्य वस्तुओ के उत्पादन के बढाने पर ही जोर दिया जाता है और मनुष्य के नैतिक विकास का ख्याल नही किया जाता। वह निश्चय ही समाज को अन्धे कुए मे गिरानेवाली है।

दूसरी चीज है विकेन्द्रीकरण। नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यो के साथ आर्थिक और राजनैतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण भी परम आवश्यक है। गाधीजी की दृष्टि मे विकेन्द्रीकरण स्वयं एक वैज्ञानिक आवश्यकता है, उसमे सामाजिक स्थिरता का आश्वासन है। जिस प्रकार अपने लिए घर पर ही खाना पका लेने मे कोई अनाडीपन या पिछडापन नही है, उसी प्रकार विवेकयुक्त विकेन्द्रीकरण कभी पिछडेपन की निशानी नही माना जा सकता। स्वावलम्बन व्यक्ति और समाज दोनो के जीवन मे अहिंसा को सुलभ बना देता है, जो दोनो की सुरक्षा के लिए आवश्यक है।

अहिसक अर्थात् सर्वोदयी समाज-रचना मे सारा अभिक्रम पचायतो और सहकारी समितियो जैसी समाज की छोटी-छोटी इकाइयो के हाथ मे रहना चाहिए, ताकि स्वपराक्रम और स्वावलम्बन का उन्हे अवसर मिले और वे आजादी का उत्साह अनुभव कर सके। इसीलिए तो आर्थिक और राजनैतिक इकाइयो के रूप मे पचायतो का विकास करने पर गाधीजी इतना जोर दे रहे थे। सामुदायिक विकास की प्रवृत्ति का इतने वर्षो का अनुभव भी हमे यही कहता है कि समाज का विकास पचायतो, सहकारी समितियो और पाठशालाओ की मदद से ही हो सकता है, क्योकि छोटी-छोटी इकाइयो के अन्दर मनुष्यो मे परस्पर प्रेम निकटता और विश्वास होता है। पश्चिम के विचारक भी अब इस बात को मानने लग गये है कि जहा राजनैतिक और आर्थिक सत्ता अत्यधिक केन्द्रित होती है, वहा लोक-तन्त्र का अच्छा विकास नही हो सकता। अत्यधिक केन्द्रीयकरण से मनुष्य की सृजन-शक्ति दब जाती है, स्वतन्त्रता के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जाता और अपने-आप काम करनेवाले यन्त्र की भाति वह जड बन जाता है।

प्राध्यापक हक्सले कहते है कि शहरो का जीवन मानसिक स्वास्थ्य के लिए अच्छा नही होता, न उसमे जिम्मेदारी की स्वतन्त्र वृत्ति का विकास होता है, जो कि सच्चे लोकतन्त्र के लिए बहुत आवश्यक है।" एकाधिकार वाले (टोटेलिटेरियन) देशो मे भी अब केन्द्रीकरण की बुराइयो को महसूस किया जाने लगा है, क्योकि वे देखते है कि इस पद्धति मे मनुष्य की शक्तियो का विकास नही हो पाता। ट्रॉट्स्की ने तो एक बार विनोद मे कह भी दिया था, "यह सर्वहाराओ का नही, प्रबन्धको का अधिराज्य है।" अत वहा विकेन्द्रीकरण के प्रयोग शुरू हो गये है। मार्शल टीटो ने भी युगोस्लाविया मे ऐसे प्रयोग शुरू कर दिये है, परन्तु याद रहे, विकेन्द्रीकरण भी तभी सफल होगा जब वह हेतुपूर्वक और सूझ-बूझ के साथ किया जायगा। केवल सरकारी आज्ञा से किया गया विकेन्द्रीकरण स्वाभाविक और बहुत लाभदायक नही होता। उसमे तमाम बुराइया घुस जाती है और नौकरशाही के हस्तक्षेप उसके सारे सतुलन को बिगाड देते है। तब वह केन्द्रीकरण से भी बुरा साबित होता है।

बेकारी मिटाने अर्थात् सबको रोजी देने का प्रश्न विकेन्द्रीकरण के साथ जुडा हुआ है। कहने की जरूरत नही होनी चाहिए कि कम विकसित देशो मे, खास तौर पर अत्यधिक केन्द्रित उत्पादनवाले बडे-बड़े यन्त्रोद्योगो मे बहुत अधिक आदमियो को काम मिलने की गुजाइश नही होती और घनी आबादीवाले प्रदेशो मे तो और भी नही। स्वय सयुक्त राज्य अमरीका मे लाखो आदमी बेकार है। अपने-आप काम करनेवाले यन्त्रो का प्रचार अधिकाधिक आदमियो को बेकार करता जा रहा है। अत वहा भी अब विकेन्द्रीकरण की दिशा मे लोग सोचने लगे है।

भारत जैसे कम विकसित और घनी आबादीवाले देश मे तो उद्योगो को बहुत बडे पैमाने पर सारे देश मे बगैर फैलाये हम बेकारो को रोजी दे सकेगे, यह कल्पना भी हम नही कर सकते। इसके लिए हमे सारे देश मे सहकारी पद्धति पर छोटे-छोटे गृहोद्योग और ग्रामोद्योग फैला देने होगे, क्योकि राष्ट्र का यह कर्तव्य ही है कि जो भी शरीर से काम कर सकते है उन सबको वह काम दे। बेकार आदमी केवल शरीर को नही, मनुष्य के मन, बुद्धि और चरित्र के लिए भी हानिकर है और एक कम विकसित

देश मे तो एक वेकार मनुष्य और भी बोझ वन जाता है, उस वेकार इजन के समान जो ईधन तो खाता रहता है, परन्तु जिससे कोई काम नही लिया जाता।

इस प्रकार गाधीजी का खादी और ग्रामोद्योगो का कार्यक्रम केवल सैद्धान्तिक चीज नही था, वह पूर्णत एक व्यावहारिक योजना थी, जिसमे देश के असख्य वेकारो की योही वेकार वरवाद होनेवाली शक्ति का सदुपयोग करने की योजना थी। उसमे कम पूजी मे वहुत-से आदमियो को काम देने की गुजाइश थी। रिचर्ड बी. ग्रेग ने कहा है कि पूरी और आशिक वेकारी को दूर करने की वह इतनी अच्छी योजना है कि जिसकी वरावरी ससार की कोई योजना नही कर सकती—अत्यन्त कारगर, व्याहारिक मौलिक और ऐसी, जो सब देशो के लिए उपयोगी हो सकती है।

जाहिर है कि प्रत्येक प्रदेश के वेकारो को काम देने की जिम्मेदारी केन्द्रीय अधिकारी नही उठा सकते। इस समस्या को तो खुद गावो को अपनी वुद्धि और सूझ-वूझ से और सवके सलाह-मशविरे से वही हल कर लेना चाहिए। प्रत्यक्ष उपयोग और सुविधा के सार्वजनिक काम तो गाव के अपने लाभ के लिए होते है। अत वे खुशी-खुशी इन्हे कर लेगे। परन्तु उस भाग के वाहर के लोगो को, जिन कामो से लाभ पहुचता है ऐसे काम करने मे उन्हे इतना उत्साह स्वभावत नही हो सकता। इसलिए राजनैतिक और आर्थिक सत्ता को साहस के साथ विकेन्द्रित करना वडा जरूरी है। अत. राज्य सरकारो को इस दिशा मे तेजी से कदम वढाने चाहिए।

हम एक वार और साफ तौर पर वता दे कि इस प्रकार के आशिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ यह नही है कि इसमे हम विज्ञान के आविष्कारो से लाभ नही उठा सकेगे या उठाना नही चाहते। हमारा उद्देश्य केवल उत्पादन के ढेर लगाना नही है, वल्कि वेकारी को मिटाते हुए उत्पादन वढाना है, जिससे समाज का स्वास्थ्य वना रहे और उसका विकास भी हो। कम विकसित देशो मे प्रचलित उपकरणो मे छोटे-छोटे सीधे सादे और कम खर्चीले सुधार करने से काम चल सकता है। इतने से सुधार मे भी उत्पादन मे काफी वृद्धि हो सकती है। जहा आवादी अधिक है और पूजी कम है, वहा लोगो को वेकार रखकर यन्त्रो से काम लेना कभी हितकर

नहीं हो सकता। हा, कम आवादीवाले देशो मे, जहा पूजी वहुत है, वहा भले ही यन्त्रो से काम लिया जा सकता है।

इसलिए भारत जैसे गरीव देश तो फिलहाल अपेक्षाकृत कम उत्पादक औजारो से भी काम चला ले तो वुरा नही है। इसीलिए गाधीजी वडा जोर देते थे कि हर मनुष्य अपने हाथ से परिश्रम करे और अपनी आर्थिक स्थिति सुधारे। इसमे उन्हे कभी सकोच नही मालूम हुआ। वह तो मनुष्य की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी शरीरश्रम को आवश्यक मानते थे। वह कहते थे, "भगवान ने मनुष्य को हाथ इसीलिए दिये है कि वह खुद परिश्रम करके अपनी रोटी कमावे। जो ऐसा नही करता, वह चोर है।" अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सयोजन मे भी इस सिद्धान्त को अव स्वीकार किया जा रहा है।

सवसे वडी और महत्व की वात तो यह है कि हमारे सारे सयोजन और प्रगति के प्रयासो मे मानवता की भावना प्रधान रहनी चाहिए। आचार्य विनोवा इधर वहुत समय से कह रहे है कि अव विज्ञान और यन्त्र-शास्त्र के साथ अहिसा अर्थात् मानवता का होना नितान्त जरूरी हो गया है। विज्ञान की प्रगति के कारण अहिंसा अव अनिवार्य हो गई है। विज्ञान ने मनुष्य को अव इतना शक्तिशाली वना दिया है कि देवताओ को भी उससे ईर्ष्या होगी। अव तो यदि जिन्दा रहना है तो शान्तियुक्त सहजीवन अर्थात् अहिसा के वगैर काम नही चल सकता। अव तो मानवता और आध्यात्मिकता का ख्याल किये विना यदि हम केवल भौतिक मूल्यो के पीछे ही दौडते रहे तो यह विज्ञान और यन्त्र समाज का कल्याण करने के वजाय जीवन मे विष घोल देगे और समाज को विनाश की गर्त मे पहुचा देगे। नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यो की रक्षा घनी आवादीवाले शहरो की अपेक्षा गावो की छोटी-छोटी इकाइयो मे अधिक अच्छी तरह से हो सकती है। इसीलिए तो गाधीजी चाहते थे कि भारत मे शहरो और पश्चिम के ढग के वडे-वडे उद्योगो का विकास न हो, वल्कि गावो मे पचायतो की पुन स्थापना हो, सहकारी समितिया वने, छोटे-छोटे ग्रामोद्योग वहा चले तथा सारे गाव अपनी जरूरतो के वारे मे स्वावलम्वी हो और आस-पास के गावो और पचायतो से भी उनका सम्वन्ध हो। इस प्रकार सव मिलकर

एक-दूसरे की मदद करें। यदि ये सारी सुविधाएं गांवों में ही कर दी जायंगी तो आज रोजी की तलाश में या शिक्षा तथा अन्य सुविधाओं के लिए गांवों के लोगों को जो शहरों में जाना पड़ता है, वह भी बन्द हो जायगा। गांवों का उजड़ना बन्द हो जायगा। गांवों में ये सहूलियतें यदि हो जाती हैं तो ग्रामीणों को अपना घर और परिवार नहीं छोड़ना पड़ेगा और वे स्वाभाविक मुक्त वातावरण में रह सकेंगे।

इसलिए भारत जैसे घनी आबादीवाले किन्तु कम विकसित देश के लिए बड़े-बड़े शहरोंवाली सभ्यता का विकास करने के बजाय छोटी-छोटी इकाइयों का, अर्थात् ग्रामों की सभ्यता का विकास ही अधिक लाभदायक होगा। इन गांवों में छोटे-छोटे उद्योग और कारखाने भी हों, जो उनकी जरूरतों को पूरा कर दिया करें।

उस निकेन्द्रित समाज-रचना में प्रत्येक व्यक्ति और इकाई को समाज और देश के व्यापक हितों को भी सदा ध्यान में रखना होगा। सर्वोदय अर्थात् गांधीजी के विचार की समाज-रचना में व्यक्ति और समाज दोनों को परस्पर के हितों की रक्षा-वृद्धि करनी होगी। जहां-जहां भी इनके हित टकराते नजर आवेंगे उनको शान्ति और प्रेम से ठीक कर लिया जायगा।

नारे अपने-आपसे पूछिये कि जो कदम आप उठाना चाहते है, उसका उस-
र क्या असर होगा ? उसे कुछ लाभ होगा ? अपने जीवन को सुधारने और
ऊपर उठने मे आपके कदम से उसे कुछ मदद होगी ? दूसरे शब्दो मे कहे
तो क्या उससे भूखो और आध्यात्मिक भोजन के अभाव मे जो तडप रहे
है, उनका स्वराज्य एक कदम भी नजदीक आवेगा ? तब आप देखेगे कि
आपका सारा सन्देह और मोह गायब हो गया है और आपका दिल
कहेगा—**नष्टो मोह. स्मृतिलब्धा।**